

BIBLIOTHECA INDICA :

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 1201, 1202, 1213, 1237, 1255.

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA OF THE WHITE YAJURVEDA.

WITH THE
COMMENTARY OF SAYANA CR YA
EDITED BY

ĀCHĀRYA SATYAVRATA SĀMAŚRAMĪ., F. A. S. B., (HONY.)

◦ *Lecturer and M. A. Examiner of the Vedas in the University of Calcutta. Honourary Member and Member of the Philological Committee of the Asiatic Society of Bengal. Member and Moderator of the Vedic and the Philosophical Examinations of the Board of Sanskrit Examinations, Bengal, Behar & Orissa. Editor, Author, Commentator, Annotator, Compiler, Translator. & Publisher of different Vedic Works &c. &c.*

VOL. VII. KANDA VII.

~~~~~  
CALCUTTA :

Printed by Hitavrata Chāttōpādhyāya,  
at the Satya Press, 27, Ghose Lane,

1910.



# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखीयम्

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वज्रदेशीयाख्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामथमीतिग्रन्थोनामाचार्यसत्यव्रतशर्म्मा

यथामति संशोध्य सगृहीतव्यं च सम्पादितम् ।

॥ ७ भा० । ७ का० ॥

( सप्तमोऽध्यायः, सप्तमो भागः )



कलिका-राजन्वत्याम् ,

१८६९-संवत्सरायां सत्ययन्त्रेण यत्नतो मुद्रितम् ।



## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥



अथैतस्य सप्तमकाण्डस्याभिधानं हस्तिघट मिति । कचित् पुस्तके 'हस्तिषट्'-इति च दृश्यते । त मनुस्य डा०-वेबर्-संज्ञाद्वयेन स्वकृतैतत्काण्डीयस्य भूमिकायाष्टीपण्या लिखितं हस्तिषट्शब्दबोधनम्, तद्यथा—

"The name of this kāṇḍa is rather questionable the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mādhyandina as well as the Kāṇva Cākha call it Hastighata. Is hastin=one ? hastishat=seven ?"

परं न तत्र किं अपि प्रमाणं दर्शितम्, नापि किञ्चित् फलं तादृशपाठस्य प्रकाशितम् । षष्ठे काण्डे भस्मज्वहरणान्तं सुखासम्भरणं विहितम्, विधास्यति चाष्टमे सोमयागशेषभूतं चयनव्यापारम्, इह तु सप्तमे सन्ति व्यूढनादीनि चयन-पूर्वकृत्यानि ।

'तानीमानि तैत्तिरीयकसंहितायाः पञ्चमकाण्डीय-द्वितीय-प्रपाठकस्य तृतीयाध्यायानुवाकेषु द्रष्टव्यानि, तत्तद्वाक्येषु च विक्षेपतः ।

तस्यैतस्य सप्तमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतान् मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = संवत्-१६८०-लिखितं २५-पत्रात्मकं पुस्तकं पूर्णम् ।

ख = स्वात्मपुस्तकसमकायिकम् हीनाभ्यवृत्तिपत्र मपरपुस्तकम् ।

ग = डा०-वेबर्-सम्पादितं ( ख० १८४८-मुद्रितम् ) पूर्णम् ।

घ = भाजमेर-प्रकाशितम् ( सं० १८५८-मुद्रितम् ) पूर्णम् ।

ङ = भा० स० पु०, १६८१-संवत्तिखितम्, १३३-पत्रात्मकम् पूर्णम् ।

च = भा० स० पु०, ४८-पत्रात्मकम् , सं० १८६८-लि०, पूर्णम् ।

छ = भाषायायितिकसमितितो लब्धं (ग०६०)८८-पत्रात्मकं पूर्णम् ।

ज = डा०-वेबरेणाविलुप्तपत्राणि विचित्र्य ग-पुस्तके समाहृतम् ।

एष्वष्टस्वादृशपुस्तकेषु प्रथमंचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्यस्येति  
विशेषः ॥

कालीकोठा-राजन्वती ।

सं० १६६७ । ख० १८१० ।

}

श्रीसत्यव्रतशर्मा ।

( आवसथः, सामन्तमी, आचार्यश्च । )

# शतपथब्राह्मणसप्तमकाण्डीयं- सचीपत्राणि ।

## ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                           |                |           |
|-------------------------------------------|----------------|-----------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( गार्हपत्यवेद्यन्—    | १ अ० १ ब्रा० ) | ... १ पृ० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( अथ दर्भस्तम्बमुप—  | २ अ० ३ ब्रा० ) | ... १२३.  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( आत्ममग्निं गृह्णीते— | ४ अ० १ ब्रा० ) | ... २२७   |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( कूर्मं सुपदधाति—    | ५ अ० १ ब्रा० ) | ... ३२५   |

## ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                         |                  |           |
|-----------------------------------------|------------------|-----------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( गार्हपत्यं चेद्यन्—   | १ प्र० १ ब्रा० ) | ... १ पृ० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथातो नैर्ऋतीर्—    | १ प्र० ३ ब्रा० ) | ... ७६    |
| अथ तृतीयाध्यायः ( चितो गार्हपत्यो—      | २ प्र० २ ब्रा० ) | ... १५१   |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( आत्ममग्निं गृह्णीते— | ३ प्र० १ ब्रा० ) | ... २२७   |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( कूर्मं सुपदधाति—      | ४ प्र० १ ब्रा० ) | ... ३२५   |



## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥.

| सङ्ख्या | ब्राह्मणनाम.               | प्र० ब्रा०  | अ० ब्रा० | पृष्ठे |
|---------|----------------------------|-------------|----------|--------|
| १ ...   | व्युद्गहनब्राह्मणम्.       | ... १ १ ... | १ १ ...  | १      |
| २ ...   | प्रजापतिविज्ञेयब्रा०       | ... १ २ ... | १ २ ...  | ४६     |
| ३ ...   | नैर्ऋतिब्राह्मणम्.         | ... १ ३ ... | २. १ ... | ७६     |
| ४ ...   | प्रायणीयब्राह्मणम्.        | ... १ ४ ... | २ २ ...  | ६८     |
| ५ ...   | दर्भस्तम्बब्राह्मणम्.      | ... २ १ ... | २ ३ ...  | १२३    |
| ६ ...   | उदयमन्त्रब्राह्मणम्.       | ... २ २ ... | २ ४ ...  | १३३    |
| ७ ...   | सोमब्राह्मणम्.             | ... २ ३ ... | ३ १ ...  | १५१    |
| ८ ...   | आतिथ्यब्राह्मणम्.          | ... २ ४ ... | ३ २ ...  | २००    |
| ९ ...   | अग्निगृह्यब्राह्मणम्.      | ... ३ १ ... | ४ १ ...  | २२७    |
| १० ...  | उपधानब्राह्मणम्.           | ... ३ २ ... | ४ २ ...  | २७८    |
| ११ ...  | तदेव                       | ... ४ १ ... | ५ १ ...  | ३२५    |
| १२ ...  | पशुश्रीर्षोपधानब्राह्मणम्. | ... ४ २ ... | ५ २ ...  | ३६७    |

## ॥ ऋषिनामसूची ॥

| ऋषिनाम.        | प्र. ब्रा. क. | पृष्ठे  |
|----------------|---------------|---------|
| वामकशायणः ...  | १. २. ११.     | ... ५२  |
| शाङ्खिल्यः ... | ४. २. ४२.     | ... ३८४ |

## ॥ अथ कण्विकासूची ॥

| कण्विकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं | कण्विकाप्रतीकम्.                | पृष्ठं |
|-------------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| अक्रान्तिमं पितरो लोकं ...          | २      | अथ पुरुषशीर्षं मभिक्षुहोति      | ३७५    |
| अग्ने तव अवो वय इति ...             | १५६    | अथ पुरुषशीर्षं सुहृद्भ्राता ... | ३७१    |
| अग्ने दिवो अर्थं मच्छा जिगासीति     | ८      | अथ पुष्करपर्णं सुपदधाति ...     | ३२६    |
| अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति ...       | ७      | अथ पूर्वाह्णं न दक्षिणाम् ...   | १०१    |
| अग्ने युद्धा हि ये तव ...           | ३३६    | अथ प्रायश्चित्तं निर्वपति ...   | ६८     |
| अग्नेर्भस्मास्त्यग्नेः पुरीषं मसीति | ४      | अथ यदन्तराह्वनीयं च ...         | ५३     |
| अथ मार्हपत्य एवोषा ...              | १५२    | अथ याः पञ्चोत्तराः ...          | ३८३    |
| अथ गोः। इमं साहस्रं                 | ३७८    | अथ ये एते हे यजुषी ...          | ५५     |
| अथ जघनाह्णं नोदीचीम् ...            | १००    | अथ रुक्मं सुपदधाति ...          | २३०    |
| अथ जघनेन परीत्य। उत्तरतो            | ६      | अथ रेतस्त्रिंशोऽपदधाति          | २८५    |
| अथ तेनैव पुनः परीत्य ...            | १०     | अथ त्रिंशोऽपदधाति ...           | २८८    |
| अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्त्तस्व         | १५६    | अथ लोकम्पृष्ठा सुपदधाति ...     | ११     |
| अथ दक्षिणतो गाम् ...                | ३७३    | अथ लोकेष्टका उपदधाति ...        | १५४    |
| अथ दक्षिणतोऽजम् ...                 | ३७४    | अथ विन्ध्योतिषं सुपदधाति        | २८७    |
| अथ दर्भस्तम्बं सुपदधाति ...         | १२३    | अथ सत्यं साम गायति ...          | २२८    |
| अथ दूर्वाष्टकां सुपदधाति ...        | २८१    | अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे ...    | २३६    |
| अथ द्वियजुषं सुपदधाति ...           | २८३    | अथ सर्वावधं वपति। एतद्दे        | १३५    |
| अथ पञ्चात्। अग्ने यत्ते ...         | १५७    | अथ साम गायति। एतद्दे            | २३५    |
| अथ पुरीषं निर्वपति ...              | १२     | अथ सिक्ता निर्वपति ...          | ४      |
| अथ पुरुषं सुपदधाति ...              | २३२    | अथ सूचा उपदधाति ...             | २४१    |

| कठिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठ |
|---------------------------------------|-------|
| अथाजस्य । अजो जस्य ... ३८०            |       |
| अथातः सम्पदेव । एकविंशति-             |       |
| रिष्टका नव यजूंषि ... ५४              |       |
| अथातः सम्पदेव । चतस्रो ... १६६        |       |
| अथातोऽधिरोहणस्यैव ... २०६             |       |
| अथातो निरुक्तानिरुक्ताणां मेव १३६     |       |
| अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति ... ७६          |       |
| अथात्मानं विव्रयति ... १०२            |       |
| अथान्तरेणोदचमसं निनयति ८१             |       |
| अथावेः । इमं मूर्णायु- ... ३७६        |       |
| अथान्वयं शुक्लं पुरस्तात्प्रयन्ति २०३ |       |
| अथान्वस्य । इमं मा हिंसी- ३७८         |       |
| अथावाढा उपदधाति ... २८६               |       |
| अथासन्दीयं शिक्वयं ... ८०             |       |
| अथास्यां सिकता आवपति १३               |       |
| अथास्यां पय आनयति ... १४              |       |
| अथाहवनीयऽएव पुष्करपर्णं १५३           |       |
| अथाहवनीयऽएवाप्यानवनीभ्यां १५४         |       |
| अथाहामिभ्यः प्रद्वियमाणेभ्यः २०१      |       |
| अथैतं साये भूतेऽयं ... २०६            |       |
| अथैते द्वे यजुषी ... ५५               |       |
| अथैनं विव्रयति ... ६६                 |       |
| अथैनं मतश्चिनोति ... ६                |       |
| अथैनं मभिजुहोति ... १२४               |       |
| अथैनं उपविश्यामभिजुहोति ... २३८       |       |

| कठिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|
| अथैनं मेजयति ... ३२८                |       |
| अथैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति ४      |       |
| अथैनं प्रसलवावर्त्तयति ... ३३७      |       |
| अथेना आप्यानवनीभ्यां ... १६५        |       |
| अथेनां विसृजति । अप्रदाहाय १४       |       |
| अथेनान् विसृजति । आप्यानां तं १०३   |       |
| अथेना उपदधाति ... ३७१               |       |
| अथेना मभिजुहोति ... ३३५             |       |
| अथेनौ सन्निवपति ... १३              |       |
| अथेयु हिरण्यशकलान् ... ३६६          |       |
| अथोक्ता उपदधाति ... ३३४             |       |
| अथोत्तरतः । इयं मूर्जं महं १५७      |       |
| अथोत्तरतोऽविम् । वरुणी ... ३७४      |       |
| अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य ... ३७२    |       |
| अथोत्तरं मर्द्दयन् मनुदुत्य ... ३७६ |       |
| अथोत्तरवेदिं निवपति ... १५६         |       |
| अथोत्तराम् । अयं ते योनिः ... ६     |       |
| अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् ... १०१    |       |
| अथोत्तरार्धेन उपतिष्ठते ... ३७६     |       |
| अथोदचमसान्नयति ... १३३              |       |
| अथोपश्रयां पिष्ट्वा ... २३४         |       |
| अथोलूखलसुसथेऽउपदधाति ३२६            |       |
| अथोषान्निवपति । अयं वै ... ३        |       |
| अथौदुम्बरी सुत्तरत उपदधाति ।        |       |
| इन्द्रस्य त्वीजसा ... २४२           |       |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ |
|---------------------------------------|-------|
| अथौदुम्बरी सुत्तरत उपदधाति            |       |
| ऊर्ध्वे रस उदुम्बर ... २४१            |       |
| अदादमोऽवसानं पृथिव्या ... २           |       |
| अपां गन्धनृत्नीदेति । एतद्व्यापां ३२७ |       |
| अपां त्वा क्षये सादयामीति ३८६         |       |
| अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति ३८५      |       |
| अपां त्वा पाथसि सादयामीति ३८७         |       |
| अपां त्वा पुरीषे सादयामीति ३८७        |       |
| अपां त्वा भस्मनसादयामीति ३८५          |       |
| अपां त्वायने सादयामीति ... ३८५        |       |
| अपां त्वा योनौ सादयामीति ३८७          |       |
| अपां त्वा सद्ने सादयामीति ३८६         |       |
| अपां त्वा सधस्थे सादयामीति ३८७        |       |
| अपां त्वा सधिवि सादयामीति ३८६         |       |
| अपां, त्वेमनृत्सादयामीति ... ३८४      |       |
| अपां त्वोद्गमसादयामीति ... ३८५        |       |
| अपाम्यृष्ट मसि योनिरपे ... २३०        |       |
| अपेत वीत वि च सर्पतात इति १           |       |
| अयस् सोऽग्निः । यस्मिन्सोमं ७         |       |
| ऊर्ध्वे त्वा सद्ने सादयामीति ३८५      |       |
| ऊर्ध्वं चाविं चोत्तरत । एतस्यां ३७१   |       |
| अथात्तासि सहमानेति ... २६१            |       |
| अष्टाविष्टका उपदधाति ... ११           |       |
| असुन्वन्त मयजमान मिच्छेति ७८          |       |
| अस्थौनि वै परिश्रितः ... ५            |       |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठ |
|------------------------------------|-------|
| आग्नेयीरन्वाह ... २०३              |       |
| आग्नेयं जुहोति ... २३६             |       |
| आत्मन्नपिं यज्जीते चेत्थन् ... २२७ |       |
| आप्यागवतीभ्या मभिन्द्य ... २००     |       |
| आप्यायस्व समेतु ते ... १६६         |       |
| आरुह्यापिं जघनेन स्वयमाट्स्यां ३८२ |       |
| इरण्यमग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः १६१   |       |
| इषे'राये रमस्व ... ३३५             |       |
| इष्कर्तार मङ्गरस्य प्रचेतसं १६१    |       |
| उत्तान उपदधाति ... २३३             |       |
| उदचमसा भवन्ति ... १३६              |       |
| उदरसुखा । योनिरुलूखलम् ३३७         |       |
| ऊर्जिं गृहीतायाम् ... ३३१          |       |
| ऊर्ज्जोर्नपाज्जातवेदः ... १६०      |       |
| अथे त्वेतीह । प्राणो वा ... ३७०    |       |
| अतावान मिति ... १६२                |       |
| एकविंशतिर्वैव परिश्रितः ।          |       |
| यजुर्द्विविंशं ... ५४              |       |
| एकविंशतिर्वैव परिश्रितः ।          |       |
| दादृश मामा. पञ्च ... १५            |       |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                 | पृष्ठं |
|----------------------------------|--------|
| एतयोऽभयोरगृहीतयोः ...            | ३३१    |
| अौदम्बरं भवति । ऊर्ध्वं ...      | ६८     |
| अौदम्बरे भवतः । ऊर्ध्वं ...      | ३३०    |
| काष्ठात् काष्ठात् प्ररोहन्ती     | ३८२    |
| काष्ठयर्मयौ दक्षिणत उप- ...      | ३४०    |
| कूर्मं मुपदधाति । ...            | ३३५    |
| गां चार्जं च दक्षिणत ...         | ३७२    |
| गायत्रेण त्वा कृन्दसा सादयामि    | ३८७    |
| गार्हपत्यं चेष्ट्यन् प्रलाश- ... | १      |
| चतस्रः सीता यजुषा ह्यवति ।       |        |
| तद्य इमे श्रौर्ध्वस्त्वारी ...   | १०३    |
| चतस्रः सीता यजुषा ह्यवति ।       |        |
| तद्यच्चतस्रसु ...                | १०२    |
| चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये       | १३     |
| चित् स्थिति । चिनीति ह्येनाः     | ५      |
| चितो गार्हपत्यो भवति ...         | १५१    |
| चित् देवाना मुदमादनीकं           | ३७६    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।      |        |
| तदस्मिन्नेतत् सर्वं ...          | ३३३    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।      |        |
| तदस्मिन्नेतत् प्राणं ...         | २८२    |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठं |
|------------------------------------|--------|
| तश्च रक्ताऽउपदधाति । असौ           | २३३    |
| तं वाऽउपास्त्रमय मादित्यस्य        | २०७    |
| तं वाऽएतम् । अत्र पक्षपुच्छ-       | ६      |
| तं वाऽएतम् । इत ऊर्ध्वं प्राचं     | ३३७    |
| तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम्     | ७      |
| तश्च ह्येके त्रिचितं चिन्वन्ति ... | ५४     |
| तऽएतत् सत्यश्चाम पुरस्ताद्         | २२८    |
| तऽएतानि सधर्नामान्यपश्यन्          | २३६    |
| तऽएते पश्यवः । तान्नागोप-          | ३७५    |
| तऽएते सर्वे प्राणा यद्व्याज        | २६०    |
| तत् प्रादेशमात्रं भवति ...         | ३३२    |
| तथैवेतद्यजमानः । आत्मानं           | ७७     |
| तथैवेतद्यजमानः । यत् सत्यश्च       | २२८    |
| तदग्नेः गार्हपत्यम् ...            | २००    |
| तदाहुः । कथं मस्येता अहो-          |        |
| रात्राम्या सुप्रहिता ...           | १६३    |
| तदाहुः । कथं मस्येता अहो-          |        |
| रात्रैः सम्पन्ना अग्नूना ...       | १६३    |
| तदाहुः । कथं मस्येतावात्मानौ       | २८४    |
| तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षाः       | १५८    |
| तदाहुः । कथं मस्येताः प्रथङ्       | १६३    |
| तदाहुः । कथं मस्येताः सर्वे        | १६४    |
| तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षा        | ३३४    |
| तदाहुः । कथं मेष पुरुषः ...        | २८१    |
| तदाहुः । कक्षादभिख्यमादस्य         | २६१    |

कण्डिकाप्रतीकम्.

पृष्ठे

तदाहुः । कैतासा मसञ्जातानां १६४  
 तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य ... २४४  
 तदाहुः । यत् प्रजा विश्वव्योतिः २६१  
 तदाहुः । यत् प्रथमा मेव ... २०१  
 तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्यो ५६  
 तदाहुः । यदखावेव ... २८२  
 तदाहुः । यदार्द्रं रेतः ... १६२  
 तदाहुः । यदिमा आप एतानि ३८३  
 तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो १५३  
 तदाहुः । यन्नेतः सिकता ... १६२  
 तदाहुः । यां वै तत् प्रजा ... ३८१  
 तदेतदन्नं खट्वा । पुरस्तात् ३६६  
 तदेष ओकोऽभ्युक्तः । तद्दे ... ३३१  
 तदेषा वै सा प्रतिष्ठा । यां ... ५१  
 तद्दे के । उभयत्रैव अलाभ ... १५२  
 तद्दे के न्वाहुः । पुरीषासो २०२  
 तद्दे केऽपि । यद्येकः ... ३७०  
 तद्दे के । यं य मेव पशु सुप० ३७६  
 तद्यत् तत् सत्यम् । आप ... २२६  
 तद्यदग्निंश्च इति । बहवो ... २०२  
 तद्यदेते ऽञ्चोपदधाति ... २८८  
 तद्याः पञ्चदशपूर्वाः । ता अपस्या ३८२  
 तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा  
 ०—० नु अस्मात् ते ... २६८  
 तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा

कण्डिकाप्रतीकम्.

पृष्ठे

०—० नु तत् तमः ... ७६  
 तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा  
 ०—० नु तानि ... २०२  
 तद्दे योनिः परिश्रितः । उख- ६  
 तं देवा अप्यौ प्रावृज्जन् ... ५०  
 त मभ्यनक्ति । दद्या मधुना ... ३२६  
 त मुत्तरार्द्धे नाम्नेः अन्तरेण २०४  
 तं पुष्करपर्णं ऽउपदधाति ... २३१  
 तं प्रत्यक्षं यन्तम् । एतां ... २०४  
 तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः ५२  
 तस्य यदधरं कपालम् अयम् ३२५  
 तस्य शिर एवाहवनीयः । अथ ५३  
 तस्याय मेव लोकः प्रतिष्ठा ५०  
 तां वै प्रजापतिनोपदधाति ... २७६  
 ता उत्तरवेदौ निवपति । योनि १५६  
 ता उभय एकविंशतिः सम्पद्यन्ते १२  
 ता उभयः षोडश सम्पद्यन्ते १०२  
 ता एता अङ्गुलयः ... ३८८  
 ता एता एकयाख्यानाः ... १३६  
 ता एता दिशः । ताः सर्वत- १५८  
 ता एता यजुश्च इष्टकाः ... १६५  
 ता एता यजुश्च इष्टकाः ... १५८  
 ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति १५३  
 तां न रिक्ता मवेक्षेत नेदिक्ता १३  
 तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति ३६८

| कण्डिकाप्रतीकम्.                                    | पृष्ठं |
|-----------------------------------------------------|--------|
| तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि ३३१                  |        |
| ताभिरेतां दिशं यन्ति ... ७८                         |        |
| ता मयौ प्रवृण्यन्ति । यथैवेनं ... ५१                |        |
| तावन्नीवत् । उप मेतं ... २४१                        |        |
| तावस्येताविन्नामी ऽएव बाहू २४३                      |        |
| ता वा ऽएतास्त्रिसोऽनुष्टुभः ५५                      |        |
| ता वै सायं प्रातरादधाति ... ५२                      |        |
| ता हेके परस्तादवीचीरुपदधाति ८०                      |        |
| तिष्ठभिः कृष्टे चाकृष्टे च वपति ।                   |        |
| ०—० एतदन्नं दधाति ... १३६                           |        |
| तिष्ठभिः कृष्टे चाकृष्टे च वपति ।                   |        |
| ०—० एतद् भिषज्यति १३८                               |        |
| तिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः १३८ |        |
| ०—० एतदन्नं दधाति १३६                               |        |
| तिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः कृष्टिष्ठभिः १३६ |        |
| ०—० एतद् भिषज्यति १३७                               |        |
| तिस्र इष्टका उपदधाति । निवृद्ध ८०                   |        |
| तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी ८१                     |        |
| तिस्रस्त्रिसः सीताः कृषति १०२                       |        |
| तेऽभि मज्जवन् । न वा ऽइतोऽन्या ४६                   |        |
| ते चेतयमानाः । एतत् सामा २३५                        |        |
| ते चेतयमानाः । एता इष्टका ७६                        |        |
| ते देवा अज्जवन् । न वा ऽइतोऽन्या ४६                 |        |
| तेऽज्जवन् । अन्नं वा ऽअन्नं प्रजापतिः ४६            |        |
| तेऽज्जवन् । उप तज्जानीत                             |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठं |
|--------------------------------------|--------|
| यथास्मिन् पुरुषे ... २३५             |        |
| तेऽज्जवन् । उपतज्जानीत यदेदं         |        |
| तमः पाप्मान- ... ७६                  |        |
| ते रेतस्त्रिषोर्वेनयोपदधाति ३२६      |        |
| ते हेके तिरश्चा ऽउपदधाति २४३         |        |
| त्रयोदशैता आहृतयो भवन्ति १२६         |        |
| त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे खेफा २३८ |        |
| त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे ३२६        |        |
| त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति ।    |        |
| ०—० अपो दधाति ... १३५                |        |
| त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति ।    |        |
| ०—० वृष्टिं दधाति ... १३४            |        |
| त्रीन्सीतुदश्मसाग्निनयति ।           |        |
| ०—० अपो दधाति ... १३४                |        |
| त्रीन्सीतुदश्मसाग्निनयति ।           |        |
| ०—० वृष्टिं दधाति ... १३३            |        |
| त्वं यविष्ठ दाशुष इति ।              |        |
| यजमानो ... ३८२                       |        |
| त्रयश्चकृन् वृषिषी मनु ... २३४       |        |
| दादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे वपति ।         |        |
| ०—० एतदन्नं दधाति ... १३६            |        |
| दादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे वपति ।         |        |
| ०—० एतद् भिषज्यति १३७                |        |
| दादशसीतास्तूष्णीं कृषति १०२          |        |

कडिकाप्रतीकम्.

एष्टे

दादशोदचमसान् लब्धे निनयति ।

०-२० अपो दधाति ... १३४

दादशोदचमसान् लब्धे निनयति ।

०-० दृष्टिं दधाति ... १३३

दाभ्या सुपदधाति । द्विपादज- २३

शुं वासि धरयेति । तस्योक्तो बन्धुः ३३

नमः सु ते निर्ऋते तिमन्तेज इति ७६

नमोऽस्तु सर्पभ्यो ये के च ... २३७

नानोपदधाति । ये नानाकामा ६५

निवेशनः सङ्गमनो वस्तुना मिति ८२

नोपसृशति । पाप्मा वै निर्ऋतिः ८०

पञ्चदशोदचमसाम्निनयति ।

पञ्चदशभिर्ऋग्भिर् ... १३८

पञ्चदशोदचमसाम्निनयति ।

पञ्चदशो वै वक्षः ... १३५

पयसि पुरुष सुपदधाति ... ३७२

पलाशं शाखया व्यूहति ... २

पशुरेव यदग्निः । सोऽन्नैव ... ३३६

पशुशीर्षाण्युपदधाति पशवो ३६७

पञ्चादमेः प्राज्ञासौन. ... २४०

पादमात्रो भवन्ति । अधस्यदं ७७

पावकवर्षाः शुक्लवर्षा इति ... १६०

कडिकाप्रतीकम्.

एष्टे

पुरीषासोऽवगमय इति ... ८

पुरुषस्य प्रथमं सुसृजति ... ३७७

प्रजापतिः प्रजा व्यसृजत ... ४६

प्रजापतिरेवोऽग्निः । उभयं ... १३६

प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०-०

समुद्रस्येमन्निवर्षां ह्रीमं २७६

प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०-०

एष्टिवा ज्योतिष्मती मिति २८७

प्रैवेत्य प्रायणीयेन प्रचरति ... ६८

प्रैवेत्यामि सुपतिष्ठते । एतद्वा

०-० सामिचित एतां ... ८२

प्रैवेत्यामि सुपतिष्ठते । एतद्वा ०-०

सामिचिते वह्निर्वेदेति ... ३८१

प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेश- ३३०

प्राणो गृहीतेऽस्मादन्नसुदचिक्र- ३३१

वह्निर्वेदिरियं वै वेदिः । आप्ता १५५

वह्निर्वेदिरियं वै वेदिः । आप्तो १५५

वाहूऽवस्येते । ते नानोपदधाति १०

वाह्येनामि माह्वरति । आप्ता १५४

वाह्येनामि माह्वरति । आप्तो वा १५५

वाह्येनैवामि सुसृजेत् । इमे ... ३७७

वज्रज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति २३२

भूरसीति । भूर्होयं भूमिरसीति २८०



| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| मधुवाता ऋतायत इति ...               | ३२६    | यद्देव यतिव्रजति । ०—० प्राणः १५२   |        |
| मह्यौ द्यौः पृथिवी च न इति          | ३२८    | यद्देव यतिव्रजति । ०—० रसः १५२      |        |
| मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्मिति      | १४     | यद्देव सर्वनामैरुपतिष्ठत ...        | २३७    |
| मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति ...         | ३७०    | यद्देव सर्वौघघ्नं वपति । एतद्वा     | १३७    |
|                                     |        | यद्देव सिकता निवपति । अस्मै         | ४      |
| यद्देवस्याः पञ्चपुरस्तादुपदधाति     | २६०    | यद्देव सिकता निवपति । प्रजा-        | १६४    |
| यद्देव कूर्मं सुपदधाति । प्राणो     | ३२७    | यद्देव सुचा उपदधाति ....            | २४१    |
| यद्देव चित्ते गार्हपत्ये ०—० प्राणः | १५१    | यद्देव स्वयमावृष्ट्या सुपदधाति ।    |        |
| यद्देव । चित्ते गार्हपत्ये ०—० रसः  | १५१    | प्रजापतिं ... ..                    | २७८    |
| यद्देव । दर्भस्तम्ब सुपदधाति        | १२३    | यद्देव स्वयमावृष्ट्या सुपदधाति ।    |        |
| यद्देव । दूर्वैश्चका सुपदधाति       | २८१    | प्राणो वै ... ..                    | २७८    |
| यद्देव पशुश्रीर्षाण्युपदधाति ।      |        | यद्देवात्मानं विव्रजति । य एवे-     | १०३    |
| प्रजापतिर्वा ... ..                 | ३६८    | यद्देवेवापस्या उपदधाति ...          | ३८४    |
| यद्देव पशुश्रीर्षाण्युपदधाति ।      |        | यद्देवेवावप्रापयति । अग्निर्देवेभ्य | २०५    |
| या वै ताः ... ..                    | ३६७    | यद्देवेवावप्रापयति । असौ वा         | २०५    |
| यद्देव पुरुष सुपदधाति ...           | २३३    | यद्देवेवाघाता सुपदधाति । वाग्वा     | २८६    |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपदधाति ।         |        | यद्देवेता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजा-  | ७७     |
| इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ...         | २३१    | यद्देवेते अत्रोपदधाति ...           | २८८    |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपदधाति ।         |        | यद्देवेनं विव्रजति । एतद्वा ...     | १०३    |
| प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं         | २६१    | यद्देवेन मभि जुहोति । श्रीर्षं      | ३७५    |
| यद्देव पुष्करपर्ण सुपदधाति          | २२६    | यद्देवेन मभिजुहोति । एतद् वै        |        |
| यद्देव प्रोक्षति । हविर्वा एतत्     | २०१    | देवा अविभ्युः ... ..                | १२५    |
| यद्देव रेतस्त्रिचा उपदधाति          | २८६    | यद्देवेन मभिजुहोति । एतद् वै        |        |
| यद्देव लोणेशका उपदधाति              | १५५    | देवा एतमात्मानं ...                 | २३८    |
| यद्देव विश्वज्योतिष सुपदधाति        | २८७    |                                     |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                       | एष्ट | कण्डिकाप्रतीकम्.                     | एष्ट |
|----------------------------------------|------|--------------------------------------|------|
| यद्देवेवै मभिलुहोति । एतद् वै          |      | विश्वस्मै प्राणायामाय ।              |      |
| यत्नैतं प्राणाः ... १२४                |      | यानायोदानायेति ... २८०               |      |
| यद्देवेन मभिलुहोति । एतद् वै           |      | विष्णोः कर्माणि पश्यतेति ३३३         |      |
| यान्येतस्मिन्नग्नौ ... १२५             |      | याममात्री भवति । याममात्री १३        |      |
| यद्देवेनं परिस्मिद्धिः परिश्रयति ४     |      |                                      |      |
| यद्देवोखा मुपदधाति । यो वै स ३३४       |      | शतं वो ऽव्यम् धामानि १३८             |      |
| यद्देवोखायाम् । योनिर्वा ... ३३७       |      |                                      |      |
| यद्देवोदचमसान्नवति । एतद् १३४          |      | स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः ... १६२      |      |
| यद्देवोपतिष्ठते । अयं वै लोको ८२       |      | स काश्चर्यमयीं दक्षिणतः ... २४२      |      |
| यद्देवोलूखलमुखले ऽउपदधाति ३३०          |      | सकथ्यावस्थैते । ते नानोपदधाति १०     |      |
| यद्देवोषान्नवति । प्रजापतिः ३          |      | स गच्छति । मयि गच्छान्यग्ने २२७      |      |
| यस्यास्ती घोर ऽआसन् जुहोमीति ७         |      | स चतस्रः पूर्वा उपदधाति आत्मा ७      |      |
| या इषवो यातुधानाना मिति २३७            |      | स चतस्रः प्राचीरुपदधाति ६            |      |
| या ओषधीः पूर्वा जाताः ... १३८          |      | सजूरब्द इति चितिः ... १२५            |      |
| या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेण २८२         |      | सज्ज्ञान मसीति । समजानत ३            |      |
| यास्ते ऽअग्ने स्वर्ये रुचा ... २८५     |      | स दक्षिण मेवाग्ने युनक्ति । अथ ६६    |      |
| युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं ६६         |      | स दक्षिणाद्वेनाग्नेः । अन्तरेण १००   |      |
| ये वामी रोचने दिवो ... २३७             |      | स पुरस्तादाहरति ... १५५              |      |
| राजानं क्रीत्वा पर्युच्छ । अथास्मा १५२ |      | सप्त प्रवस्यति । सप्त वै शीर्षन् ३६८ |      |
| विपरिक्राम मु ह्यैक ऽउपतिष्ठन्ते ३७७   |      | समुद्वेत्वा सद्ने सादयामीति ३८५      |      |
| विराड् व्योतिरधारयदिति २८५             |      | स यः स क्रुर्मोऽसौ स आदित्यः ३२७     |      |
| विश्वस्मै प्राणायामाय ।                |      | स यः स प्रजापतिर्यज्ञसत् ।           |      |
| यानायेति प्राणी वै ... २८८             |      | ०—० अथ या अस्मात् ता ३८४             |      |
|                                        |      | स यः स प्रजापतिर्यज्ञसत् ०—०         |      |
|                                        |      | अथ या सा प्रतिष्ठे वा २७६            |      |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | प्र० | कण्डिकाप्रतीकम्.                    | प्र० |
|-------------------------------------|------|-------------------------------------|------|
| स यः स प्रजापतिर्यस्य सत ।          |      | स शुक्लः स्यात् । तदध्येतस्य        | १०६  |
| ०—० तददेवास्त्रा ... ५१             |      | स होवाच । यस्मान्न ...              | २०५  |
| स यत् कूर्मो नाम । एतद् ... ३६२     |      | सा यदष्टाष्टा नाम । देवाश्चा०       | २८६  |
| स यदमू मेवोपदध्यात् ... २८४         |      | सौतासमर । वाग्वै सौतासमरः १२४       |      |
| स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । ३३६      |      | स्यं वामभृत् । प्राणा वै ... २६०    |      |
| स यस्मानुपदध्यात् । न हेतं ... २८४  |      | सैषा त्रैधा विहिता । वागनुष्टुप् ५६ |      |
| स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उदक्रा- ५० |      | सैषा वृहत्त्वैव । ये वै वै ... ५६   |      |
| सरित्वा सद्ने सादयामीति ३८६         |      | सोऽग्निर्होश्चिन्ता ५ ओणिम् ... ६८  |      |
| सर्वोषधं भवति । सर्वं मेतद् १३७     |      | सोऽज्रवीत् । अयं वाव मा धूर्वी २८२  |      |
| सर्वोषधं भवति । सर्वं मेव १३५       |      | सोऽज्रवीत् । अयं वाव मा             |      |
| स वै आत्मानं मेव विलसति १००         |      | सर्वस्मात् ३३२                      |      |
| स वै कृष्टे निनयति । तस्मात् १३३    |      | स्फोणाहरति । वक्त्रो वैस्फोणा १५५   |      |
| स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु १३४   |      | खयमाहृष्टा मुपदधाति ... २७८         |      |
| स वै कृष्टे वपति । तस्मात् ... १३६  |      | हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रै ... २३४  |      |
| स वै कृष्टे वपति । प्राणान् ... १३७ |      |                                     |      |

## ॥ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥

अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्, २का०, ४प्र०, १४ब्रा०,  
अग्निर्वै महिषः, २, ३, २३.

अग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं सर्वं यतम्. १. ३. १०.

अग्नेरेतद् वैज्ञानरस्य भस्म, यत् सिकता. १. १. ८.

अग्नेरेतद् वैज्ञानरस्य रेतो यत् सिकता. १. १. १०.

अन्तरिक्षं वा अपां सधस्त्वम्. ४. २. ५७.

अद् वा अपां पाथः. ४. २. ६०.

अन्नजीवनं ह्रीदं सर्वम्. ४. १. २०.

अभ्रं वा अपां भस्म. ४. २. ४८.

अमृतं हिरण्यं ममृतं मग्निः. ३. १. १५.

अश्वं चाविं चोत्तरतः । एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति ;

तस्मादेतस्यां दिश्येती पशू भूयिष्ठौ. ४. २. १५.

आग्नेयं वै घृतम्. ३. १. ४१.

आत्मन्नग्निं गृह्णीत. २. ४. १७.

आकाशोवाग्रे सम्भवतः सम्भवति. १. १. २१.

आपो वै पुष्करं तासा मिथं पर्णम्. ३. १. ८.

इमे वै लांकाः सर्पाः, ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च,

३. १. २५.

इयं वा अपा मयनम्. ४. २. ५०.

जम्ब्वं रस उदुम्बरः. ३. १. ३८.

ऋतवो वै विश्वेदेवाः. १. १. ४३.

एतद्वै रूपं (कूर्मरूपं) कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत , यदसृजत-  
करोत् , तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः. ४. १. ५.

एष उमे पृणक्ति ,—धूमेनामूं वृष्ट्ये माम्. २. ३. ३०.

एषा वै नैर्ऋतोर्दिङ् , नैर्ऋत्या मेव हि तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति  
स यत्र स्वकृतं वेरिणं खभ्रप्रदरो वा स्यात् , तदेना उप-  
दध्याद् । यत्र वा अस्या अवदीर्यते , यत्र वास्या ओषधयो  
न जायन्ते , निर्ऋतिर्हास्यै तद् गृह्णाति. १. ३. ८.

ओषधयो वा अपा मोक्ष. ४. २. ४७.

सत्रं वै यमः. १. १. ३.

कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति. ४. १. ३.  
किम्पुरुषो वै मयुः ०—० गौर मारण्यम् ०—० गवय मारण्यम्  
०—० उष्ट्र मारण्यम् ०—० शरभ मारण्यम् ०—० त एत  
उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अवघ्नियास्तेषां ब्राह्मणो नाग्नीयात्.

४. २. ३२—३७.

कौतासा मसङ्गतातानां सङ्गति ? हे इति ब्रूयात् ; हे हि सिकते,  
शुक्रा च कृष्णा च. २. ३. ४२.

को हि तद् वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः. १. ४. २.

गच्छाविच्च दक्षिणतः । एतस्यां तद्दिश्येती पशु दधाति ; तस्मा-  
देतस्यां दिश्येती पशु भृयिष्ठौ. ४. २. १६.

या मविं प्रफर्यच्च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मिलेतच्च सर्वे सीतो-  
दपति. १. ४. ११.

चक्षुर्वा अपां क्षयः. ४. २. ५४.

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः. ३. १. १५.

तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेता इति. ४. १. ८.

तेषां मेक मम मुहरेत् तस्य नाश्रीयाद्यावज्जीवम्. २. २. १४.

त्रीन्समुद्रान्समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः.

४. १. ८.

द्यौर्वा अपां सदनम्. ४. २. ५६.

द्राघीयो हि देवायुषं ऋसीयो मनुष्यायुषम्. २. ३. १०.

द्वाभ्यां युनक्ति ०—० षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा. १. ४. ६.

है वै योनी इति ब्रूयाद्, देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः.

३. २. ४०.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते.

३. १. २.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्त्रीसरः कुक्षिरन्नततरो

भवति. ४. १. ३८.

गुरुषस्त्रयम मुक्त्वृजति ०—० द्विपादा एष पशुर्यत् पुरुषः.

४. २. ३२.

प्रजापतिर्वा इद मय आसीदेक एष, सोऽकामयतानं सृजेय प्रजा-

येयेति स प्राणिभ्य एवाधि पशून् निरमिमीत. ४. २. ६.

प्रजापतिर्विश्वकर्मा. १. १. ४३.

प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्यशीयन्त , ता इमाः ( दूर्वाः )

ओषधयोऽभवन् . २. २. ११.

प्राचीप्रजनना वै देवाः , प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः . ३. २. ४०.

प्राणो वा अर्णवः . ४. २. ५१.

ब्रह्म जघ्नानं प्रथमं पुरस्तादिति . ३. १. १४.

ब्रह्म वै पलाशः . १. १. ५.

ब्रह्म वै मन्त्रः . १. १. ५.

मनुष्या वा आपश्चन्द्राः . २. ३. २०.

मनो वै समुद्रः . ४. २. ५२.

य एवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति . ३. १. २८.

यदिमा आप एतानि मांसानि ०—० अन्नं वाव पशोस्त्वक् ,

अन्नं लोम . ४. २. ४३.

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेति . २. २. २४.

ये विद्वांसस्ते कवयः , ते सौरश्च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते .

१. ४. ४.

येन रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत् , तेन रूपेण नत्

कर्म कृत्वाऽन्नादोऽसानीति . ४. १. १२.

रसो वै कूर्मः ०—० यो वै स एषां लोकाना मसु प्रविद्वाणां

पराङ् रसोऽत्यक्षरत् , स एष कूर्मः . ४. १. १.

रसो वै दधि . ३. १. १८.

वृक्षो वा अपाज्यम्. ३. १. ३४.

वांयुर्वा अपा मेम. ४. २. ४६.

विद्युद्वा अपां ज्योतिः. ४. २. ४८.

विशः पितरः १. १. १.

शिरो वै प्राणानां योनिः. ४. १. २२.

श्रोत्रं वा अपां सुधिः. ४. २. ५८.

सत्यं साम गायति. २. ४. १७; ३. १. ३.

समुद्रो वा अपां योनिः. ४. २. ५८.

समुद्रो हीमा मभितः पिबते. ३. १. ८.

स धः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः. ४. १. ६.

सर्वेषां मु. हैष देवानां माता यदग्निः. ३. १. २५.

सह हैवेमावप्रे लोकावासतुः, तयोर्वियतोऽर्यान्तरिणाकाश आसीत्.

तदन्तरिक्षं मभवत्. १. २. २३.

सिकता वा अपाम्युरीषम्. ४. २. ५८.

सोऽब्रवीत्— अयं वाव मा धूर्वीदिति, यदब्रवीदधूर्वीमेति

तस्माद् धूर्वा ; धूर्वा इ वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्. ३. २. १२.

हिरण्यं इ वै तद्विरण्यं मित्याचक्षते. ३. १. १६.



## ॥ अथ विषयसूची ॥

|                                                                     |     |     |           |     |     |
|---------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----------|-----|-----|
| अभिचयनारम्भः                                                        | ... | ... | १. १. १.  | ... | १५  |
| अजशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यानादि.                                  | ... | ... | ४. २. २१. | ... | ४०२ |
| अजस्य शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                   | ... | ... | ४. २. ३६. | ... | ४१० |
| अनङ्गुष्मोचनमन्त्रतद्याख्याने.                                      | ... | ... | १. ४. ११. | ... | १२१ |
| अनुद्दिष्टानां मयुप्रभृतीनां पशूनां ब्राह्मणा-<br>भक्ष्यतानिरूपणम्. | ... | ... | ४. २. ३७. | ... | ४११ |
| अनुमन्त्रणाभिमन्त्रणलक्षणे ( भाष्ये )                               | ... | ... | १. ४. ४.  | ... | १०७ |
| अनुष्टुप्सम्पद्वर्णनम्.                                             | ... | ... | १. २. १६. | ... | ६७  |
| अपस्थाना मङ्गुल्यात्मकत्वसमान्त्रानम्.                              | ... | ... | ४. २. ६२. | ... | ४२२ |
| अपस्थानां पञ्चदशैकानासुपधानसूचनानादि.                               | ... | ... | ४. २. ४०. | ... | ४१४ |
| अपस्थैकानां मन्त्रास्तद्याख्यानादिकञ्च.                             | ... | ... | ४. २. ४६. | ... | ४१८ |
| अभिमर्शनमन्त्रद्वयविधियाख्यानादि.                                   | ... | ... | २. ३. ४६. | ... | १६८ |
| अभिमर्शनस्थ सूददोहसाधिवदनात्मत्ववर्णनम्.                            | ... | ... | २. ३. ४५. | ... | १६८ |
| अभिहोममन्त्रावयवानां व्याहृतिरूपत्वम्.                              | ... | ... | २. १. ६.  | ... | १३१ |
| अमन्त्रकं कर्षणविध्यादि.                                            | ... | ... | १. ४. १४. | ... | ११७ |
| अविशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                 | ... | ... | ४. २. २०. | ... | ४०९ |
| अवेः शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                    | ... | ... | ४. २. ३५. | ... | ४१० |
| अश्वशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                | ... | ... | ४. २. १८. | ... | ३६६ |
| अश्वस्य शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                 | ... | ... | ४. २. ३३. | ... | ४०६ |
| अषाढैककाया उपधानविध्यादि.                                           | ... | ... | ३. २. ३२. | ... | ३१८ |
| अषाढोपधानमन्त्रविधियाख्याने.                                        | ... | ... | ३. २. ३६. | ... | ३२२ |
| आधिक्यसौमिकयोः अतिषडङ्गप्रदर्शनम्.                                  | ... | ... | २. ४. १०. | ... | २०७ |

अतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचिति-

|                                                                                                     |               |     |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------|-----|
| संस्कारविधिः. ... ..                                                                                | २. ३. ४. ...  | १६८ |
| आत्मन्यभिग्रहणप्रकारोपदेशादि. ...                                                                   | ३. १. १. ...  | २४४ |
| आहवनीयचिताव्धाणां निवपनविधिः. ...                                                                   | २. ३. ८. ...  | १७० |
| आहवनीयचितौ पुष्करपर्णीपधानविधिः. ...                                                                | २. ३. ६. ...  | १७० |
| आहवनीयचितौ सिकतानिवपनविधिः. ...                                                                     | २. ३. ११. ... | १७३ |
| इष्टकाचतुष्टयोपधानमन्त्राणां विधियाख्याने                                                           | १. १. २२. ... | २६  |
| इष्टकासन्धिषु पुरीषनिवपनविध्यादि ...                                                                | १. १. ३६. ... | ४२  |
| इष्टकाहरणममये जेतस्यान्वस्य पुरतो नयनादि. २. ४. १०. ...                                             | २. ४. १०. ... | २१६ |
| उखोपधानविध्यादि. ... ..                                                                             | ४. १. २६. ... | ३५७ |
| उखोपधाने मन्त्रविधिस्तद्वाख्यानञ्च. ...                                                             | ४. १. ३०. ... | ३५६ |
| उख्यरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराटरूपप्रजा-<br>पत्यात्मकताप्रतिपादनारम्भः. ...                        | १. २. १. ...  | ५७  |
| उख्याग्नेर्गाहपत्यचितिमध्ये निवपनविध्यादि. १. १. ३६. ...                                            | १. १. ३६. ... | ४५  |
| उत्तरवेदिनिवपनाद्युपदेश. ... ..                                                                     | २. ३. २७. ... | १८४ |
| उपसर्गनसादनस्रद्धोहसां नेर्हतीषु निवेद्यः. १. ३. १२. ...                                            | १. ३. १२. ... | ६१  |
| उपहितपुरुषशिरस्यभिहोमविध्यादि. ...                                                                  | ४. २. २३. ... | ४०३ |
| उपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसा सुत्वर्गनामके-<br>र्मन्त्रैरुपस्थानविधिस्तन्मन्त्रविध्यादि च | ४. २. २८. ... | ४०६ |
| उर्ध्वमुखसुसलयोरुपधानविध्यादि. ...                                                                  | ४. १. १२. ... | ३४६ |
| ऊषाणां निवपनविधिः. ... ..                                                                           | १. १. ६. ...  | १६  |
| ऊषाविधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                                                                 | १. १. ८. ...  | २०  |
| ऋग्यजुस्तामलक्षणप्रदर्शनम् ( भाष्ये ) ...                                                           | ३. २. १६. ... | ३०६ |
| ऋतस्ययोरिष्टकयोरुपधानविधिः. ...                                                                     | ३. २. २६. ... | २१५ |

|                                                                                                                                              |           |     |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| मृत्योपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                                                                                                        | ३. २. २६. | ... | ३१५ |
| कर्षणविधिस्तम्भकारोपदेशश्च. ...                                                                                                              | १. ४. ६.  | ... | १११ |
| कर्षणस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                                                                                                             | १. ४. १३. | ... | ११६ |
| कूर्माभ्यङ्गनमन्त्रादुपदेशः. ...                                                                                                             | ४. १. ३.  | ... | ३३६ |
| कूर्मेष्टकोपधानविध्यादि. ...                                                                                                                 | ४. १. १.  | ... | ३३८ |
| कूर्मोपधानमन्त्रविधिस्तद्व्याख्यानादि. ...                                                                                                   | ४. १. ८.  | ... | ३४४ |
| कृष्टप्रदेशेषु पां निनयनानन्तरं वपनविधिः. ...                                                                                                | २. २. १६. | ... | १४३ |
| कृष्टे क्षेत्रे उद्वमसकरणविध्यादि. ...                                                                                                       | २. २. १.  | ... | १४० |
| गार्हपत्यचित्ते; परिमाणविधानादि. ...                                                                                                         | १. १. ३७. | ... | ४३  |
| गार्हपत्यामीध्रीयाहवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्त-<br>रिचदुल्लोकात्मकत्वात् क्रमेणैव संस्कारस्य<br>युक्तत्वेऽपि व्युत्क्रमेणानुष्ठानस्योपपादनम्. |           |     |     |
| गार्हपत्योपस्थानविधिः. ...                                                                                                                   | १. ३. १६. | ... | ६६  |
| गार्हपत्योपस्थानमन्त्राख्याने. ...                                                                                                           | १. ३. २०. | ... | ६७  |
| गोः श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्. ...                                                                                                        | ४. २. ३४. | ... | ४०६ |
| गोशिरस उपधानमन्त्रस्तद्व्याख्यादि च. ...                                                                                                     | ४. २. १६. | ... | ४०० |
| चयननिव्यक्तये इष्टकानां सुपधानप्रकारोपदेशः. ...                                                                                              | १. १. १८. | ... | २७  |
| चित्तिप्रोक्षणादिविधानम्. ...                                                                                                                | २. ४. ४.  | ... | २११ |
| चित्त्वानिश्चेन्नमध्ये विकर्षणविध्यादि. ...                                                                                                  | १. ४. ७.  | ... | १११ |
| चित्त्वानिरूपप्रजापते; निरुक्तानिरुक्तरूपेण<br>परिमितापरिमितरूपेण च हेतुप्यवर्णनम्.                                                          |           |     |     |
| चित्त्वानिः स्वयमाह्लादिषु त्रयोदशखिष्टकासु<br>कृत्स्नपञ्चाकारत्वसम्पादनादि. ...                                                             | ४. १. ३५. | ... | ३६४ |
| कृत्स्नस्याख्यानां पञ्चेष्टकानां वर्णनादि. ...                                                                                               | ४. २. ४२. | ... | ४१५ |

|                                             |           |     |     |
|---------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| दूर्ध्वस्तम्भाभिधानविध्यादि. ... ..         | २. १. ४.  | ... | १२८ |
| दूर्ध्वस्तम्भोपधानविध्यादि ... ..           | २. १. १.  | ... | १२९ |
| दूर्ध्वकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ... ..  | ३. २. १४. | ... | ३०३ |
| दूर्ध्वकोपधानविध्यादि. ... ..               | ३. २. १०. | ... | ३०१ |
| द्वियजुर्नामिककाया उपधानविध्यादि. ... ..    | ३. २. १६. | ... | ३०५ |
| द्वियजुरुपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ... .. | ३. २. २१. | ... | ३०८ |
| निवपनमन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..        | २. ३. २८. | ... | १८५ |
| नेऋतीष्टकामन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..   | १. ३. ६.  | ... | ८७  |
| नेऋतीष्टकासु आसन्त्यादीनां विधानम्. ... ..  | १. ३. १५. | ... | ६२  |
| नेऋतीष्टकासु दकनिनयनम्. ... ..              | १. ३. १७. | ... | ६४  |
| नेऋतीष्टकाहरणप्रकारादि. ... ..              | १. ३. १.  | ... | ८३  |
| नेऋतीष्टकोपधानप्रकारादि. ... ..             | १. ३. ८.  | ... | ८६  |
| नेऋतीष्टकोपधानाख्यायिका. ... ..             | १. ३. १.  | ... | ८३  |
| परिश्रयणमन्त्रविधियाख्याने. ... ..          | १. १. १४. | ... | २४  |
| परिसर्पणप्रकारोपदेशादि. ... ..              | ३. १. ३५. | ... | २७० |
| पलाशशाखया व्यूहचनम्. ... ..                 | २. ३. ७.  | ... | १६६ |
| पशुसुखादौ शकलप्रक्षेपविषयः. ... ..          | ४. २. ११. | ... | ३६३ |
| पशुशीर्षसु सुवर्णशलाकाप्रक्षेपादि. ... ..   | ४. २. ८.  | ... | ३६२ |
| पशुशीर्षाणां उपधानविध्यादि. ... ..          | ४. २. १.  | ... | ३८८ |
| पुरुषशिरस उदयहस्तादिकम्. ... ..             | ४. २. १३. | ... | ३६६ |
| पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानविधिः. ... ..     | ३. १. २२. | ... | २६२ |
| पुष्करपर्णस्योपधानविध्यादि. ... ..          | २. ४. १७. | ... | २२३ |
| पुष्करपर्णस्य रक्तोपधानस्तुत्यादि. ... ..   | ३. १. १२. | ... | २५३ |
| पुष्करपर्णोपधानविधिस्तवगादि. ... ..         | ३. १. ७.  | ... | २४८ |

|                                               |           |     |     |
|-----------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| पुष्करपर्णोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ...     | ३. १. ६.  | ... | ३५० |
| प्रजापतिचिन्ताम्योस्तादात्म्यप्रतिपादनम्.     | १. २. ६.  | ... | ६१  |
| प्रजापतिशरीरविश्लेषप्रतिपादनम्. ...           | १. २. १.  | ... | ५७  |
| प्रजापतेराध्यात्मिकाधियज्ञिकरूपत्ववर्णनम्.    | १. २. १३. | ... | ६५  |
| प्रत्युपस्थानस्य विधितन्मन्त्रतद्व्याख्यादि.  | ४. २. ३८. | ... | ४१२ |
| पाञ्चाल्येष्टकादयोपधानमन्त्रयोर्विधियाख्याने. | १. १. २८. | ... | ३५  |
| प्राणान्नविषयकमन्त्रपाठस्तदाख्यानञ्च.         | ४. २. २१. | ... | ३५४ |
| प्रायश्चित्तेष्टिविधानम्. ... ..              | १. ४. १.  | ... | १०४ |
| दृष्टतीसम्यद्वर्णनम्. ... ..                  | १. २. २२. | ... | ७१  |
| रक्तमध्ये हिरण्यमयपुरुषोपधानविध्यादि.         | ३. १. १५. | ... | २५६ |
| रक्तोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...              | ३. १. १४. | ... | ७५४ |
| रेतस्सिगुपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...          | ३. २. २३. | ... | ३११ |
| रेतस्सिचोपधानविध्यादि. ... ..                 | ३. २. २२. | ... | ३१० |
| लोकमृगाख्याया इष्टकाया उपधानविधिः.            | १. १. ३३. | ... | ६६  |
| लोकमृगादीष्टकानां उपधान मन्त्रविचारादि.       | १. १. ३४. | ... | ४१  |
| लोकैष्टकानां उपधानविध्यादि. ... ..            | २. ३. १३. | ... | १७४ |
| लोकैष्टकोपधानमन्त्राणां छन्दसो नामविचारः.     | २. ३. ३६. | ... | १६३ |
| विश्वज्योतिरिष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. | ३. २. २७. | ... | ३१४ |
| विश्वज्योतिष उपधानविध्यादि. ...               | ३. २. २५. | ... | ३१२ |
| वीजावापस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...            | २. २. १७. | ... | १४५ |
| युद्धेन मन्त्रस्य विधियाख्याने. ...           | १. १. २.  | ... | १७  |
| युद्धेन विधानम्. ... ..                       | १. १. १.  | ... | १५  |
| युद्धेन पलाशशाखायाः करणत्वविधिः.              | १. १. ३.  | ... | १६  |

|                                             |           |           |     |
|---------------------------------------------|-----------|-----------|-----|
| शकैलप्रक्षेपमन्त्रविधिस्तद्व्याख्यानादिकम्. | ४. २. ११. | ...       | ३८४ |
| शर्कराभिः परिचयनविधानम्.                    | ...       | १. १. १२. | २३  |
| श्रीलाकार्योपधानम्.                         | ...       | १. ४. १.  | १०४ |
| शङ्खे सप्तानां हृन्द्वा मन्त्रभाववर्णनम्.   | २. ३. ४१. | ...       | १८४ |
| शङ्खतगाहपद्यायतनस्येष्टकाभिश्चयनविधिः.      | १. १. १७. | .         |     |
| शब्दसामगानविध्यनुवादादि.                    | ...       | ३. १. ३.  | २४७ |
| समन्तकं शिकताभिर्मर्षणम्.                   | ...       | २. ३. १२. | १७३ |
| समन्तक सुपोष्यनविधानादि.                    | ...       | १. ३. १८. | ६५  |
| सर्पसामभिः पुरुषस्थोपधानविध्यादि.           | ...       | ३. १. २५. | २६४ |
| सामिसिद्धे क्रतौ सोमक्रयकालविधिः.           | ...       | २. ३. १.  | १६७ |
| शिकतानां निवपनविधिः.                        | ...       | १. १. ८.  | २२  |
| शिकतानिवपनमन्त्रविधिः.                      | ...       | १. १. १३. | २२  |
| शिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूर्णो पयस        |           |           |     |
| आसेचनविध्यादि.                              | ...       | १. १. ४४. | ४८  |
| शीरयोजनमन्त्रस्य विधिव्याख्याने.            | ...       | १. ४. ४.  | १०६ |
| शीरयोजनाय काष्ठनिरूपणादि.                   | ...       | १. ४. ३.  | १०६ |
| शीरादनडुदिमोचनविध्यादि.                     | ...       | १. ४. २१. | १२० |
| शुद्धदोहसो निषेधोपपादनम्.                   | ...       | १. १. १५. | २५  |
| क्षरणचर्मणोऽनडुदिकारत्वादिविधानम्.          | २. ४. २.  | ...       | ३०८ |
| सुचोरुपधानविध्यादि.                         | ...       | ३. १. ३६. | २७१ |
| सुचोरुपधाने मन्त्रविध्यादि.                 | ...       | ३. १. ४१. | २७३ |

|                                      |           |     |     |
|--------------------------------------|-----------|-----|-----|
| स्वयमादृशाया मन्त्रविधिवाखाने. १ ... | ३. २. ५.  | ... | २३५ |
| स्वयमादृशोपधानविधादि. ...            | ३. २. १.  | ... | २३२ |
| हिरण्यपुरोपधानमन्त्रस्य विधिवाखाने.  | ३. १. १६. | ... | २६० |

---

## ॥ मूलपाठशुद्धिपत्रम् ॥

| पद्यम्              | शुद्धम्           | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठं |
|---------------------|-------------------|---------------|--------|
| सद्वां              | सर्व्वा           | १. १. ८.      | ३      |
| अग्ने०              | अग्ने-            | १. १. १०.     | ४      |
| अथं                 | अथं               | १. १. १३.     | ४      |
| व्यचः               | व्यर्चः           | १. १. २३.     | ८      |
| • स उदय०            | स उ दय०           | १. २. २२.     | ५६     |
| • यम्या             | यम्या             | १. ३. १०.     | ७८     |
| वीर्ये              | वीर्यं            | २. ३. १८.     | १५५    |
| उपादीप्तो           | उपादीप्तो         | २. ३. २१.     | १५६    |
| मात्मन्नु०          | मात्मन्नु०        | २. ३. २१.     | १५६    |
| • ०दृततस्य          | ०दृतस्य           | २. ३. २३.     | १५७    |
| ०दात्मन्नेतो०       | ०दात्मन्नेतो      | २. ३. २८.     | १५८    |
| भानुनेत्य०          | भानुनेत्य०        | २. ३. २०.     | १६०    |
| ब्राह्मण            | ब्रह्मण           | २. ३. ४२.     | १६४    |
| मपश्यन्न सु         | मपश्यन्नसु        | २. ४. १०.     | २०३    |
| पुरस्ताद्र रक्षांसि | पुरस्ताद्रक्षांसि | २. ४. १०.     | २०४    |
| मेत                 | मेतं              | २. ४. १८.     | २०७०   |
| ०पाप्मन             | ०पाप्मान          | ३. १. १.      | २२७    |



( ख )

| अष्टमम्                        | अष्टमम् | प्र० मा० क०   | श्रुत |
|--------------------------------|---------|---------------|-------|
| तिष्ठा० ... तिष्ठ०             | ...     | ३, १, २, ...  | ३२८   |
| पुष्कपयर्ष ... पुष्करपर्ष      | ...     | ३, १, १३, ... | २३१   |
| ०दर मयत् ०दरमयत्               | ...     | ३, १, ३८, ... | २४१   |
| ०चिक्र मिषत्तत् ०चिक्रमिषत्तत् | ...     | ४, १, १७, ... | ३३१   |
| तद भव० ... तदभव०               | ...     | ४, १, २१, ... | ३३२   |
| ०ती मे वै ... ०तीमे वै         | ...     | ४, २, ३४, ... | ३७८   |

---

# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ अथ ॥

## ॥ सप्तमकाण्डम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

गार्हपत्यं चेष्ट्यन् पलाशशाखया व्युदूहति ।  
 अंवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति य उ वै के  
 चाग्निचितोऽस्या मेव तेऽवसितास्तद्यद्गुदूहत्यवसि-  
 तानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्यवस्यानीति\* ॥१॥  
 अपेत व्वीत वि च सर्पतात इति । अप

\* '०नीति'—इति क , '०नीति'—इति ग ।

चैवेत वि चेतु व्यु च सर्पतात इत्येतद्य ऽउदर-  
सर्पिणस्तानेतदाह ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना  
इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना  
इत्येतत् \* ॥ २ ॥

अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति । यमो ह  
वा ऽअस्या अवसानस्थेष्टे सु एवास्मां ऽअस्या मव-  
सानं ददाति † ॥ ३ ॥

अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मा ऽइति । क्षत्रं  
वै यमो विशः पितरो यस्माऽउ वै क्षत्रियो  
विशा संविदानोऽस्या मवसानं ददाति तत्  
सुदत्तं तथो हास्मै क्षत्रं यमो विशा पितृभिः  
संविदानोऽस्या मवसानं ददाति ‡ ॥ ४ ॥

पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो  
ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म  
वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति ता सु-  
दीची सुदद्यति § ॥ ५ ॥

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

†, ‡ 'ददाति'—इति क ।

§ 'सुदद्यति'—इति क ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
 पशव ऊषा अस्मिंस्तुलोके पशून् दधाति तस्मादि-  
 मेऽस्मिंस्त्रीके पशवः ॥ ६ ॥

यदेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत  
 तां नानोल्बा असृजत तान समजानत सो-  
 ऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्बा अक-  
 रोत्तासा मूषानुल्ब मकरोत्ताः समजानत तस्मा-  
 दप्येतर्हि समानोल्बाः स मेव जानते देवैः  
 समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्य-  
 दूषान्निवपति देवैरेव तत् समानोल्बो भवति ॥ ७ ॥

सञ्जान मसीति । समजानत ह्येतेन काम-  
 धरण मिति पशवो वा ऽऊषाः पशवः काम-  
 धरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति मयि ते  
 कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूया-  
 सुरित्येतत्तैः सुव्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिव्वं  
 गार्हपत्या चितिरुल्ब मूषाः सुव्वां तद्योनि मुल्बेन  
 प्रच्छादयति \* ॥ ८ ॥

अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
भस्म यत् सिकता अग्निं सु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअग्निः स्वं भस्मातिदहत्य-  
नतिदाहाय ॥ ९ ॥

यद्वै सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
रेतो यत् सिकता अग्निं सु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअरेतस्कात् किञ्चन व्विक्रि-  
यतेऽस्माद्रेतसोऽधि व्विक्रियाता ऽइति ॥ १० ॥

अग्नेर्भस्माद्यग्नेः पुरीष मसीति । यातयाम  
वा ऽअग्नेर्भस्मायातयाम्नाः सिकता अयातयाम  
मेवैनदेतत् करोति ताभिः सर्व्वं गार्हपत्यं प्रच्छा-  
दयति योनिर्व्वै गार्हपत्या चित्ती रेतः सिकताः  
सर्व्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । योनिर्व्वै  
परिश्रित इदं मेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परि-  
गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्णते ॥ १२ ॥

यद्वैैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति । अथं वै

ल्लोको गार्हपत्यं आपः परिश्रित इमं तं लोक  
 मेक्षिः परितनोति समुद्रेण हैनं तत् परितनोति  
 सर्वतस्तच्चादिमं लोकं सर्वतः समुद्रः पर्येति  
 दक्षिणावृत्तच्चादिमं लोकं दक्षिणावृत् समुद्रः  
 पर्येति खातेन तच्चादिमं लोकं खातेन समुद्रः  
 पर्येति ॥ १३ ॥

चित स्येति । चिनोति ह्येनाः परिचित  
 स्येति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः अथध्व मिथूर्ध्व  
 उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजतेऽथ  
 यत्तिरश्चीरुपदध्यात् सकृद्वेदं सर्वं समुद्रो  
 निर्मज्यान् \* सादयत्यसन्ना ह्यापो न सुदो-  
 हसाधिवदति ॥ १४ ॥

अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सुदोहो न  
 वा । अस्थिषु प्राणोऽस्थेकेन यजुषा बह्वीरिष्टका  
 उपदधात्येकं ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्वः  
 परिश्रितो भवन्ति बह्वो ह्यापः ॥ १५ ॥

\* 'निर्मज्यान्' इति, 'निर्मिज्यान्'—इति च दृष्टं डा० वेबुर-  
 महोदयेन । 'निर्मज्यान्'—इति तु सायणासम्मतः पाठः ।

तद्वै योनिः परिश्रितः । उल्ब मूषा रेतः  
सिकता बाह्याः परिश्रितो भवत्यन्तरऽज्जषा बाह्या  
हि योनिरन्तरं मुल्वं बाह्यऽज्जषा भवत्यन्तराः  
सिकता बाह्याः ह्युल्बं मन्तरः रेत एतेभ्यो वै  
जायमानो जायते तेभ्य एवैन मेतुञ्जनयति\* ॥ १६ ॥

अथैन मनुश्चिनोति । इदं मेवैतद्रेतः सित्वां  
विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सित्वां विक्रि-  
यते ॥ १७ ॥

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । द्वे पश्चात्  
तिरश्चगौ द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स  
आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्यय  
मात्माथ ये पश्चात्ते सुक्यौ ये पुरस्तात्तौ बाह्व  
यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥ १८ ॥

तं वा ऽएतम् † । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति  
यादृग् वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग् जायते  
तद्यदेत मत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेप्रो  
ऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते ॥ १९ ॥

तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम् । न पक्ष-  
पुच्छवन्त मिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथा-  
रूपं पश्यन्त्यथैन ममुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्मा-  
ज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥ २० ॥

स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवाये  
संभवतः संभवति दक्षिणत उदङ्ङासीन उत्त-  
राध्यां प्रथमां मुपदधाति तथो हास्यैषोऽध्यात्म  
मेवाग्निश्चितो भवति ॥ २१ ॥

अयं सोऽग्निः \* । यस्मिन्सोम मिन्द्रः  
सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सो-  
मः सुतोऽस्मिंस्तुलोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे व्या-  
वशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं व्याज-  
मत्यं न सप्ति मित्यापो वै सहस्रियो व्याजः स-  
सवान्त्वन्स्तूयसे जातवेद इति चितः संश्रूयसे  
जातवेद इत्येतत् † ॥ २२ ॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति । आदित्यो

\* 'ऽव्यमिः'—इति ग, घ ।

† 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।



वा ऽअस्य दिवि वृचः पृथिव्या मित्यय मेग्निः  
 पृथिव्याऽयदोषधीष्वस्ता यजचेति य एवोष-  
 धिषु चाप्सु चाग्निस्तु मेतदाह येनान्तरिक्षं मु-  
 र्वाततन्येति व्यायुः सु त्वेषः सु भानुरर्णवो  
 नृचक्षा इति महान्तम् भानुरर्णवो नृचक्षा  
 इत्येतत् \* ॥ २३ ॥

अग्ने दिवो ऽअर्णमुष्ठा जिगासीति † । आपो  
 वा ऽअस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छेत्त्युष्ठा-  
 देवाऽ२॥ ऽजचिषि ‡ धिष्णा य ऽइति प्राणा वै  
 देवा धिष्णास्ते हि सृज्वा धिय इष्णन्ति या  
 रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त  
 ऽआप इति रोचनो ह नामैष लोको यचैष  
 एतत् तपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता  
 एतदाह ॥ २४ ॥

पुरीष्वाप्सो ऽअग्नय इति । पशुव्याप्सो ऽग्नय

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

† 'जिगासीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवाऽजचिषे'—इति, 'देवाऽजचिषे';—इति च दृष्टं वेबर-  
 महोदयेन; परं 'देवाऽ२॥ऽजचिषे'—इत्येव पाठस्तत्त्वम्तः ।

इत्येतत् प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं  
 प्रायणं चेतदग्निर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां यज्ञं  
 मद्गृहोऽनमीवा दूषो महीरिति जुषन्तां यज्ञं  
 मद्गृहोऽनशनाया दूषो महीरित्येतत् \* ॥ २५ ॥

नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मन्तां-  
 स्तदंधाति संकृत् सादयत्येकं तदात्मानं करोति  
 सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणे-  
 नैवैन मेतत् सन्तनोति सन्दधाति ॥ २६ ॥

अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणा-  
 सीनोऽपरयोर्दक्षिणा मय उपदधातीडा मग्ने पुरु-  
 द्धसं सनिं गोरिति पशवो वा ऽङ्गुष्ठा पशूना  
 मेवास्मा ऽएता माशिष माशास्ते शश्वत्तमं हव-  
 मानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः  
 सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुरग्ने सा  
 ते सुमतिर्भूत्वस्मै ऽङ्गुल्याशिष माशास्ते ॥ २७ ॥

अथोत्तराम् । अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो  
 जातो ऽअरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सना-

तुनो यतो जातोऽदीप्यथा ब्रूयेतत् तं जानन्नं न  
ऽञ्जोरोहाया नो वर्ध्या रयि मिति यथैव यजु-  
स्तथा बन्धुः ॥ २८ ॥

सुक्थ्यावस्यैते \* । ते नानोपदधाति नाना साद-  
यति नाना सुददोऽसाधिवदति नाना हीमे  
सुक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे हीमे सुक्थ्यौ पञ्चादुप-  
दधाति पञ्चाहीमे सुक्थ्यावग्राभ्यां सृष्टे  
भवत एव हीमे सुक्थ्यावग्राभ्यां सृ-  
ष्टे ॥ २९ ॥

अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्ङा-  
सीनः पूर्वयोरुत्तरा मग्न उपदधाति चिदसि तया  
देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि  
तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेति ॥ ३० ॥

बाहू ऽअस्यैते † । ते नानोपदधाति नाना  
सादयति नाना सुददोऽसाधिवदति नाना हीमौ  
बाहू द्वे भवतो द्वौ हीमौ बाहू पूर्वार्द्धं उप-

\* 'सुक्थ्यावस्यैते'—इति ग, घ

† 'ऽअस्यैते'—इति ग, घ ।

दधाति पुरस्ताद्दीप्तौ बाह्व ऽभ्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टे भवत एवुं हीमौ बाह्व ऽभ्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टौ 'स वा ऽद्वितीमा ऽउपदधातीतीमे ऽद्वितीमे  
 तद्दक्षिणावत्तद्धि देवता \* ॥ ३१ ॥

अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गाय-  
 त्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतच्चिनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्च-  
 चितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतच्चिनो-  
 त्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तच्चयोदश  
 त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरी-  
 षाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद्  
 भवति ॥ ३२ ॥

अथ लोकम्पृणा उपदधाति । तस्या उपरि  
 बन्धुस्त्रिंशः पूर्वास्त्रिंशदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
 तावन्त मेवैन मेतच्चिनोति दशोत्तरास्तासा उपरि  
 बन्धुर्द्वे वागेऽथ दशाथैका मेवं हि चितिं चि-

न्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तो बन्धुः ॥ ३३ ॥

ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय द्वमे लोका असा-  
वादित्य एकविंशोऽमुं तदादित्य मस्मिन्नग्नौ प्रति-  
ष्ठापयति \* ॥ ३४ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । द्वादश मासाः  
पञ्चर्त्तवस्त्रय द्वमे लोका अयं मग्निरमुतोऽध्येक-  
विंश द्वमं तदग्निं ममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति  
तद्यदेता एव मुपद्धात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन् प्र-  
तिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ  
वा ऽएतावन्न द्वावेकविंशौ सम्पादयत्यत्र द्यौ-  
वेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्ह-  
पत्यश्च ॥ ३५ ॥

अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्त-  
च्चात्वालवेलुया आहरत्यग्निरेष यच्चात्वालस्तथो  
हास्यैतदाग्नेयं मेव भवति सा समम्बिला स्यात्  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ३६ ॥

व्याममात्रौ भवति । व्याममात्रो वै पुरुषः  
 पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्भितां तद्यो-  
 निं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला  
 हि योनिरथो ऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परि-  
 मण्डल उ वा ऽअयं लोकः \* ॥ ३७ ॥

अथैनौ सन्निवपति । सञ्ज्ञा मेवाभ्या मेतत्  
 करोति समित् सङ्कल्पेथां सं वां मनांसि  
 सं व्रताग्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति  
 शमयत्येवैनावेतद्विंसायै यथा नान्योऽन्यत् हिं-  
 स्याताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशव-  
 स्तैरेवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोत्यथो ऽअन्नं वै पशवो-  
 ऽन्नेनैवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोति ॥ ३९ ॥

तां न रिक्ता मवेक्षेत नेद्रिक्ता मवेक्षा ऽइति  
 यद्रिक्ता मवेक्षेत ग्रसित हैनम् ॥ ४० ॥

अथास्यां सिकता आवपति । अग्नेरेतद्-  
 वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता अग्निं मेवास्या मेतद्

वैश्वानरः रेतो भूतः सिञ्चति सा समम्बिला  
स्यात्तस्योक्तो बन्धुः ॥ ४१ ॥

अथैनां विमुञ्चति । अप्रदाहाय यच्च युक्तं  
न विमुच्यते प्र तद्वच्चत एतद्वा एतद्युक्ता रेतो-  
ऽभाषीदेत मग्निं त मन्वाजीजनदथापरं धत्ते योषा  
वा ऽउखा । तस्माद्यदा योषा पूर्वः रेतः गज-  
नयत्यथापरं धत्ते ॥ ४२ ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्य मिति । मातेव  
पुत्रं पृथिवीः पशव्य मित्येतदग्निः स्वे योनाव-  
भारुखेत्यग्निः स्वे योनावभाषीदुखेत्येतत्तां विश्वै-  
र्देवैर्ऋतुभिः संव्विदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि-  
मुञ्चत्वित्यृतवो वै विश्वे देवास्तदेनां विश्वैर्देवै-  
र्ऋतुभिः संव्विदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमु-  
ञ्चति ता मुत्तरतो ऽग्नेर्निदधात्यरत्निमात्रे तस्योक्तो  
बन्धुः ॥ ४३ ॥

अथास्यां पय आनयति । एतद्वा एतद्रेतो  
धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा ऽउखा तस्माद्यदा  
योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिकता

भवेन्त्युत्तरं पयोऽधरः हि रेत उत्तरं पयस्तन्-  
मध्यं ऽभ्रानयति यथा तत् प्रति पुरुषशीर्षं  
मुपदध्यात् ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उखासम्भरणाद्यं तु भस्मावहरणान्तकम् ।

चित्यस्याग्नेर्बाह्यं मङ्गं प्रोक्तं षष्ठेऽथ सप्तमे ॥

इष्टकाचयनात् पूर्वं मग्निस्थानस्य संस्क्रिया ।

कर्त्तव्या या समासेन सेह विस्पष्ट मीर्यते ॥

“अग्निं चिनुते”—इत्यनारभ्य विहितस्य अग्निचयनस्य \*

“अथातोऽग्निं मग्निष्टोमेनानुयजति”—इत्यादिवाक्येन † सोमयाग-  
शेषत्वावगतेः, साम्निकस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्णयानां सर्वेषां  
मेव चयनम् ; संस्कार्यत्वात् ‡ तत्र धिष्णोऽग्रे गार्हपत्याख्यस्य  
धिष्णस्यप्राथम्यात् तत्र प्रथमं चयनं विधित्सुस्ततः प्राच्यान्  
भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्यदूहनं  
विधत्ते—“गार्हपत्यं चेत्सन्निति । गृहपतिना संयुक्तोऽग्निः

\* ते० सं० ५. ५. २, ३ अनुवाकौ द्रष्टव्यौ ।

† श्री० ब्रा० २. ३. १० अधिकरणं द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘संस्कर्तव्यत्वात्’—इति च दृष्टो वेवरेण ।



गार्हपत्यः ; “गृहपतिना संयुक्ते जाः”—इति \* पाणिनिस्मृतैः ।  
इह तु तस्याग्नेः आधारभूतो भूपदेशः । आधारधेययो-  
ग्मेदोपचारेण आधेयवाचिना शब्देनोच्यते संस्कर्तव्यत्वप्रति-  
पत्तये । अयं मर्थः । यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेः  
अधिकरणम् , अतश्च चयनेन संस्कर्तव्यमित्यर्थः । संस्कारश्चात्र  
प्राधान्यद्योतिन्या द्वितीयया “ब्रीहौन् प्रोक्षति”—इत्यादाविव प्रति-  
पाद्यते । चेष्टाविति हेतोः शतपत्ययः । “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः”—  
इति † । यतोऽस्मिन् स्थाने चयनं कर्त्तव्यम् , अतो हेतो-  
रेतत् स्थानं पलाशवृक्षस्य शाखया “अप्रेत”—इति वक्ष्यमाणेन  
मन्त्रेण ‡ “व्युदूहति” लोद्गृहणादिकसन्मार्जनेनापसारयतीत्यर्थः § ॥

व्युदूहणस्य प्रयोजनं माह— “अवस्यति हैतदिति । गार्हपत्य-  
स्याग्नेर्यत् स्थानं चयने संस्करोति मयात्र सोमेन यष्टव्यमिति ,  
‘तत्’ तेन व्युदूहनेन ‘अवस्यति’ निश्चिनोत्येव । यद्वा , गार्हपत्यस्य  
यच्चयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम् । तथाच ‘ये केचित्’ ‘अग्नि-  
क्षितः’ अग्निक्षितवन्तो यजमानाः ‘ते’ ‘अस्या मेव’ पृथिव्या मेव  
‘अवसिताः’ अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्त्तन्ते , ‘तत्’ तथा सति  
पलाशशाखया ‘यत्’ स्थानं ‘व्युदूहति’—इति यत् ‘तत्’ तेन  
‘अवसितानेव’ तत्र स्थितान् प्राक्तनान् यजमानान् ‘व्युदूहति’  
विविधं निरस्यति ॥ ॥

\* पा० सू० ४. ४. ६ ।

† पा० सू० ३. २. १२६० ।

‡ अनुपदं मेव द्वितीयः कण्ठी द्रष्टव्यः ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ३ ।

॥ “व्युदूहति । गार्हपत्यस्थानेऽपतितं दृष्ट्वादि शाखया बहि-  
‘निस्सारयति’—इति कर्कः (का० श्रौ० सू० १७. १. ३.) ॥

‘व्यदूहनं कुर्वतो’ यजमानस्याभिप्राय माह— “नेदिति ।  
 ‘अग्निचयन मनुष्ठाय’ तत्रैवावस्थितान् यजमानान् ‘अत्रैव’ नित्य  
 ‘अध्यवस्थानि’ \* तेषां मुपरि अध्यवसानं मवस्थानं नैव करवाणि †  
 ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मिन् व्यदूहने प्रतीकग्रहणेन मन्त्रं विधत्ते— “अपे-  
 तेति ‡ । अत्र चापेतवीतेतिवाक्यद्वयस्यार्थ माह—“अप चैवेतेति ।  
 हे यज्ञविरोधिनाः जनाः ! अस्मात् स्थानात् ‘अपेत’ अपगच्छत,  
 अपगमनसमयेऽपि ‘वीत’ विविधं गच्छत । अनयोरपगमन-  
 विगमनयोः समुच्चयो विवक्षित इत्यमुं मर्थं द्योतयितुं चकारयोः  
 प्रयोगः । ‘वि च सर्पतात’-इत्येतदनूद्य व्याचष्टे— “व्यु चेति ।  
 ‘ये तु’ प्राणिनः उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति, तान् सर्पसरी-  
 सृपादीन् प्राणिनः प्रति अस्मात् स्थानात् अपगमन मनेन  
 प्रार्थ्यते इत्यर्थः ॥

तथा च मन्त्रभागस्याय मर्थः— हे उदरेणैव सर्पणशीलाः  
 पन्नगादयः ! ‘अतः’ अस्मादग्निचयनस्थानाद् ‘विसर्पत’ विविधं  
 गच्छतेति । द्वितीयपाद मनूद्य व्याचष्टे—“येऽत्र स्येति । पुरा अती-  
 तकाले भवाः ” ‘पुराणाः’ । “सायश्चिरम्राह्णे मग्नेऽव्ययेभ्यः”—इति §  
 पुराणशब्दादव्ययात् व्यु-प्रत्ययः, “पुराणप्रोक्तेषु”—इति ॥ निपातनात्  
 तुडभावः, तथा च सनातना इत्यर्थो भवति । नूतना इत्यस्यार्थ

\* ‘अध्यवस्थामि’ ङ, च, ज ।

† ‘करिष्यामि’ ङ, च, ज ।

‡ वा० ख० १२. ४५ ।

§ पा० सू० ४. ३. २३ ।

॥ पा० सू० ४. ३. १०५ ।

माह— “अधुनातना इति । ‘अधुना’ अस्मिन् वर्त्तमान-  
काले भवाः । तदयं मन्त्रभागस्वार्थः,— ‘अत्र’ अस्मिन् स्थाने  
ये पुराणाः सन्तः स्थ, ये च नूतना अधुनातनाः स्थ, ते सर्वे  
यूय मपेतेति ॥ २ ॥

तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— “अदायम इति । अवस्यति  
अस्मिन्निति ‘अवसानं’ स्थानम्, ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत्, तत्  
‘यमः’ अस्मभ्यम् दत्तवान् । “यमो ह वा इत्यादि । ‘अस्याः’  
पृथिव्याः संबन्धिनः ‘अवसानस्य’ स्थानस्य यमः खलु ‘ईष्टे’,  
अतः स एव अस्मै यजमानाय ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘अवसानं’ स्थानं  
‘ददाति’ ॥ ३ ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “अकन्निति । ‘पितरः’ पितृ-  
देवताः ‘यस्मै’ यजमानाय अग्निचयनार्थम् ‘इमं लोकं’ स्थानम्  
‘अकन्’ अकृषत । “अन्नं वा इत्यादि । अन्नियजातिर्हि यमः,  
पितरस्तु तस्य ‘विशः’ प्रजाः । “यमः पितृणां राजा”—इति हि  
श्रुतिः \* । “यस्मा उ वा इति । लोके हि ‘अन्नियः’ राजा ‘विशा’  
स्वकीयया प्रजया ‘संविदानः’ सञ्ज्ञानानः, ऐकमत्यं प्राप्तः  
सन् ‘अस्यां’ पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय अवसानं ‘ददाति’, तस्य  
‘तत्’ ‘सुदत्तं’ शोभनदत्तं भवति । यथायं दृष्टान्तः, तथैव खलु  
‘अस्मै’ यजमानाय ‘अन्नियः’ यमोऽपि पितरूपया स्वकीयया  
‘विशा’ सञ्ज्ञानानः सन् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘अस्यां’ पृथिव्याम्  
‘अवसानं’ स्थानं ‘ददाति’ ॥ ४ ॥

तस्मिन् व्यूढहने पलाशशाखायाः करणत्वं यद् विहि-

\* “यावन्तो वै ऋतुबन्धवस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय”—  
इति तै० सं० पू० १. ८. ४ ; ऐ० ब्रा० ८. २. ३ इत्याद्यपि प्रष्टव्यम् ।

तम्\* , तदनूद्य स्तीति— “पलाशशाखयेति । वृक्षेषु मध्ये  
पलाशवृक्षो ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः । यद्वा ‡, सोमाहरणसंभये  
भूमौ पतितस्य पर्णस्य पलाशवृक्षरूपेणोत्पत्तेः † गायत्रीसम्ब-  
न्धात् पलाशवृक्षो गायत्रीमन्त्रात्मकः । तथा च तेनैव ‘ब्रह्मणा’  
‘तत्’ तत्र ‘अवसितान्’ अवसायस्थितान् जनान् अस्मात्  
स्थानात् ‘व्युद्बुधति’ उच्चाटयति । मन्त्रकरणत्वं मनूद्य स्तीति—  
“मन्त्रेणेति । “ब्रह्म वा इति । यद् ब्रह्म विवर्तितं हि मन्त्रः ,  
तथा च मन्त्रेण क्रियमानं व्युद्बुधनं ब्रह्मण्येव कृतं भव-  
तीत्यर्थः ।

तस्माः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते— “ता सुदीची  
‘मिति ‡ । ‘उदिचीम्’ उदगयाम् , उदीचीं दिशं वा प्रति  
‘ताम्’ पलाशशाखाम् ‘उदस्यति’ उत्क्षिपति , परित्य-  
जतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

संस्मार्जनानन्तरं मूषाणां निवपनं विधत्ते— “अथोषानिति § ।  
आरम्भिका जघाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत् प्रशं-  
सन्ति— “अयं वै लोक इति । जघरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वा-  
द्मूषाणां पशुत्वव्यपदेश इति । “तस्मादिम इति । यस्माद्मूषाणां  
निवपनेन पशवोऽस्मिन् लोके स्थापिताः , तस्मादेव कारणात्  
इदानीं अपि ‘इमे’ ‘पशवः’ गवाद्याः ‘अस्मिन् लोके’ समृद्धा  
उपलभ्यन्ते ॥ ६ ॥

\* प्रथमा कञ्ङी द्रष्टव्या ( १ , १६ पृ० ) ।

† शत० ब्रा० १. ५. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० औ० सू० १७. १. ४ क ।

§ का० औ० सू० १७. १. ४ ख ।

जषनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “सृष्टे-  
वेति । जषाणां सुखरूपत्वं मास्त्रायिकया प्रतिपादयन् सञ्ज्ञान-  
हेतुता माह— “प्रजापतिः प्रजा इति । “ता नानोल्बा इति ।  
नानाविधं परस्परं विभिन्नं सुखं गर्भवेष्टनं यासान्तास्तथोक्ताः ,  
ततो भिन्नजातीयत्वात् ‘ताः’ प्रजाः परस्परं ‘न तं समजानत’  
समानज्ञानाः नाभववन् । ‘सः’ च प्रजापतिः ‘अकामयत’ इमाः,  
प्रजाः परस्परं ‘सञ्ज्ञानीरन्निति’ । एवं कामयित्वा भिन्नोल्ब-  
जनितत्वं दोष मालोच्य ‘ताः’ प्रजाः ‘समानोल्बाः’ समान  
मेक मेवोल्बं यासां तथाविधाः ‘अकरोत्’ । किं तत् समानं सुखं  
मिति , तदाह— “तासां मूषानिति । उत्पद्यमानानां प्रजानां  
सुखत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः । तथा च एकोल्बजनित-  
त्वेन समानजातीयाः ‘ताः’ सर्वाः प्रजाः ‘समजानत’ ऐकमत्वं  
प्राप्ता आसन् । यस्मादेवं पुरावृत्तम् , ‘तस्माद्’ इदानीं मपि  
समानोल्बानां मेकमादृकाणां प्रजानां सम्प्रतिर्दृश्यत इत्यर्थः ।  
“देवैरित्यादि । देवैः सह समानजन्मा भवामीत्यनेनाभिप्रायेण  
हि ‘यः’ यजमानो ‘यजते’ ‘तत्’ तथा सति उल्बसंस्तुतानां  
मूषाणां निवपनेन तैरेव ‘देवैः’ ‘समानोल्बः’ समानजन्मा  
‘भवति’ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मिन् निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—  
“सञ्ज्ञानं मिति \* । करणे ल्युडित्याह †— “समजानतेति ।  
‘हि’ यस्माद् विप्रतिपक्षाः प्रजाः ‘एतेन’ जषरूपेणोल्बेन ‘समजा-  
नत’ समानज्ञाना अभवन् , तस्मात् हे जष ! त्वम् “सञ्ज्ञान

\* वा० सं० १२. ४६. १ ।

† पा० सू० ३. ३. ११७ ।

मुसौतिमन्त्रेण प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “पशवः कामधरणं मिति । कामाः प्रियन्ते धीयन्ते अनेन गोरूपत्वेन सुतेनोषेणेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयस्य कामस्य धारणं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “मयि त इत्यादि । हे जष ! यतः त्वं कामधरणं मसि, अतः ‘ते’ तव सम्बन्धि पशुरूपं ‘कामधरणं’ कामप्रापणम् । “मयि भूयादिति मन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानं माह— “मयि ते पशव इति । ‘ते’ तव सम्बन्धिनः ‘पशवः’ ‘मयि भूयांसुः’ इत्येतत् अत्र प्रतिपाद्यमित्यर्थः । न्युत्पैरूपैः प्रच्छादनं विधत्ते— “तैरिति\* । ‘गार्हपत्यं’ गार्हपत्याग्निस्थानम् । तत् प्रच्छादनं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । गार्हपत्याग्नि-सम्बन्धिनी या ‘चितिः’, सा ‘योनिर्वै’ सर्वोत्पत्तिकारणम् । गार्हपत्याग्नेराहुवनीयान्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्यापि उत्पत्तिहेतुत्वात् योनित्वेन स्तुतिः । “उल्लव मूषा इति । “तासां मूषानुल्लव मकरोत्”—इत्यान्नातम्† । ‘तत्’ तेन जषैः प्रच्छादनेन ‘सर्वो’ कृत्स्ना मेव ‘योनिम्’ आहुवनीयाद्युत्पत्तये ‘उल्लवेन’ प्रच्छादितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सिकतानां निवपनं विधत्ते— “अथेति । जषवत् ‘निवपति’ निक्षिपति‡ । पृथिव्याः दाहुराहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तौति— “अग्नेरेतदिति । ‘वैश्वानरस्य’ विश्वनरहितस्य ‘अग्नेः’ ‘एतद्’ भक्ष्यं ‘यत् सिकताः’ । ‘वैश्वानरं’ विश्वेषु नरेषु अवस्थितं

\* का० श्रौ० सू० १७. १. ५ ।

† एतत्पूर्वस्या मेव कण्ठां द्रष्टव्यम् ( ३ पृ० ७ प्र० ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ । ‘सिकताभिर्मन्त्रेण ह्यादयेति’—इति तत्र वृत्तिः ।

हिरण्यगर्भात्मकं 'अग्नि' खल्वसौ यजमानं 'वेद्यन् भवति' ।  
 यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत्,  
 तथा च सिकताणां निवपनं पृथिव्याः 'अनतिदाहाय' अति-  
 क्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः \* , तद्दाहित्याय भवति ।  
 न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति , किन्तु तेनैव हवः  
 सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेवानूय प्रकारान्तरेण स्तौति— “यद्देवेति । “सिकता  
 इति । ‘यत् एतद्’ ‘अग्नेः’ वैश्वानरस्य ‘रेतः’ ; वर्णसादृश्यात् । “न  
 वा अरेतस्कादिति । ‘न’ खलु ‘अरेतस्कात्’ निर्धार्यात् पुरुषात् कि  
 मपीषदपि ‘विक्रियते’ उत्पद्यते † , अतश्चेष्टमाणोऽग्निः ‘रेतसः’  
 ‘अधि’ उपरि चितः सन् ‘विक्रियते’ नानाविधफलसाधन-  
 यागहेतुत्वेन विकृतो भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण सिकता-  
 निवपनं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र मन्त्रं विदधाति— “अग्नेर्भस्मेति ‡ । “यातयाम  
 वा इति । ‘अग्नेर्भस्म’ ‘यातयाम’ गतसारम् , रेतोरूपासु  
 ‘सिकताः’ ‘अयातयाम्नाः’ अगतसाराः ; तथा चैतेन सिकता  
 निवपनेन ‘अयातयामम्’ अगतसारम् , सारवदेव ‘एतत्’ चयनं  
 ‘करोति’ इत्यर्थः ॥

सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिरिति § । यतो रेतः-  
 संसृताः सिकताः , तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण

\* ‘ऽतिपाकः’—इति छ, च ।

† ‘उत्पाद्यते’—इति ज ।

‡ वा० सं० १२. ४६. २ ।

§ का० औ० सू० १७. १. ७ ।

सर्वस्वा<sup>०</sup> मिव योनौ प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं 'रेत एव दधाति'<sup>०</sup>  
सिक्तवान् भवति ॥ ११ ॥

शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते— “अथैनमिति । ‘एनं’  
गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रयण्येभिरिति ‘परिश्रितः’ शर्करापर-  
धर्यायाः शुक्लपाषाणाः , तैः ‘परिश्रयति’ परितो वेष्टयति \* ।  
तत् परिश्रयणं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । योनिस्थानीयाः ।  
‘इदं मिव’ सिकतारूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘एतत्’ एतया परि-  
श्रित्पूयं ‘योन्वा’ ‘परिगृह्णाति’ परितो धारयति , यथा न  
विपद्यते । यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् छे-  
पित्सु गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘योन्वा परिगृह्णाते’ परितो धार्यते ।  
‘एतदुक्तं’ भवति ,— गार्हपत्यचितिसकाशादेतदुत्पाद्यते आह-  
वनीयचितिः ; तदुत्पन्नावत्र न्युप्ता जषा उल्बं सिकता रेतः परि-  
श्रितो योनिः ; अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैः आहवनीयचितिः  
गर्भावस्था प्रतिपद्यत इति ॥ १२ ॥

एतदेव परिश्रयणं मनूय प्रकारान्तरेण स्वीति— “यद्दे-  
वैनमिति । “अयं वै लोक इति । ‘अयं’ भूलोकात्मकः  
खलु ‘गार्हपत्यः’ अग्निः ; तद्वाचिन्या भूरितिव्याहृत्या आ-  
हितत्वात् । “आपः परिश्रित इति । परिश्रयणार्थाः शर्कराः  
‘आपः’ उदकात्मिकाः ; शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप  
उपलभ्यन्ते । तथाच गार्हपत्यस्य परिश्रिद्धिः परिश्रयणे  
सति ‘इमम्’ एव भूलोकम् ‘अग्निः’ , ‘परितनोति’ परितो  
वेष्टयति । कैनोपापेनाग्निः परिवेष्टनमिति तदाह— “समुद्रे-



येति । “तस्मादिमं मिति । यस्मात् परिश्रिद्धिः गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूलोकस्य समुद्रेणावरणकारणम् ; ‘तस्मात्’ ‘इमं लोकं’ ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पयेति’ परितो व्याप्नोति । परिश्रयणस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति — “दक्षिणावृत्तिरिति । प्रदक्षिणम् ‘आवृत्’ आवर्तनं यथा भवति तथा परिश्रयेदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृत्तिदर्शनात् समुद्रोऽपि ‘इमं लोकं’ ‘दक्षिणावृत्’ प्रदक्षिणावर्तनेन ‘पयेति’ परितो गच्छति । स्वाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति — “स्वातेनेति । गार्हपत्यायतनस्य परितः स्वातेन प्रदेशेन परिश्रिद्धिः परिश्रयेत् ॥ १३ ॥

तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे — “चितः स्येति \* । ‘हि’ यस्मात् ‘एनाः’ शर्कराः ‘चिनोति’ स्थापयति, तस्मात् हे शर्कराः ! यूयं ‘चितः स्य’ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः । “परि चोना इति । यस्मादेताः परिश्रितश्चिनोति, तस्मात् ‘परिचितः स्य’ परितश्चीयमाना भवथेति ॥

“जर्हं उददधदिति । परिश्रितः जर्हं मुखं अवस्थापयन् “जर्हंचितः श्रयध्व मिति” † मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः । तदेतत् सूचितं कात्यायनेन — “परिश्रिद्धिः परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चितः स्येति ‡ ।

“समुद्रो विजत इति । अब्रूपाणां परिश्रिता मूर्धं मुखत्वात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽपि जर्हं एव विजते । “ओ विजी

\* वा० सं० १२. ४६. ३ क ।

† वा० सं० १२. ४६. ३ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

भयचलनयोः” \* । कञ्जोलैरुर्ध्वं चलति , समुद्र इत्यर्थः ; न तु तिर्ग्रन्त्वां कृत्वा भूमि मावृणोति † ।

तिर्यगुपधाने दोष माह— “अथ यत् तिरश्चीरिति । ‘तिरश्चीः’ तिर्यगश्चनाः । “सकृद्वेद मिति । युगपदेव ‘इदं सर्वं’ जगत् ‘समुद्रो निर्मृज्यात्’ ‡ निःशेषेण प्रक्षालयेत् , सर्वं समुद्रे प्रविलीयेत् § इत्यर्थः । सादनं सूददोहसाधिवदनञ्च ईष्टकाधर्मतया प्रसक्तम् , अत्र निषेधति— “न सादयतीति । उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तथा देवतयेत्युपहितस्य सादनम् ; “ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः ॥ सूददोहाः , तेनाधिवदनं सुपरिष्ठाद् वदनम् , सर्वेष्टकासाधरणो धर्मः ¶ ; तदुभयं परिश्रिदुपधाने न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः— ‘असन्ना ह्यापः’ क्वचित् क्वचित् सोदन्ति ; प्रवहणशोलत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सूददोहसो निषेधं मुपपादयति— “अस्थीनि वा इति । अस्यात्मिका हि ‘परिश्रितः’ शर्कराः ; तस्मादृश्यात् । “अस्य सूददोहसः”—इति सूददोहः-शब्दयुक्तो मन्त्रः ‘सूददोहाः’ ; स च प्राणात्मकः खलु । सूदं शोभनं सुदकम् दोग्धि, येन सिक्तं सत् रसं न शुष्यति ; वस्त्रिजङ्घे प्राणः सञ्जातो नास्ति , तत् काष्ठवत्

\* तु० व्या० ६ धा० ।

† ‘ऊर्ध्वं एव विजते आप्नोति’ , न तु कृत्वां भूमि मावृणोति ! विजति आप्निकर्म्म—इति च , ज ।

‡ ‘निर्मृज्यात्’—इति मूलपाठः ५ ए० ११.पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘स च समुद्रे प्रति लीयेत’—इति ज ।

॥ वा० सं० १२. ५५ ।

¶ ‘मन्त्रः’—इति ज ।

शुष्क मेव भवति ; अतः प्राण एव सूददीक्षाः । तर्था चास्त्रि-  
संजुतासु परिश्रित्यु नासो कर्तव्यः ; न खल्वस्त्रिषु प्राणोऽस्ति ,  
नाङ्गोऽप्येव हि तस्य सञ्चार इत्यर्थः । “चितः स्थितेकेनैव यजुषा \*  
बहूनां परिश्रितां स्थापनं सुपपादयति—“एकेनेति । ‘उपदधाति’-  
चोदितत्वात् परिश्रितां मिष्टकात्वम् । अत एवाहापस्तम्बः—  
“सुचौ सप्त स्वयमाह्वयाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च घृतेष्टका  
दूर्वास्तम्बः कूर्मं उलूखलं सुसलं शूर्पं मश्लानः पशुशिरांसि  
सर्पशिरश्चासृक्षयोरिष्टकाः”—इति † । “एकं ह्येतदिति । आप  
इति यत् , तदेक मेव हि रूपम् , एकरूपा एव हि  
लक्ष्यन्ते , अतः ‘एकेन यजुषा’ परिश्रिद्रूपाणां मया सुपधानं  
युक्तं मिति ।

“बह्वो ह्येति । ‘हि’ यस्मात् ‘आपः’ ‘बह्वः’ बहुविधाः ,  
तस्मात् तदामिकाः ‘परिश्रितः’ अपि ‘बह्वो भवन्ति’ बहुशब्दाद्  
“वोतो गुणवचनात्”—“बह्वादिभ्यश्च”—इति ‡ डोप् ॥ १५ ॥

परिश्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तीति—  
“तद्वै योनिरित्यादिना । ‘तद्वै’ तच्च जषसिकतापरिश्रित्यु मध्ये  
‘परिश्रितः’ शर्कराः ‘योनिः’ गर्भनिर्गमणमार्गः । ‘उख-संजुता  
जषाः , रेतः-संजुताः सिकताः , अतो योनि-संजुतानां परिश्रिता  
सुखवात्मकेभ्यो बाह्यत्वम् , जषाणाञ्च तत आन्तरत्वं सुपपन्न  
मित्यर्थः । “बाह्य जषा भवन्तीत्यादि । उखसंजुतत्वादूषाणां  
बाह्यदेशवर्त्तित्वम् , रेतःसंजुतत्वात् सिकतानां मध्यन्तरत्वं

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† व्याप औ० छ० १६. १२. १० ।

‡ पा० छ० ४. १. ४४ , ४५ ।

सुक्तः मित्यर्थः । “बाह्यं” इति । लोकप्रसिद्धीप्रपादनम् ।  
 “एतेभ्यो वा इति । योन्युत्पत्तौभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते  
 लोके । तथा च ‘एनम्’ अग्निं ‘तेभ्य एव’ योन्यादिभ्यः इदानीं  
 ‘जनयति’ ॥ १६ ॥

इत्थं संस्कृतगार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिर्चयनं विधत्ते — “अथैन  
 मिति । ‘अथ’ अनन्तरम्, सिकतात्मना सितस्य रेतसः यस्मात्  
 कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, ‘अतः’ कारणात् ‘एनं’  
 व्युद्भूतादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेश मिष्टकाभिः ‘चिनोति’ ।  
 ‘इद मेव’ सिकतारूपेण ‘सितं रेतः’ ‘एतत्’ एतेन चयनेन  
 ‘विकरोति’ विज्ञात मवयवयुक्तं करोति । “तस्मादिति लौकिको-  
 दाहरणम् ॥ १७ ॥

त्रिहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानां सुपधानप्रकारं  
 विधत्ते — “स चतस्र इति । गार्हपत्यायतनस्य मध्ये प्रथमं  
 ‘चतस्रः’ ‘प्राचीः’ प्रागायताः इष्टकाः उपदध्यात् । ततः  
 ‘पश्चात्’ पश्चाद्भागे ‘तिरश्चो’ तिर्यगायते ‘हे’ इष्टके उप-  
 दध्यात् । तथा चतस्रणां ‘पुरस्तात्’ अपि हे तिरश्चो उपदध्यात् ।  
 एतासु त्रिविधास्त्रिष्टकासु अवयवकृतिं करोति — “तद्या-  
 चतस्र \* इत्यादिना । “स आमेति । मध्यदेश इत्यर्थः । “चतु-  
 र्विधो ह्यय मिति । त्वगसृङ्मांसास्त्रिभेदेन, मनोबुद्धाहङ्कार-  
 चित्तैर्वा, जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयेन वा आत्मकश्चातुर्विध्यम् ।  
 सक्थ्याविति । सक्थिः श्रोणिः, तेन च पादौ लक्ष्यते ; पश्चा-  
 दुपहिते इष्टके पादावित्यर्थः । पादपाण्ड्युक्तस्यास्य शरीरस्य

\* ‘तद्याचाचतस्र’—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ; भाष्ये तु  
 सर्वत्रैव ‘तद्याचातस्र’—इति

किन्तु शिर इत्यत आह— “यत्र वा इति । ‘यत्र’ खलु  
‘आत्मा’ मध्यदेहो वर्तते , तत्रैव ‘शिरः’ आत्मन्येवान्तर्भूत मिति  
अतो न पृथग् वक्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तं वा इत्यादि । ‘अत्र’ अस्मिन् गार्हपत्यायतनस्थाने ‘तम्’  
एव ‘एतम्’ अग्निं पादाभ्यां पुच्छेन च युक्त मेव ‘विक-  
रोति’ ; मध्ये चतस्रः , उभयपार्श्वयोः द्वे द्वे, इत्येव सुपधीय-  
मानत्वात् । “यादृग् वा इति । ‘योनौ’ गर्भाशये अवस्थितं  
‘रेतः’ गर्भः , यादृशाकारं ‘विक्रियते’ विशिष्टावयवं क्रियते ,  
जननसमयेऽपि तादृशाकारविशिष्ट मेवापत्यं ‘जायते’ ।

इत्थं लौकिकीं स्थितिं मुक्ता प्रकृते योजयति— “तद्यदिति ।  
‘तत्’ तत्र ‘एतम्’ अग्निम् ‘अत्र’ गार्हपत्यायतनयोनी ‘यद्’ यस्मात्  
‘पक्षपुच्छवन्तं विकरोति’ सूक्ष्मरूपेण निर्मिमीते , ‘तस्मात्’  
‘एषः’ अग्निः ‘अमुत्र’ आहवनीयस्थाने ‘पक्षपुच्छवान्’ ‘जायते’  
जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

“तं वा इति । “न पक्षपुच्छवन्तं मिव पश्यन्तीति । सता  
मपि पक्षपुच्छानां मदर्शनं योन्या मनभिव्यक्तेर्वा भवति \* । एतं  
लौकिकोदाहरणेनोपपादयति— “तस्मादिति † । “यथारूप  
मिति । विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूप मित्यर्थः ।  
“अथैनं मसुत्रेति । ‘एतम्’ अनभिव्यक्तरूपं मग्निम् ‘अमुत्र’  
आहवनीयस्थाने अभिव्यक्तं ‘पक्षपुच्छवन्तं’ यस्मात् ‘पश्यन्ति’,  
‘तस्मात्’ एव कारणात् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भजन-  
नात् ऊर्द्धं ‘यथारूपम्’ अभिव्यक्तावयवं ‘पश्यन्ति’ इत्यर्थः ॥ २० ॥

“स चतस्र इति । “आत्मा ह्येवाग्र इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेहः ‘एव’ ‘सम्भवतः’ उत्पद्यमानस्य प्राणिनः ‘अग्रे’ प्रथमतः ‘सम्भवति अभिव्यक्तो भवति , तस्मादात्मसंस्तुता इष्टकाः पूर्वं सुपदध्यादिति युक्तम् । तस्मिन्सुपधाने धर्मविशेष माह— “दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुख आसीनः चतस्रणां मध्ये ‘प्रथमाम्’ इष्टकाम् ‘उत्तरार्द्ध्याम्’ उत्तरार्द्धे भवाम् , उत्तरभागेऽवस्थिता सुपदध्यात् । “दिक्पूर्वपदावृत्तेति उत्तरार्द्ध्यात् प्रत्ययः \* । उत्तरार्द्ध्यायाः प्रथम सुपधाने प्रयोजन माह— “तथो हेति । तथैव खलु ‘अस्य’ दक्षिणतोऽवस्थितस्य अत्र्योः ‘एषः’ अग्निः ‘अभ्यात्मम्’ आत्माभिमुख मेव ‘चितो भवति’ ॥ २१ ॥

चतस्रणा सुपधाने “अयं सो ऽअग्निरित्याद्याश्वत्वारी मन्त्राः †, इत्यभिप्रेत्य प्रतीक सुपादत्ते— “अयं स इति । तथाच कात्यायनः— “मध्येऽर्द्धवृत्तीत्यतस्त्रो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति , दक्षिणत उदङ्मुखं सो ऽअग्निरिति प्रत्युच मिति ‡ ॥

तत्र प्रथमाया ऋचोऽय मर्थः §,— ‘सः’ चीयमानो गार्हपत्योऽग्निः ‘अयं’ भूलोक एव । ‘यस्मिन्’ शरीरभूतेऽस्मिन् भूलोके जठरमध्ये ‘वावशानः’ कामयमान इन्द्रः ‘सुतम्’ अभिषुतं ‘सोमम्’ तत्कारणभूता वृष्टिलक्षणाः अपः ‘दधे’

\* पा० सू० ४. ३. ६ ।

† वा० सं० १२. ४७—५० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ८ । “अर्द्धवृत्तीरिष्टकाः” ।

§ अयं पाठः,— “अयं सो अदिर्यस्मिन्सोम मिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ! सहस्रिधं वाज मत्स्रं सप्रिं ससवान्स्त्रयसे जातवेदः ॥”

अधत्त । ‘सहस्रियं’ सहस्रोपकारजनकं ‘वाजम्’ मङ्गल्यं मन्त्रम्,  
 ‘समिं’ सरणशीलम्, ‘अत्थं’ सततगामिनम्, ‘अत्थं न’ अथ  
 मिव । नेत्युपमार्थे \* । ‘ससवान्’ सभक्तवान् । “वनवण  
 सभक्तौ”—इत्यस्मात् † कसौ रूपम् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः  
 सन् हे ‘जातवेदः’ जातः जातः वेदितः अग्ने ! ‘स्तूयसे’ आह-  
 वनीयात्मना चीयमानः तद्धारणमग्नैः प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः ॥

एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति— “अयं नै लोक इत्या-  
 दिना । “मध्यं वै जठर मिति । देहमध्यवाचिना जठरशब्देन  
 भूलोकस्य मध्यं मन्त्रं लक्ष्यते । “आपो वै सहस्रिय इति । उप-  
 काराणां सहस्रेण सन्धितः ‘सहस्रियः’ । “सहस्रेण सन्धितौ  
 घः” ‡ । तथाविधो वाजोऽस्य मङ्गल्यं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे— “अग्ने यत्त इति ।  
 अस्य मन्त्रस्यायं मर्थः §,— हे ‘अग्ने !’ ‘यत्’ ‘ते’ त्वदीयं  
 ‘वर्चः’ आदित्यात्मकं ज्योतिः ‘दिवि’ वर्त्तते, तथा ‘पृथिव्यां’,  
 भूलोके ‘यद्’ वर्चः दाहपाकप्रकाशनसमर्थं मग्न्यात्मकं ज्योति-  
 रस्ति, ‘ओषधीषु’ तरुशुल्काद्यासु, ‘अप्सु’ ‘आ’ आकारः  
 समुच्चये, उदकेषु जाठरवाडवरूपेण, हे ‘यजत्र’ यजनीयान्ने !,  
 त्वदीयं यत् तेजोऽस्ति, ‘येन’ वाय्वात्मना तदीयेन रूपेण ‘उरु’  
 विस्तीर्णम् ‘अन्तरिक्षम्’ ‘आततन्य’ आतनोषि, हे अग्ने ! ‘त्वेष्टः’

\* निरु० १. २. १ ।

† आ० प० ४६४ धा० ।

‡ पा० सू० ४. ४. १३५ ।

§ तस्यायं पाठः— “अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वस्मा  
 यजत्र । येनान्तरिक्षं सुष्माततन्य त्वेष्टः स भागुरर्णवो वृचक्षाः”—इति ।

दीप्यमानो महानित्यर्थः । 'सः' अग्निः वाय्वादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्य अवस्थितः, तदीयो 'भानुः' प्रकाशः 'अर्णवः' समुद्रोपमः सन्, 'नृचक्षाः' सर्वेषां नृणां द्रष्टा, प्रकाशको भवति ॥

अयं मेवार्थः श्रुत्वा प्रतिपाद्यते— "आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इत्यादिना ॥ २३ ॥

तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे \*— "अग्ने दिव इत्यादि । हे 'अग्ने !' अस्य 'दिवः' अन्तरिक्षस्य सम्बन्धि 'अर्ण' मेघस्य मुदकं 'अच्छ' अभिलक्ष्य, धूमेन 'जिगासि' व्याप्नोषि । तथा अध्यात्मं 'ये' प्राणरूपाः 'देवान्' धियाः 'इष्टान्ति' व्याप्नुवन्तो वर्त्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण 'जचिषे' समवेषि । "उच सभवाये"—इति † धातुः । तथा 'याः' 'आपः' 'रोचने' रोचमाने सूर्यलोके वर्त्तमानस्य 'सूर्यस्य' 'परस्ताद्' उपरिभागे वर्त्तन्ते, 'याश्च' 'अवस्तात्' अधोभागे 'उपतिष्ठन्ते' वर्त्तन्ते, आसा मात्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति— "आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति । "एष धूमेनेति । भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः 'एषः' अग्निरित्यर्थः । "प्राणा वै देवा इति । दीव्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति 'देवाः प्राणाः' इन्द्रियाणि । "ते हि सर्वा इति । 'हि' यस्मात् 'ते' प्राणाः 'सर्वाः धियाः' शब्दादिविषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि 'इष्टान्ति' आभीक्ष्णेन व्याप्नुवन्ति । "इष आभीक्ष्णे"—

\* तस्यार्थं पाठः— "अग्ने दिवो अर्णं भच्छ जिगास्यच्छा देवाः जचिषे धियाः ये । या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः"—इति ।

† दि० प० ११७ घा० ।



इति क्रैयादिको धातुः \* । तस्मादेते धिष्णश्शब्देन भन्ते  
विवक्षिताः । “याश्चैतं परेणेति । एतस्मात् सूर्याददूरेण परभङ्गो  
इत्यर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इत्येनप् †, “एनपा द्वितीया”—इति  
द्वितीया ‡ ॥ २४ ॥

“पुरीष्वासो अग्नय इति । चतुर्थो मन्त्रः § । अस्याय मर्थः,—  
पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लीक मिति ‘पुरीषं’ पशवः, तेभ्यो हिताः  
‘पुरीष्वाः’ । “आज्जसेरसुक् ॥” । तथाविधाः ‘अग्नयः’, ‘प्रावणेभिः’  
प्रवनसम्बन्धिभिः सभञ्जनयुक्तैस्तेदेवैः ‘सजोषसः’ समानप्रीतयः  
सन्तः अस्मदीयं ‘यज्ञं’ ‘जुषन्ताम्’ सेवन्ताम् । तदनन्तरम्  
‘अद्रुहः’ द्रोहरहिताः, ‘अनमोवाः’ अमोवा अशनाया, तद्र-  
हिताः । ‘महीः’ महतीः ‘इषः’ अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छ-  
न्त्विति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“पशव्यासो अग्नय इत्येत-  
दित्यादिना । “प्रायणरूप मिति । ‘प्रावणेभिः’—इति मन्त्र-गतः  
‘प्र’-शब्दः ‘प्रायणरूपम्’ प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम् ।  
गार्हपत्यचितिश्च ‘अग्नेः’ अग्निचयनस्य प्रायणम् प्रारम्भः ;  
अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः । अनमोवा इत्यस्यार्थं  
माह—“अनशनाया इति । अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा ,

\* ऋ० प० ५२ धा० ।

† पा० सू० ५. ३. ३५ ।

‡ पा० सू० २. ३. ३१ ।

§ तस्यार्थं पाठः—“पुरीष्वासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।  
जुषन्तां यज्ञं मदहोऽनमोवा इषो महीः”—इति ।

॥ पा० सू० ७. १. ५० ।

न विद्यते सा यासां ताः ‘अनशनायाः’ । “अशनायीदन्धनायाः”  
 \* इति \* बुभुक्षार्यां क्वचि त्वाभावो निपात्यते ॥ २५ ॥

एतासा मिष्टकानां क्रमेण कृतमुपधानं मनूय स्तौति—  
 “नानोपदधातीति । ‘नाना’ पृथगीकैकेष्टका मुपदध्यात् । तेन †  
 ‘ये’ ‘आत्मन्’ आत्मनि स्थिताः नानाविधाः कामाः, तान्  
 सर्वान् सङ्कीर्णं पृथगीव ‘दधाति’ स्थापयति । सादनसूददो-  
 हसोः सकृत्त्वं विधाय स्तौति— “सकृत् सादयतीत्यादिना ‡ ।  
 तथा देवतयेति यत् सादनम्, तत् चतसृणां मिष्टकानां  
 सम्भूय सकृदेव कर्त्तव्यम् । ‘तत्’ तेन सकृत्त्वेन ‘आत्मा-  
 नम्’ ‘एकम्’ एकाकारम् संहतं ‘करोति’ । पृथक् साद-  
 नेन आत्मा विक्षिष्टः स्यात्, “ता अस्मि सूददोहस इति § मन्त्रेण  
 ग्रदधिवदनम्, तदपि सादनस्य सकृत्त्वात् सकृदेव कर्त्तव्यं  
 मित्यर्थः । अत एव सर्वेष्टकोपधानस्याधारणधर्मत्वेन सादनसूद-  
 दोहसो कात्यायननोक्तौ— “नित्ये सादनसूददोहसा ऽउपधाना-  
 दुत्तरे तथा देवतया ता अस्थेत्यविशेषोपदेशात्”—इति ॥ । “प्राणि-  
 नैवेन मिति । ‘एनम्’ आत्मानम् ‘एतत्’ एतेनाधिवदनेन ‘सन्त-  
 नोति’ संयोजयति । तस्यैव विवरणम्— “सन्दधातीति ॥ २६ ॥

पश्चिमावयोरिष्टकयोरुपधानप्रकारं माह— “अथ जघने-  
 नेति ¶ । मध्येष्टकोपधानानन्तर्यं मथ शब्दार्थः । ‘जघनेन परीत्य’

\* पा० सू० ७. ४. ३४ ।

† ‘ततः’—इति ज ।

‡ का० औ० सू० १७. १. ६ ।

§ वा० खं० १२. ५३ ।

॥ का० औ० सू० १६. ७. १४, १५

¶ का० औ० सू० १७. १. ११ क ।

गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य , 'उत्तरतः' उत्तरस्थां दिशि दक्षिणामुखः 'आसीनः' सन् 'अपरयोः' पांश्चात्ययोरिष्टतद्वोः 'दक्षिणां' दक्षिणेभागस्था मिष्टकाम् 'अग्ने' प्रथमम् 'उपदधाति' ।  
 "इडा मग्न इति \* मन्त्रेण ॥

तस्याय मर्थः ;— हे 'अग्ने !' 'हवमानाय' हवनं कुर्वते यजमानाय 'इडां' पशुं । जातावेकवचनम् † । गवा-  
 खादिपशून् 'साध' साधय । पशुरेव ‡ दिशेयते— "पुरदंस  
 मिति । दंस इति कर्मनाम § , बहुकर्महेतुभूतम् , अन्त्यलोप-  
 ष्छान्दसः । 'शश्वत्तमं' शाश्वतिकतमञ्च पुत्रपौत्रादिरूपेणा-  
 विच्छेदेन सर्वदा वर्त्तमानम् ॥ । 'गोस्मनि' गवादिपशूनां  
 दातारम् । 'अस्मै' यजमानाय 'साधय' सम्पादय । अपि च  
 'नः' अस्माकं 'तनयः' पुत्रः , 'सूनुः' तत्पुत्रश्च , 'विजावा'  
 विविधानां जनयिता स्यात् , उत्पाद्यता मित्यर्थः । जनेर्वि-  
 पूर्वात् "अन्त्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"—इति ¶ वनिप् , "विडुनोरनुनासि-  
 कस्यात्"—इत्यात्वम् \*\* । किं बहुना हे 'अग्ने !' त्वदीया सा  
 'सुमतिः' सर्वश्रेयोनिदानभूता कस्याणी बुद्धिः 'अस्मै' अस्मासु  
 'भूतु' भवत्वित्यर्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५१ ।

† पा० छ० १. २. ५८ ।

‡ 'एतदेव'—इति ज-पुस्तकादन्वयः ।

§ निघ० २. १. ३ ।

॥ 'पुत्रपौत्रादिरूपेण सर्वदा वर्त्तमानम्'—इति छ , च , छ ।

¶ पा० छ० ३. २. ७५ ।

\*\* पा० छ० ६. ४. ४१ ।

एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे— “पशवो वा इडेति । इडा  
 . चक्षुः मनोर्दुहिता । तेनासु इतैर्वृतदधिमस्त्वामिचारापैर्द्रव्यै-  
 रत्यम्ना । एतच्च “तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स दृतम्”—इत्यादिना  
 प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् \* । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्न-  
 त्वादिडायास्तद्वाचिनेडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते ।  
 पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययग्न्यान्दसः । पशूना मेवेति  
 'कर्मणि षष्ठी ; . पशुविषयाम् 'आशिवं' प्रार्थनाम् 'अस्मै'  
 यजमानाय अर्घ्यः 'आशास्ते' । “यजमानो वै हवमान इति ।  
 देवानाह्वयति , तेभ्यो जुहोतीति वा , हवमानशब्दो यजमान-  
 वाचीत्यर्थः । “प्रजा वै सूरुरिति । तनय-शब्देन पुत्रस्य  
 प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः सूरु-शब्देन प्रति-  
 पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—  
 “अथोत्तरा मिति † । उपदधातीति शेषः । मन्त्रस्याय मर्थः ‡ ,  
 — हे 'अग्ने !' 'ऋत्वियः' ऋतौ भवः , 'सनातनः' 'अयं'  
 भूप्रदेशस्तव 'योनिः' उत्पत्तिकारणम् । 'यतः' यस्माद्योनिः  
 'जातः' सन् 'अरोचथाः' अदोष्यथाः , 'तं' योनिभूतं देशं  
 'जानन्' 'आरोह' प्राप्नुहि । 'अथ' अनन्तरम् 'नः' अस्माकं  
 'रयिं' धनं 'वर्धय' ॥

मन्त्रस्यैत मर्थं प्रतिपादयति— “अयन्त इत्यादिना § ।

\* १ भा० ५२५ पृ० १५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† का० औ० सू० १७. १. ११ क ।

‡ वा० सं० १२. ५२ ।

§ का० औ० सू० १७. १. ११ ख ।

“ऋत्विय इति । मन्वपदस्यार्थः मन्वः \*— “ऋतव्य इति । ऋतो भव इति विष्टञ्च “इन्दसि घस्”—इति † धस्यत्वये ऋत्विय इति रूपम् , तथा च ऋतव्य इति तस्यार्थो भवति ‡ । ‘सनातनः’—इति ऋतव्यपदव्याख्यानम् ; ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवः अग्निः ‘सनातनः’ नित्य इत्यर्थः । तथा च ‘जातः’—इति प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम् , नोत्पत्तिः । “अदीप्यथा इत्येतदिति । “रुच दीप्ताग्निप्रोत्पद्येति § रुचिधातोरनेकार्थत्वादत्र दीप्तार्थो विवक्षित इति भावः । “यथैव यजुरिति । यजुर्मन्त्रो यथैव प्रतिपादयति , तथैव तस्य ‘बन्धुः’ बन्धनोयं व्याख्यानम् ॥ ; स्पष्टार्थतया न पृथक् व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एतयोः पाञ्चात्ययोः इष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यता माह— “सक्थ्यावित्यादिना । ‘अस्य’ अग्नेः ‘सक्थ्यौ’ ओष्णौ ‘एते’ इष्टके ; अतः ‘ते’ ‘नाना’ पृथगुपदध्यात् । सादनघृददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्तव्ये । तत्र कारण माह— “नाना होमे इति । ‘हमे’ मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ ‘हि’ यस्मात् ‘नाना’ पृथगसंज्ञिते भवतः , तस्मात् तत् संसु-

\* वा० सं० ३. १४ ; १२. ५२ ।

† पा० छ० ५. १. १०६ ।

‡ “ऋत्वियः । ऊपादनयोग्यः काल ऋतुरुच्यते । ऋतुः ‘प्राप्नो-  
त्येति ऋत्वियः । इन्दसि घसिति ऋतुशब्दान्तस्य प्राप्त मित्यर्थे  
घस् , तस्य इयादेशः । सायम्प्रातःकाले उत्पादनयोग्यः”—इति मही० ।

§ भा० आ० ७४५ धा० । “रुच दीप्तावतिप्रोत्पद्येति”—इति तत्र पाठः ।

॥ ‘बन्धुः’ बन्धनोयं ( ? बन्धनोयं ? ) व्याख्यातः—इति ज-पाठः ।

तयोः' इष्टकयोरप्यसंज्ञेषो युक्त इत्यर्थः । "हे भवत इति ॥  
 . . पञ्चाङ्गागोपधानं भनूय स्वीति— "पञ्चादिति । "पञ्चाङ्गीमे  
 इति । 'हि' 'यस्मात्' 'इमे' दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिन्धौ  
 सक्थौ 'पञ्चाद्' भागे शरीरस्यापरभागे भवतः , तस्मा-  
 दनयोः पञ्चादुपधानम् युक्तम् । अग्रप्रदेशेन तयोः परस्पर-  
 संसर्गं विधत्ते— "अथाभ्या मिति । आत्मसमीपे अग्रदेशः ,  
 तत्रैते 'संसृष्टे' भवत इत्यर्थः । "एवं हीमे इति । लौकिकं  
 निदर्शनम् ॥ २८ ॥

पूर्वाङ्गयोरुपधानप्रकार माह— "अथ तेनैवेति \* । येन मा-  
 र्गेण पाञ्चात्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम् , तेनैव पुनः 'दक्षिणतः'  
 'परीत्य' परिक्रम्य , तत्रोदङ्मुखः 'आसोनः' 'पूर्वयोः' इष्टकयोः  
 मध्ये 'अथे' प्रथमम् 'उत्तरा उपदधाति' । "चिदसीति तस्य  
 मन्त्रः † । अनन्तरम् , 'दक्षिणाम्' उपदधाति "परिचिदसीति ‡ ॥

तन्मन्त्रयोरय मर्थः ,— भोगांश्चिनोति सम्प्रादयतीति चित् § ।  
 हे इष्टके ! त्वं 'चित्' चेतयमाना वागसि [ भोगांश्चिन्वा-  
 नासि । या देवता त्वा मभिमन्यते ॥ ] । तथा वायूपया 'देव-  
 तया' 'अङ्गिरस्वत्' अङ्गिराः प्राणाः । "प्राणो हि वा अङ्गानां  
 रसः"—इति ¶ तन्नामव्युत्पत्तेः । सोऽस्यास्तीत्यङ्गिरस्वत् । क्रिया-

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १२ ।

† वा० सं० १२. ५३. १ ।

‡ वा० सं० १२. ५३. २ ।

§ 'चीयत इति चित् । यदा'—इत्यादि महीधरः ।

॥ बन्धनीचिह्नान्तःप्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमाले अधिकः ।

¶ शत०. ब्रा० ६ का० १ प्र० २ ब्रा० २८ सू० ।

विशेषण मेतत् । “तसौ मत्वर्थे”—इति \* भत्त्वादुत्वाभावः । तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्ता असौत्वर्थः । ‘ध्रुव’ स्थिरा सती ‘सौत्’ निष्पन्ना भव ॥

परिचिदसोति द्वितीयो मन्त्रः । परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमानासौत्वर्थः † । ‘सक्त्वावस्थैते’—इतिवद् ‡ ‘बाह्व अस्थैते’—इति व्याख्येयम् ॥

एतासा मिष्टकाना मुपधानस्य प्रादक्षिण्य मुपनयेन दर्शयन् स्तौति— “स वा इतोमा इति । ‘इमाः’ मध्ये उपधीयमानाश्चतस्र इष्टकाः आत्मन उत्तरार्धं मारभ्य दक्षिणा उपदधाति § । ‘इमे’ पाश्चात्ये इष्टके ‘इति’ प्रथमं दक्षिणाद्वर्गाम्, पश्चादुत्तरार्धगा मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा ‘इमे’ पौरुष्ये इष्टके प्रथमं मुत्तराद्वर्गाम्, पश्चाद् दक्षिणाद्वर्गाम् मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । ‘तत्’ तथा सति ‘दक्षिणावत्’ प्रादक्षिण्येन वर्त्तनम् भवति खलु, ‘देवचा’ देवेषु योग्य मित्यर्थः ॥ ३०, ३१ ॥

अथोपहिताना मिष्टकानां सन्भूय सङ्ख्यां प्रशंसति— “अष्टाविष्टका इति । “गायत्रोऽग्निः”—इत्यष्टाक्षरपादेन गायत्रीच्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वादग्नेर्गायत्रत्वम् ॥ । सादनसङ्ख्या मनूय स्तौति— “पञ्च कृत्व इति । मध्ये उपधेयस्य

\* पा० सू० १. ४. १६ ।

† ‘परिचीयमाना वागसौत्वर्थः’—इत्येव क, च, छ ।

‡ नवमकर्णौ, तद्भाष्यस्य द्रष्टव्यम् (१०, ३६ पृ०) ।

§ का० औ० सू० १७. १. १३ ।

ते० सं० ७. १. १. ४

इष्टकांचतुष्टयस्य एकं सादनम्, अन्यासां चत्वारोति पञ्च भवन्ति । “पञ्चचितिकोऽग्निरिति । पञ्च चितयः प्रस्ताराः यस्मिन् स तथोक्तः । “पञ्चर्त्तव इति । हेमन्तशिशिरयोः समास-  
मिप्रायेण \* । “संवत्सरोऽग्निरिति । संवत्सरः प्रजापतिर्विराट्, तदात्मकधीयमानोऽग्निः प्रागुक्त इत्यर्थः । सङ्गहादयं सम्भूय प्रशंसति — “अष्टाविष्टका इति । “त्रयोदश मासा इति । संस-  
र्गाहस्यति(?)†)सञ्ज्ञकोऽधिमासस्त्रयोदशः ; “अस्ति त्रयोदशो मास इति”—इति श्रुतेः ‡ । “त्रयोदशान्नेरिति । चित्यस्यान्ने-  
श्चितिपुरीषाणि त्रयोदश भवन्ति । आदितश्चतस्रश्चितयः पुरीष-  
निवपनान्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमौ चितिः । तदनन्तरभाष्येकं  
पुरीषम्, नाकसत् प्रभृति पुरीषनिवपनान्ता षष्ठौ चिति-  
रिति हे, ततो विकर्णस्त्रयमादृश्योरुपधानं हिरण्यशकलैः  
प्रोक्षण मग्न्यभ्याधानश्चेति सप्तमौ चितिः, सा त्रयोदशी,  
इत्यादिर्विभाग ज्ञः § ॥ ३२ ॥

लोकमृणाख्याया इष्टकाया उपधानं विधत्ते — “अथेति ।  
एव अष्टाविष्टका उपधाय, अनन्तर मवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने  
लोकमृणाख्या मिष्टका सुपदधाति ; लोकां शिष्टं स्थानं  
पृष्ण पूरयेति तस्मिन्ने ॥ प्रतिपादनात् । “तस्या उपरि बन्धु-  
रिति । ‘तस्याः’ लोकमृणायाः ‘उपरि’ उपरिष्ठात्, अष्टम-

\* ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

† सर्वेष्वेव पुस्तकेष्वेव मेव पाठः ।

‡ शत० ब्रा० प्र० ४. २. ५. ५ ।

§ हे इत्यादि ग्रन्थो ज-पुस्तकादभ्यस्य नास्ति

॥ वा० बं० १२. ५४ अष्टवम् ।



एतदेव विवृणोति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘यत्’ यस्मात्  
 ‘एताः’ परिश्रितः इष्टकाश्च ‘एवं’ प्रत्येकं मेकविंशतिसङ्ख्याकाः  
 ‘उपदधाति’, ‘एतत्’ एतेन कारणेन ‘एतावेव’ अग्न्यादित्यौ  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ ‘प्रतिष्ठापयति’ । अत एवेदानीं ‘तौ’ एव  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ’ दृश्येते । आदित्यौ रात्रावग्निं प्रविश्य  
 प्रतितितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्त मादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितौ  
 भवति । एतच्चाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रतिपादितम् \* । तयोरुभयो-  
 रप्यत्र सन्निधानं माह “तौ वा इति । परिश्रिदिष्टकासङ्ख्याया  
 द्वयोरैकविंशयोरत्र सम्भादनात् ‘इमौ’ अग्न्यादित्यौ ‘उभौ’  
 अपि ‘अत्र’ चित्याग्नौ सन्निहितौ ‘भवतः’ ; तत्राहवनीय-  
 चित्तिरूपेणादित्यौ वर्त्तन्ते, गार्हपत्यचित्तिरूपेणाग्निरिति, तयो-  
 र्विभाग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरीषनिवपनं विधत्ते— “अथ पुरीष मिति † । इष्टकासन्धिषु  
 छिद्रपूरणार्थाः पांशवः पुरीषम् । तस्मात् ता उपरि प्रक्षिपती-  
 त्यर्थः । “तस्योपरि बभ्रुरिति । ‘तस्य’ पुरीषनिवपनस्य प्रयोजन-  
 प्रतिपादको वाक्यशेषः । “इन्द्रं विश्वा अवीदधन्निति, तन्मन्त्र-  
 विधिश्च उपरिष्ठादष्टमकाण्डावसाने ‡ आन्त्रास्यतं इत्यर्थः ॥

पुरीषाहरणस्थानं विधत्ते— “तच्चात्वालेति । उत्तरवेद्य-

\* “अग्निं वावाहितः सायं प्रतिश्रति, तस्मादग्निर्दराग्नतं दृष्ट्ये ;  
 उभे हि तेजसौ सम्पद्येते ; उद्यन्तं वावाहित्य मधिरनुसमारोहति,  
 तस्माद् धूम एवाग्निर्दिवा दृष्ट्ये”—इति तै० ब्रा० २. १. २. ६, १० ।

उद्धृतच्चास्यैकोऽंशोऽत्र पुरस्तादग्निहोत्रब्राह्मणव्याख्यानेऽपि ( २ का०  
 २ प्र० ४ ब्रा० २ क०—२ भा० १२५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. १८ ।

‡ परस्तात् ८ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० द्रष्टव्यम् ।

यानां पीसूनां निर्हरणस्थानं 'चात्वालः' उत्तरवेद्यंसदेशः ,  
तस्य या वेला समीपम् , ततः पुरीष माहरेदित्यर्थः । तत्  
प्रशंसति — “अग्निरेव इति । आहवनीयान्याधारोत्तरवेदिहेतु-  
त्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता । “तथो हेति । तथैव खलु सति  
'अस्य' चित्वाग्नेः 'एतत्' पुरीष मपि 'अग्नेयम्' अग्निसम्बद्धम्  
'एवं भवति' ॥

इत्थं पुरोषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता , अथ तस्याः प्रान्तेषु  
साम्यं माह — “सा समम्बिला स्यादिति । 'सा' गार्हपत्य-  
चितिः 'समम्बिला' भवेत् । 'समं' समानं बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन न्यूनाधिकाकाररहितं 'बिलं' परितः प्रान्तदेशो यस्याः  
ज्ञा तथोक्ता । “तस्योक्त इति । 'तस्य' बिलसाम्यस्य उखा-  
निर्माणप्रस्तावे स्तावको वाक्यशेष आन्तात् \* इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते — “व्याममाचीति । चतुर-  
रन्निर्व्यामः , स परिमाण मस्याः सा । “प्रमाणे द्वयसच्”-  
इति † मातृच् प्रत्ययः । तत् प्रशंसति — “व्याममात्रो वां इति ।  
तिर्यक् प्रसारितौ बाह्व यावत् परिमाणौ भवतः , तस्य  
परिमाणस्य व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वय मिति व्युत्पत्त्या व्याया-  
म इति सञ्ज्ञा ; स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते ।  
'पुरुषो व्याममाचः' चतुररन्निपरिमित इत्येतत् प्रसिद्धम् ।  
विराडात्मकः 'प्रजापतिः' च तादृक् पुरुषात्मकः । “त एतान्सप्त  
पुरुषानेकं पुरुष मकुर्वन्निति ‡ श्रुत्या प्रतिपादितत्वात् , तादृशो

\* पुरस्तात् ६. ३. ७. २० ।

† पा० सू० ५. २. ५७ ।

‡ पुरस्तात् ६. १. १. ३ ( २४० ७५० ) इत्यम् ।

विराडात्मकः प्रजापतिरिवायं चीयमानः “अग्निः” ; उभयोरपि संस्क्रियमाणरूपत्वसाम्यात् । “आत्मसंस्मिता मिति । चेत्यग्नि-  
स्याग्नेरुक्तरीत्या उरुषत्वात् आत्मना स्वेनाग्निरूपपुरुषेण ‘संस्मितां’  
समानपरिमाणाम् । ‘तत्’ तेन व्याप्तिमात्रकरणेन ‘गार्हपत्य-  
चितिरूपां ‘योनिं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः । परितो मण्डला-  
कारां विधत्ते — “परिमण्डलेति । पारिमाण्डल्यं हेधोपपा-  
दयति — “परिमण्डला हीति ॥ ३७ ॥

गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुक्त्याग्नेश्च चतुर्भिर्मन्त्रैः ‘संसर्जनं’  
विधत्ते — “अथैनाविति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम्, ‘एनौ’  
चित्यौख्यरूपावग्नी ‘सन्निवपति’ सङ्गमयति, इष्टकाभिः चिते  
गार्हपत्यधिष्ठे उख्य मग्निं स्थापयतीत्यर्थः । सन्निवपतीति  
संशब्दसूचितं मर्थं माह — “सञ्ज्ञा मेवेति । ‘आभ्याम्’ ‘अग्नि-  
भ्यां’ । कर्त्तरि ढतीया । ‘सञ्ज्ञाम्’ अग्निद्वयकर्तृकं सञ्ज्ञानम्,  
परस्परैकमत्यम्, एतेन सन्निवपनेन करोतीत्यर्थः । तत्र  
करणभूतानां चतुर्णाम् मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति \* —  
तत्र, “समित मिति प्रथमस्य प्रतीकम्, “सं वा मिति  
द्वितीयस्य, “अग्ने त्वम् पुरीथ इति तृतीयस्य, भवतं न  
इति चतुर्थस्य ॥

ते च मन्त्राः † संहिताभाष्ये एव व्याख्याता इति  
प्रतीकं मत्र व्याख्यायते । हे चित्यौख्यरूपावग्नी ! ‘समितं’  
सङ्गती भवतम् । ‘सङ्ख्येयां’ समानकल्पनी समानक्षामर्थी  
एककार्यकरी भवतम् ( १ ) । हे ‘अग्ने’ ‘वां’ युवयोः

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १६ ।

† वा० सं० १२. ५७—६० ।

‘मनांसि’ ‘समकरम्’ समानविषयाणि कुर्वे । तथा ‘व्रता’  
 “श्रेष्ठन्दसि बहुल मिति \* श्रेष्ठोपः ; ‘व्रतानि’ युवयोः कर्माणि  
 समानानि (२) । हे चीयमानाग्ने ! ‘त्वम् पुरीष्यः’ पशव्यो भवसि  
 (३) । हे अग्नी ! ‘नः’ अस्माकं युवां ‘समनसौ’ समानमनस्वी  
 ‘भवतम्’ (४) । इति चतुर्णाम् प्रतीकानां मर्थः ॥

‘मन्त्राणां तात्पर्यं माह— “शमयत्येवैनाविति । परस्परं  
 विहिषाणी ‘एनौ’ अग्नी ‘एतेन’ मन्त्रकरणकेन निवपनेन ‘शमय-  
 त्येव’ शान्तावेव करोति । तच्च शमनम् ‘अहिंसायै’ हिंसापरि-  
 हाराय ; ‘यथा’ तावन्गी ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं ‘न हिंस्यातां’ हिंसां  
 न कुर्याता मिति ॥ ३८ ॥

चतुर्मन्त्रकरणकम् उख्याग्नेर्गाहपत्यचितिमध्ये निवपनं  
 विधत्ते— “चतुर्भिरिति । ‘सन्निवपति’ नीचैः स्थापयति । “तद्य  
 इति । ‘तत्’ तेन चतुर्मन्त्रकरणकेन सन्निवपनेन ‘ये’ ‘चतु-  
 ष्यादाः पशवः’ गवाश्वादयः , ‘तैरेव’ उपायनभूतैः ‘आभ्याम्’  
 उख्यचित्याककाभ्या मग्निभ्यां ‘सज्ज्ञां’ परस्परैकमत्यं ‘करोति’ ।  
 कारणान्तरं मय्याह— “अथो इति । ‘अन्नं’ खलु ‘पशवः’,  
 सभोजनीयत्वात् ; ‘अन्नेन’ पशुरूपेण ॥ ३९ ॥

रिक्ताया उखाया अर्घ्यकर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्ष्यं निषे-  
 धति— “तां न रिक्ता मिति † । नेदिति परिभये ‡ । ‘रिक्ताम्’  
 उखां ‘नेदवेक्षेत’ पश्यतु नैव । विपचे बाध माह— “यद्रिक्ता  
 मिति । ‘एनम्’ अवेक्षितारं ‘असेत ह’ भक्षयेदेव ॥ ४० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायां रिक्ताया उखायाः सिक-

ताभिः समगर्त्तत्वकरणं विधत्ते— “अथास्यां मिति \* । ‘अस्यां’ रिक्ताया मुखायां सिकता आवपति, यवद्-बिलं पूरयति । वैश्वानरस्थान्नेः ‘एतद्वेतः’ ‘यत्’ याः ‘सिकताः’ शौक्ल्यसामान्यात् । ‘एतत्’ एतेन सिकतानिवपनेन ‘अस्याम्’ उखायां ‘रेतोभूतं’ ‘वैश्वानरम्’ अग्निं ‘सिञ्चति’ स्थापयति । ‘सा’ उखा ‘समम्बिला’ भवेत् ; समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं मुखं यस्याः सा, तथा समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य सुगागम-स्थान्दसः । समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थावादः प्रागुक्त इत्याह— “तस्येति । स च “योनिर्वा इयत्” रेत इद मित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रतिपादितः † ॥ ४१ ॥

उखायाः शिष्यादिमोचनं विधत्ते— “अथैना मिति ‡ । ‘एनां’ सिकतायुक्ता मुखां § शिष्याद् ‘विमुञ्चति’ पृथक् करोति । विमोकप्रयोजन माह— “अप्रदाहायेति । तन्नोपपत्ति माह— “यद्वीति । ‘युक्तम्’ अक्षादि यद्वाहनं ‘न विमुच्यते’ ‘तत् प्रदह्यते’ खलु । उक्तं मर्थं प्रकृते योजयति— “एतद्वा इति । ‘एतद्वा’ एषा खलूखा ‘युक्ता’ सती एतम् ‘अग्निम्’ उख्यम् ‘एतद्वेतः’ रेतोऽवस्थापनम् ‘अभार्षीत्’ धृतवती । ततोऽङ्गतकार्यत्वाद् विमोकोपपत्तिः । धृतस्थान्नेः प्रजनन माह— “त मवेति । ‘अत्र’ अवसरे ‘तम्’ उख्याग्निम् ‘अजीजनत्’ प्राप्नोष्ट ; उखेति शेषः । प्रजननानन्तरतो धारणहारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—

\* का० औ० ख० १७. १. २१ क ।

† पुरस्तात् ६ का० ३ प्र० ५ ब्रा० १६ क० ( ६ भा० २३५ ए० ) द्रष्टव्यम्

‡ का० औ० ख० १७. १. २१ ग ।

§ ‘शून्या मुखां शिक्ताभिः सम्यूर्य’—इति महीधरः ।

“अथापरं मिति । ‘अपरं’ सिकतात्मकं रेतः ‘धत्ते’ धारयति ।

“योषा वा उखेति । सिकतावापोपपत्तिः । “तस्मादिति ।

लौकिकदृष्टान्तप्रदर्शनम् ॥ ४२ ॥

विहिते उखाविमोके मन्त्र मनुष्य व्याचष्टे— “मातेव पुत्र  
मिति \* । पुरीषपदस्य पशव्यत्वं वाच्योऽर्थः । ‘अभाः’-इति शृङ्गः  
प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूप मित्याह—“अभार्षीदिति ;  
“अभारुखा”-इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात् ॥

मन्त्रस्याय मर्थः †,— येय मुखा ‘माता पुत्र मिव’ ; ‘पृथिवी’  
भूमिरूपा ; मन्त्रयौत्वात् । ‘पुरीषम्’ ‘पशव्यम्’, पशुभ्यो हित  
मिति यावत् । तादृशम् ‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’ स्वकीये गर्भस्थाने  
• ‘अभाः’ अभार्षीत् , धारितवती । ‡ ‘विश्वकर्मा’ सर्वस्य कर्त्ता प्रजा-  
• पतिः ‘ऋतुभिः’ यज्ञं प्रति गच्छद्भिः , विश्वैः सर्वैः देवैः ‘संविदानः’  
अहो महत् कर्म कृत मित्येवं संवादं कुर्वन् , इदानीं कृत-  
कृत्यां सतीं ता मुखां ‘विमुञ्चतु’ शिष्यादिमुञ्चति , पृथक्  
कुरुत इत्यर्थः ।

तस्या उखायाः ज्वलनरूपस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे अरन्निमात्रे  
चितावेव निधानं कर्त्तव्य मित्याह— “ता मुत्तरत इति § ।  
अरन्निमात्रप्रदेशे स्थापनस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागुक्त  
इत्याह— “तस्योक्त इति । “अरन्निमात्राद्धि वृषा योषा मुपशेत  
इति हि षष्ठकाण्डे प्रतिपादितम् § ॥ ४३ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ख ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० १२. ६१ दृश्यः ।

‡ का० श्रौ० सू० ( ‘अभिवत्’ ) १६. २. ५ ।

§ तत्र २ प्र० ३ ब्रा० ३० क० ( ६ भा० १४० ए० ) दृश्यम् ।

सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आर्वेचनं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्याम्’ उखायां ‘पयः’ दुग्धम् ‘आनयति’ आसिञ्चति । पयआर्वेके कारणं सुपपादयति—“एतद्वा इति । एतत् खलु कारणम्,— ‘एतत्’ सिकतालक्षणं ‘रैतः’ उखां ‘धत्ते’ धारयति । ‘अथ’ तदनन्तरं मिदं मानीतं पयो धत्ते । उक्तार्थसाधकं लौकिकदृष्टान्तं प्रतिपादयति— “योषा वां इति । सिकतापयसोरधरोत्तरभावं मनूय स्वीति— “अधराः सिकता इति । “अधर् हि रैत इति । गर्भाशये अधो-भागे स्थितं पुरुषस्य रेतः, स्त्रीवीर्यं शोणितरूपम्, ‘पयः’ ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितं सत् ‘तत्’ पुंवीर्यं वेष्टयति । अत एव षाट्कौ-शिकस्य शरीरस्य त्वङ्मांसासृग्मांसा बाह्यास्त्रयो धातवो मादृशो भवन्तीति स्मर्यते । तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्याभ्यन्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः । आनयनस्थानं विधत्ते— “तस्मध्य इति । ‘तत्’ पयः, उखायाः ‘मध्ये’ ‘आनयति’ आसिञ्चति, यथा तत् पयः प्रति उपधानसमये पुरुषशीर्षं सुपदध्यात् तथेत्यर्थः । अत एवोपधानसमये पुरुषशिरस उखाया सुपधानं सूचितम्— “उखायां प्रत्यञ्चि, सहस्रदा इति † पुरुष-शिर उद्गृह्य मध्ये”—इति ‡ ॥ ४४ ॥ १ ॥

इति त्रैसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ च ।

† वा० खं० १३. ४०

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १३, १४ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

प्रजापतिः प्रजा असृजत । सु० प्रजाः सृष्ट्वा  
 सृष्ट्वं मांजि मित्वा व्यसृजत्सत तस्माद्विसृस्तात् प्राणो  
 मध्यत उदक्रामदथास्माद्दीर्यं सुदंक्रामत् तस्मिन्नुत्  
 क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादुन्न मस्रवद्यच्चक्षुरध्यशेत  
 तस्मादस्यान्न मस्रवन्नो हेह तर्हि का चन प्रति-  
 ष्ठास ॥ १ ॥

ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽद्भुतोऽन्या प्रतिष्ठा-  
 स्तीमं मेव पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति \* ॥ २ ॥

तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽद्भुतोऽन्या प्रति-  
 ष्ठास्ति त्वयीमं पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भवि-  
 ष्यतीति † ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽन्नं प्रजापतिस्त्वन्-  
 मुखा एतदुन्न मदाम त्वन्मुखानां न एषोऽन्न  
 मसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्न म-



दन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्ना-  
वेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद् देवा अन्नं मकु-  
र्व्वन्त ॥ ४ ॥

सु योऽस्मात् प्राणो मध्यत् उदुक्रामत् ।  
अयं मेव सु व्यायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्दीर्यं मुदु-  
क्रामदसौ सु आदित्योऽथ यदस्माद्दन्नं मस्रवद्यदेव  
संवत्सरेऽन्नं तत्तत् \* ॥ ५ ॥

तं देवा अग्नौ प्रावृञ्चन् । तद्य एनं प्रवृत्त  
मग्निरारोहद् † य एवास्मात् सु प्राणो मध्यत् उदु-  
क्रामत् सु एवैनं स आपद्यत त मस्मिन्नदधुरथ  
यदस्माद्दीर्यं मुदुक्रामत् तदस्मिन्नदधुरथ यदस्माद्दन्नं  
मस्रवत्तदस्मिन्नदधुस्तं ‡ सर्व्वं कृत्स्नं संस्कृत्योर्द्ध्वं  
मुदश्रयंस्तथं त मुदश्रयन्निमे सु लोकाः § ॥ ६ ॥

तस्यायं मेव लोकः प्रतिष्ठा § । अथ योऽस्मिन्-  
लोके ॥ ऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्षं मात्माय-

\* 'तत्तत्'—इति क, 'तत्तत्'—इति ग, च ।

† 'मग्निरारोहति'—इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'लोकाः'—इति ग, च ।

§ 'प्रतिष्ठा'—इति ग, -च ।

॥ 'लोके'—इति क, ग, च ।

योऽन्तरिक्षे व्यायुर्य एवाय मात्मन् प्राणः सोऽस्य  
 स द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्च-  
 चुरध्वशेत स चन्द्रमास्तस्मात् स भीलिततरोऽन्नं  
 हि तस्मादुत्सवत् ॥ ७ ॥

तुद्देवा वै सा प्रतिष्ठा \* । यां तुद्देवाः सम-  
 स्कुर्व्वन्सैवेय मद्यापि प्रतिष्ठा सो ऽएवाप्यतोऽधि-  
 भविता † ॥ ८ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत । अय मेव स  
 योऽय मग्निश्चीयते तद्यदेषोखा रिक्ता श्रुते पुरा  
 प्रवर्ज्जनाद्यथैव तत् प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राण उद-  
 क्रान्ते व्यीर्ये सुतेऽन्ने रिक्तोऽश्वयदेतदस्य तद्व-  
 पम् ‡ ॥ ९ ॥

ता मग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैन मद्दे देवाः प्रा-  
 वृज्जंस्तद्य एनां प्रवृक्ता मग्निरारोहति य एवास्मात्  
 स प्राणो मध्यत उदक्रामत् स एवैन स आप-  
 द्यते त मस्मिन्दधात्यथ यद्रुक्ता प्रतिमुच्य बिभर्त्ति

\* 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ

† 'भविता'—इति ग, घ

‡ 'तद्वपम्'—इति ग, घ ।

यदेवास्माद् वीर्यं सुदक्त्रामत्तदस्मिन् दधात्यथ 'वाः'  
समिध आदधाति यदेवास्मादन्नं मस्रवत्तदस्मिन्  
दधाति ॥ १० ॥

ता वै सायं प्रातरादधाति । अङ्गश्च हि  
तद्रात्रेश्चान्न मस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे  
स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्त्राम-  
स्तदस्मिन्नेतत् सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति य-  
स्मिन् हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेत-  
दध्यान्नासंवत्सरभृतस्येक्षकेण च न भवितव्यमिति  
ह स्माह वामकचायणो नेदिमं पितरं प्रजा-  
पतिं विच्छिद्यमानं पश्यानीति तं संवत्सरे सर्वं  
कृत्स्नं संस्क्रत्योर्द्धमुच्छ्रयति यथैवैनमदो देवा  
उद्दश्यन् ॥ ११ ॥

तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः \* । अथ यो  
गार्हपत्येऽग्निर्य एवायमस्मिंल्लोके † ऽग्निः सोऽस्य  
सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्ष-

\* 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

† 'लोकः'—इति क, ग, घ ।

मृषं यं आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरिक्षे व्यायुः  
 सोऽस्य सु आहवनीय एव द्यौरय य आह-  
 वनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आ-  
 त्मैव \* ॥ १२ ॥

तस्य शिर एवाहवनीयः † । अथ य आह-  
 वनीयेऽग्निर्य एवाय ‡ शीर्षन् प्राणः सोऽस्य स  
 तद्यत् सु पक्षपुच्छवान् ‡ भवति पक्षपुच्छवान् §  
 ह्ययं शीर्षन् प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणं श्रोत्रं  
 दक्षिणः पक्ष उत्तरं श्रोत्रं मुत्तरः पक्षः प्राणो  
 मध्यमात्मा वाक् पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत् प्राणा  
 व्याचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक् ॥ पुच्छं  
 प्रतिष्ठा ¶ ॥ १३ ॥

अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । सु  
 आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरात्मन्

\* 'आत्मैव'—इति ख, 'आत्मैव'—इति ग, घ ।

† 'एवाहवनीयः'—इति ग, घ ।

‡, § 'पक्षपुच्छवान्'—इति ग ।

• ॥ 'तस्मात् प्राणानां वाक्'—इति क ।

¶ 'प्रतिष्ठा'—इति क, 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

प्राणः सोऽस्य स प्रतिष्ठैवास्य गार्हपत्योऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणः \* ॥ १४ ॥

तत् हैके त्रिचितं चिन्वन्ति । त्रयो वा  
ऽहमेऽवाञ्चः प्राणा इति न तथा कुर्यादिति ते  
रेचयन्त्येकविंशसम्पदं मयो ऽधनुष्टुप्सम्पदं मयो  
बृहतीसम्पदं ये तथा कुर्वन्त्येकं द्वैतद्रुपं  
योनिरेव प्रजापतिरेव यदेतेऽवाञ्चः प्राणा यच्च  
मूत्रं करोति यत् पुरीषं प्रैव तज्जायते ॥ १५ ॥

अथातः सम्पदेव † । एकविंशतिरिष्टका नव  
यजूंषि तत् त्रिंशत् सादनं च सूददोहाश्च  
तद् द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषानु-  
ष्टुप् ‡ ॥ १६ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । यजुर्द्वाविंशं  
व्यदूहनस्य यजुरूपाश्च यजुश्च सिकताश्च यजुश्च  
पुरीषं च यजुश्च चतुर्भिः सन्निवपति विमुञ्चति

\* 'प्राणः'—इति क, 'प्राणः'—इति ग, घ ।

† 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

‡ 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

पञ्चमेनं तत्तस्त्रिभिरियं द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषा-  
नुष्टुप् \* ॥ १७ ॥

अथैते द्वे यजुषी † । सो ऽअनुष्टुबेव व्याग्रा  
ऽअनुष्टुप् तद्यदिदं द्वयं व्याचो रूपं दैवं च मानुषं  
चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ‡ ॥ १८ ॥

ता वा ऽएतास्त्रिस्त्रोऽनुष्टुभः । चित् एष  
गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र त्रिस्त्रोऽनुष्टुभः सम्पादय-  
न्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततो  
ऽन्यतरां द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभ माहवनीयं  
हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तस्मिन्निरोऽथेहान्य-  
तरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उ  
ऽअयं लोकः § ॥ १९ ॥

अथ ये ऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तरा-  
हवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षं स आत्मा  
तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तनीयो यदन्तराहवनीयं

\* 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

† 'यजुषी'—इति ग, घ ।

‡ 'द्वे'—इति क, 'द्वे'—इति ग, घ ।

§ 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

च गार्हपत्यं च तस्मादेषां लोकानां मन्तरिक्ष-  
लोकस्तुनिष्ठः \* ॥ २० ॥

सैषा त्रिधा विहिता व्यागनुष्टुप् । ता मेघो-  
ऽग्निः प्राणो भूत्वानुसञ्चरति य आहवनीयेऽग्निः  
स प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रीयेऽग्निः  
स ध्यानः स उ ऽचयं व्यायुर्योऽयं पवतेऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः स उद्गानः स उ ऽचयं योऽयं मस्मिं-  
ल्लोके † ऽग्निरेवंब्रुह्म वाव सूर्वां व्याचं सूर्वां  
प्राणं सूर्वां मात्मानं संस्क्रुते ‡ ॥ २१ ॥

सैषा ब्रह्मत्येव § । ये वै द्वे द्वात्रिंशतौ द्वा-  
त्रिंशदेव तद्वैते द्वे यजुषी तच्चतुस्त्रिंशदग्नि-  
रेव पञ्चत्रिंशो नाक्षराच्छन्दो व्यत्येकस्मान्न द्वा-  
भ्यां स उद्वाचरस्तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिं-  
शदक्षरा ब्रह्मती ब्रह्मती वा ऽएष सञ्चितोऽभि-  
सम्पद्यते यादृग् वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्

\* 'लोकस्तुनिष्ठः'—इति ग ।

† 'मस्मिंल्लोके'—इति क, ग, घ ।

‡ 'संस्क्रुते'—इति ग ।

§ 'ब्रह्मत्येव'—इति ग, घ ।

जायते तद्यदेता भव ब्रह्मर्तुं करोति तस्मादेष  
सुञ्चितो ब्रह्मर्तुं मभिसम्पद्यते ॥ २२ ॥

तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं  
धिष्ण्या द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोको उ अस्मा-  
ल्लोकां दुनन्तर्हितोऽथ कस्माद् गार्हपत्यं चित्त्वाहव-  
नीयं चिनोत्यथ धिष्ण्यानिति सह हैवेमावये  
लोकावाप्तुस्तयोर्व्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्  
तदन्तरिक्षं मभवद्दीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा  
वां ऽद्भुद मीक्षं मभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्  
गार्हपत्यं चित्त्वाहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यये लोका-  
वसृज्यता मथ प्रत्येत्य धिष्ण्यान्निवपति कर्मण  
एवानन्तरयायाथो ऽच्यन्तयोर्वाव संस्क्रियमाणयो-  
र्मध्यं संस्क्रियते ॥ २३ ॥ २ ॥

• ॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उत्थरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराड्रूपप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य \*  
प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविशेषं प्रतिपादयति—

\* 'वक्ष्यन् तस्य'—इति ज ।



“प्रजापतिः प्रजा असृजतेत्यादिना । “प्रजाः सृष्टेति ।” देव-  
मनुष्यादिरूपा बह्वीः ‘प्रजाः सृष्टा’ ‘सर्वम्’ ‘आजि’ गन्तव्यस्थानम्  
‘इत्वा’ व्याप्य, श्रान्तः सन् ‘व्यस्रंसत’ विस्रस्तावयधोऽभवत् ।  
‘तस्माद्विस्रस्तात्’ प्रजापतिशरीरात् ‘मध्यतः’ ‘प्राणः’ प्राणादि-  
पञ्चहत्यात्मकः ‘उदक्रामत्’ उत्क्रान्तोऽभवत् । ‘अथ’ अनन्तरं मेव  
तस्य प्रजापतेः ‘वीर्यं’ शुक्रम् ‘उदक्रामत्’ । ‘तस्मिन्’ निर्गते सति  
स भूमौ ‘अपत्यत’ पतितोऽभवत् । ‘तस्मात्’ ‘पन्नात्’ पतितात्  
प्रजापतिशरीरात् अन्तरवस्थितम् ‘अन्नम्’ ‘अस्रवत्’ स्रुतं मभवत् ।  
‘यत्’ ‘चक्षुः’ ‘अध्यशेत्’ । “अधिशोङ्स्यासां कर्म”—इत्यधिकरणस्य  
कर्मसञ्ज्ञा \* । ‘चक्षुरधि’ चक्षुषोर्मध्ये चक्षुषो ज्योतिरवस्थित  
मभवदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ ज्योतिषः ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ स्रुतं  
मभवत् । ‘तर्हि’ तथा सति नैव खलु काचित् ‘प्रतिष्ठा’  
‘आस’ । तस्य प्रजापतेः शरीरस्य विस्रस्तत्वात् किञ्चिदपि  
प्रतिष्ठास्यदं † न बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनन्तरं देवैः कृतं मस्य संस्कारं वक्तुं माह— “ते  
देवा इति । ‘इतः’ अस्मात् प्रजापतेः ‘अन्या’ ‘नैव’ ‘प्रतिष्ठा  
अस्ति’ आश्रयो विद्यते । ‘इमं मेव’ अस्मादीयं ‘पितरं प्रजा-  
पतिं’ ‘संस्करवाम’, यथा पूर्वं भवतिष्ठेत्, ‘सः’ च संस्क्रतो  
‘नः’ अस्माकं पुनः ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयो ‘भविष्यतीति’ ॥ २ ॥

इत्थं सम्प्रधारितं मर्थं कर्तुं प्रार्थितवन्त इत्याह— “तेऽग्नि  
मिति । ‘ते’ देवाः ‘अग्निं मद्रुवन्’ ‘न’ खलु ‘इतः’ अस्मात्  
प्रजापतेः ‘अन्या’ अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा अस्ति’, ‘इमं पितरं’ त्वयि

\* पा० सू० १. ४. ४६ ।

† ‘किञ्चिदप्यस्य’—इति ॥

‘संस्कारवाम्’, स च संस्कृतः पुनरुक्तितः सन् अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा भविष्यतीति’ । सोऽग्निरेतद्वाक्यं श्रुत्वा प्रत्यवोचत्,— ‘ततः’ तस्मात् संस्कारात् ‘मे’ मम ‘किम्’ प्रयोजनं ‘भविष्यतीति’ ॥ ३ ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “तेऽब्रुवन्निति । अन्नरूपो हि ‘अयं प्रजापतिः’ । तस्य च त्वयि संस्कारे सति वयं सर्वे ‘त्वन्मुखाः’ ‘एतदन्नम्’ ‘अदाम’ भुञ्जीमहि । ‘त्वन्मुखानाम्’ एवास्माकम् ‘एषः’ संस्कृतः प्रजापतिः ‘अन्नं’ भवत्विति \* । ‘तथेति’ सोऽग्निरङ्गीकृतवान् ॥

इदानीन्तनप्रसिद्धा देवानां मग्निमुखत्वं द्रष्टव्यं— “यस्या इति । इन्द्रादीनां मध्ये ‘यस्यै कस्यै चिद् देवतायै’ यत् किञ्चिद्भविः प्रयच्छन्ति, तत् सर्वम् ‘अग्नाविव जुह्वति’ । तच्च कारणं माह— “अग्निमुखा इति । ‘हि’ यस्मात् ते ‘देवाः’ ‘तत्’ तदानीं प्रजापतिरूपम् ‘अन्नम्’ अग्निमुखा एव ‘अकुर्वन्’, तस्मादग्नौ ह्ययमानं हविर्लक्षणं मन्नं सर्वं देवा अभ्यन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

उत्क्रान्तानां परिणामविशेषं माह— “स योऽस्मादिति । प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः प्राणवायुरेव भूतात्मकबाह्यवायुरूपेणोत्पद्यते । यदुत्क्रान्तं वीर्यं तदेवासौ द्युलोके आदित्योऽभवत् । “यदेव संवत्सरेऽन्नं मिति । ‘यत्’ खलु संवत्सरस्य मध्ये व्रीहियवादिरूपम् ‘अन्नं’ पच्यते, ‘तत् तत्’ तदात्मना प्रजापतिर्विस्मस्त † मन्नं परिणतं मभवदित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘भवति’—इत्येव च, छ ।

† ‘प्रजापतेर्विस्मस्त’—इति छ, ‘प्रजापतिर्विस्मस्त’—इति ज ।

प्रकृत मनुसरति—“तं देवा इति । ‘तं’ प्रजापतिदेहं  
 ‘देवाः’ ‘अग्नी’ ‘प्राहञ्चन्’ प्रतपनेन समस्कुर्वन् । ‘तत्’ तत्र  
 प्रहञ्चने सति ‘एनं’ प्रहञ्चं प्रजापतिं यः ‘अग्निः’ ‘आरोहत्’ \*  
 सङ्ग्रामति (स्म १) , तदात्मना प्राङ् निष्क्रान्तः प्राणः ‘एव’ ‘एनं’  
 प्रजापतिं पुनः ‘आपद्यत’ प्राप्नोत् । तथा च ‘तं’ प्राणं वीर्यादिकं  
 ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ प्रहञ्चनेन स्थापितवन्त इत्यर्थः । “तत् सर्वं  
 मित्यादि । इत्थं प्रहञ्चनेन ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं पूर्णा-  
 वयवं ‘संस्कृत्य’ पुनः ‘जहु’ मुदश्चयन् गमनागमनव्यवहारसमर्थं  
 मूर्द्धाकारं मुच्छितं मकुर्वन् । ‘तत्’ तत्र च ‘यम्’ प्रजापतिम् ‘उद-  
 श्चयन्’ देवाः , ‘सः’ एव ‘इमे’ त्रयो ‘लोकाः’ लोकत्रयात्मको-  
 ऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य कीदृक् किं मङ्गं मिति , तदाह— “तस्याय मेवे-  
 त्यादिना । ‘अयं’ भूलोकः ‘एव’ ‘तस्य’ विराडात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘प्रतिष्ठा’ । प्रतितिष्ठत्यस्या मिति प्रतिष्ठाशब्देन पादा-  
 वुच्येते । पार्थिवोऽग्निस्तस्य अवाचीनः प्राणः , येन मूत्रपुरी-  
 षादिकं मुत्सृज्यते । अन्तरिक्षलोकोऽस्य प्रजापतेः ‘आत्मा’ मध्य-  
 देहः । तत्र सञ्चरन् ‘वायुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि मध्यदेहेऽवस्थितः  
 प्राणः । “सोऽस्य स इति । स वायुरेवास्य प्राण इत्यर्थः ।  
 “द्यौरेवास्येति । द्युलोकोऽस्य प्रजापतेर्मूर्धा । तत्रत्यौ ‘सूर्याचन्द्र-  
 मसौ चक्षुषी’ तयोर्मध्ये ‘यश्चक्षुरध्यशेत’ यस्मिन् चक्षुषि ज्योति-  
 श्चक्षुरवस्थितं मभवत् , तश्चक्षुः ‘चन्द्रमाः’ । तदुपपादयति—

\* ‘आरोहति’—इति च , क , ज ।

† क - पुस्तकादन्यत्र नास्तीदं पदम् ।

“तस्मादिति । ‘हि’ यस्मात्, ‘तस्मात्’ चक्षुषःऽन्न मस्त्रवत्, तस्मात् कारणात् तच्चक्षूरूपः ‘चन्द्रमाः’ ‘मीलिततरः’ अतिशयेन मीलितः; सूर्यादल्पप्रकाशो दृश्यत इत्यर्थः” ॥ ७ ॥

“तद्देशा वा इत्यादि । ‘तत्’ तथा सति देवादीनां प्रजानाम् ‘एषा’ प्रजापत्यात्मिका ‘सा प्रतिष्ठा’, अभवदिति शेषः । ‘तत्’ तदानीं ‘यां’ ‘समस्तूर्वन्’ उदीरितरीत्या संस्कृतवन्तः । न केवल मतीतकाल एव प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपता, वर्त्तमानभविष्यत्कालयोरपोत्याह— “सैत्रेय मिति । ‘अद्य’ इदानीं वर्त्तमानकात्रेऽपोत्यर्थः । “अतोऽधिभग्नितेति । ‘अतः’ अस्माद्वर्त्तमानादूर्ध्वकालेऽपि सैव प्रतिष्ठा ‘भविता’ “अनद्यतने लुट्”—इति \* भविष्यत्यदनद्यतने लुट् ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कार मभिधाय चित्वाग्नेरपि तादृक् संस्कारं वक्तुं तयोस्तादात्म्य माह— “स य इति । ‘सः’—इत्येकस्तच्छब्दः प्रसिद्धौ, अपरः प्रकृतपरामर्शकः । “योऽय मग्निरिति । गार्हपत्यचितिरूपो योऽग्निरित्यर्थः । तयोस्तादात्म्योपपत्तये प्रजापतेरवस्थाविशेष मत्रापि दर्शयति— “तद्यदेषेति । ‘तत्’ तत्र आहवनीये ‘प्रवृञ्जनात्’ † पूर्वं ‘रिक्ता उखा श्येते’ इति ‘यत्’, अस्य उत्क्रान्तप्राणादिकस्य प्रजापतेरेतद्रूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥

संस्कारसाम्य माह— “ता मग्नाविति । ‘ताम्’ उखाम् ‘अग्नी’ आहवनीये ‘प्रवृणक्ति’ प्रतपति । “यथैदेन मिति ।

\* पा० सू० ३. ३. १५ ।

† प्रवर्जनादिति मूल पाठः : तस्यैव वा व्याख्यानपदं मिदं स्यात् प्रवृञ्जनादिति ।

प्रजापतिसाम्यवर्णनम् । प्रजापतिः (?) \* ‘अदः’ अमुस्मिन् दृष्टि-  
काले इत्यर्थः । “तद्य एना मिति । ‘एनाम्’ उखां ‘प्रहृतां’  
प्रतप्ताम् ‘अग्निः’ ‘आरोहति’ आक्रमते , अन्तर्जायत इति ‘यः’,  
अनेन पुरा प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः ‘सः’ प्राणः ‘एवं’ ‘सः’  
अग्निर्भूत्वा ‘एनम्’ उखात्मकं प्रजापतिम् ‘आपद्यते’ आगच्छति ।  
‘तं’ प्राणम् ‘अस्मिन्’ ‘दधाति’ स्थापयति । “अथ यदुक्ता मित्यादि ।  
यजमानः सौवर्षं रुक्मं ‘प्रतिमुच्य’ † कण्ठे सूत्रेण बद्धा , तस्यो-  
परि त मुखं विभर्तीति ‘यत्’, तेन प्रागुत्क्रान्तवोर्य मेवा-  
स्मिन् पुनः स्थापयतीत्यर्थः । “अथ याः समिध इति । उखाया  
मग्न्यारोहणानन्तरं तस्मिन् ‘याः समिध आदधाति’, ताभिस्तत्-  
प्रागस्मात् स्मृत मप्यत्र पुनरस्मिन् स्थापयति । यदाह कात्या-  
तनः— “अग्नावारुढे त्रयोदशास्यां प्रादेशमात्रोः समिध आद-  
धाति”—इति ‡ ॥ १० ॥

तासा महरहरभ्याधान मनुद्य, तच्च कारण माह— ‘ता  
वा इति । ‘तत्’ तदानीम् ‘अङ्गो रात्रेश्च’ सकाशात् प्रजा-  
पतिशरीरात् ‘अन्न मस्त्रवत्’, अतस्तस्य पुनरवासये समिधा  
माधानम् एतस्मिन् § ‘संवत्सरे’ प्रत्यहं कालत्रयेऽपि कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अत एवोक्तं सूत्रकृता— “पालाशीः प्रत्यृच महरह-  
रिति”—इति ॥ । रुक्मप्रतिमोचनोत्थभरणादीनां संवत्सरकालव्याप्ति

\* पद मिद् मिह सर्वेऽप्येव पुस्तकेषु ।

† नाक्षीदम्यदमिह ज-पुस्तके ।

‡ का० औ० सू० १६. ४. ३३ ।

§ ‘तस्मिन्’—इति ज ।

॥ का० औ० सू० १६. ४. ४० द्रष्टव्यम्

‘आहं’—“तान्येतानीति । ‘तानि’ रुक्मप्रतिमोचनोऽख्यभरणसमि-  
 दाधानविष्णुकर्मणादीनि पूर्वोक्तान्येतानि \* प्राणवीर्यान्नरूपेणा-  
 नुक्रान्तानीत्यर्थः । † ‘सर्वस्मिन्’ कृत्स्ने ‘एव’ ‘संवत्सरे’ भवेयुरिति  
 विधिवाक्य मेतत् । तेषां संवत्सरकर्त्तव्यत्वे उपपत्ति आह—  
 “संवत्सरो हीति । यस्मात् प्रजापतेस्तानि प्राणवीर्यान्नानि  
 उत्क्रान्तानि । स हि संवत्सरकालात्मकः खलु ‘एतत्’ एतेन  
 रुक्मप्रतिमोचनादीनां संवत्सर मनुष्ठानेन अस्मिन् प्रकृते सर्वात्मकी  
 प्रजापतौ सर्वं निरवशेषं विश्वं ‘दधाति’ स्थापयति । व्यरि-  
 रेके बाध आह— “यस्मिन् हेति । ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘यस्मिन्’ ऋतौ वसन्तादिके कालावयवे ‘एतत्’ पूर्वोक्तं ‘न’  
 स्थापयेत् । इत्थं प्रतिपादितं संवत्सरावयवे सर्वानाधानलक्षणं  
 दोषं स्पष्टयितुं संवत्सरभृतस्याग्नेः द्रष्टृत्व मपि निषेधयति—  
 “नासंवत्सरभृतस्येति । न संवत्सरपर्यन्तं ‘भृतः’ उखायां धृतः ,  
 सोऽयम् ‘असंवत्सरभृतः’, तस्य ‘ईक्षकेण चन’ द्रष्टापि ‘न’  
 भाव्यम् , किं मुतर्त्विजा । ‘इति’ एवं ‘वामकचायणः’ वाम-  
 कचस्यापत्य ऋषिः ‘आह’ उक्तवान् । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । एवं  
 ब्रूवतो वामकचायणस्याभिप्राय आह— “नेदिम मिति ।

\* पूर्वस्मिन् काण्डे “रुक्म” प्रतिसुख्य विभर्त्ति—इत्यादिको ग्रन्थः ,  
 कात्यायनीयस्य “यजमानः कृत्स्ने रुक्मम्”—इत्यादिको दृश्यः ( शत०  
 ६ का० ५ प्र० १ ब्रा० ३७१ पृ० , कात्या० १६. ५. १. ) ।

† इत उत्तर मूनविंशकण्ठीयाख्यानो ग्रन्थो ज-पुस्तकीयादर्शेषु  
 नैव लब्धः । मत्स्यपुरादितादर्शपुस्तकेष्वपि च-ङ्ग-पुस्तकयोरिह लिखि-  
 तम्—“अत्र प्रतिपुस्तके पञ्चदशं गतम्”—इति । ततो ङ-पुस्तक-  
 मात्र भेदावलम्बनम् ।

नेदिति परिभये \* । ‘पितरं’ पालकं ‘ईमम्’ अधियन्नात्मकं ‘प्रजापतिं’ विच्छिद्यमानं विशेषेण भिद्यमानं ‘नेत्पश्चाभि’ नैव ईक्षे इति ।- ‘इति’-शब्दस्तदभिप्रायपरिसमाप्तिद्योतकः । उक्तं मर्थं निगमयति— “त ए संवत्सर इति । संवत्सरे अतोते ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं ‘कृत्स्नं’ सम्पूर्णवयवं ‘संस्कृत्य’ ‘जहुं’ मुच्छयति’ गमनागमनव्यवहारसमर्थं मूर्द्धाकारं मुच्छितं करोति । ‘यथैव’ येनैव प्रकारेण ‘अदः’ पूर्वं ‘देवाः’ ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘उदश्यन्’ उच्छितं कृतवन्तः, तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रकृतस्य चयनात्मकस्य प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकतां तदधिष्ठात्र-  
ग्निवाय्वादित्यात्मकताञ्च प्रतिपादयति— “तस्य गार्हपत्य इत्या-  
दिना । “स यः प्रजापतिर्व्यस्रसत अय मेव स योऽय मग्निधीयते”  
-इत्युक्तम् \* , ‘तस्य’ प्रजापतेः ‘गार्हपत्य एव’ चितिरूपस्थलविशेष  
एव अयं लोकः’ पृथिवी । ‘अथ यो गार्हपत्ये’ अधिकरणे उख्यः  
‘अग्निः’ स्थापितः, यज्ञाय मग्निन् लोके पृथिव्या मधिष्ठातृत्वेन  
स्थितोऽग्निः, स उख्योऽग्निः पृथिवोस्थानोऽग्निरपि अस्य प्रजापतेः  
सम्बन्धो ; स जाठरोग्निर्बोद्धव्य इति शेषः । ‘अथ’ ‘आहवनीयं  
गार्हपत्यञ्च’ ‘अन्तरा’ मध्ये, चित्योरन्तराल इति यावत्, यत् स्थलं  
तदन्तरिक्षं मध्यलोक इत्यर्थः । ‘अथ’ च ‘यः’ अयम् ‘आग्नी-  
ध्रीये’ धिष्ये ‘अग्निः’ स्थापितः, य एव चायं मन्तरिक्षे अधिष्ठा-  
तृत्वेन स्थितो वायुः, स आग्नीध्रीयस्योऽन्तरिक्षस्थो वायुश्चेत्युभय-  
विधोऽप्यस्य प्रजापतेः स पञ्चतत्त्वात्मकः प्राण इत्यर्थः । ‘आह-  
वनीयः’ चित्यात्मकः ‘एव’ ‘द्यौः’ द्युलोकः । ‘अथ’ ‘आहवनीये’

\* निरु० १. ३. ६ ।

† इहेव पुरस्तात् नवमी कण्ठी ( ५१ पृ० ) द्रष्टव्या ।

अधिकरणं 'यः अग्निः' अतिप्रणीतः स्थापितः , तौ सूर्याचन्द्रमसौ  
युक्तोक्तेऽधिष्ठातृत्वेन स्थितौ । 'स एषः' आहवनीयादिः चन्द्रान्तः  
'अस्य' 'आत्मैव' मध्यदेह एवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

तस्य प्रजापतेराधियज्ञिक माध्यात्मिकश्च रूपं प्रतिपिपा-  
दयिषुराह— "तस्य शिर इति । 'तस्य' प्रजापतेः 'आह-  
वनीयः' चित्वात्मकः 'शिरः' मूर्द्धा । 'अथ' 'यः' तत्र निधीय-  
मानः 'अग्निः', 'योऽयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि 'प्राणः' नासिका-  
सञ्चारी, स उभयविधोऽपि 'अस्य' प्रजापतेः 'स एव' शीर्षण्यः  
प्राण एवेत्यर्थः ॥

चित्वात्मकस्याहवनीयस्य , तत्र निधीयमानस्याग्नेश्च क्रमेण  
शीर्षत्वं शीर्षण्यप्राणत्वञ्च प्रतिपाद्य , तयोरेव पक्षपुच्छवत्त्वं प्रति-  
पादयति— "तद्यत् स इति । 'तत्' तत्र 'यत्' यस्मात् 'सः' चित्वा-  
त्मक आहवनीयः 'पक्षपुच्छवान्' पक्षाभ्यां पुच्छेन च युक्तोऽस्ति ,  
'अयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि वर्त्तमानः 'प्राणः' नासिक्य इति यावत् ।  
सोऽपि 'पक्षपुच्छवान्' हि 'पक्षपुच्छैरन्वितः' खलु । पक्षपुच्छ-  
वत्त्वमेवोपपादयति— "चक्षुः शिर इत्यादिना । 'चक्षुः' सव्य-  
दक्षिणात्मकं चक्षुरिन्द्रियम् नासिक्यप्राणस्य 'शिरः' मूर्ध्नीभूतम् ;  
तदुपरि वर्त्तमानत्वात् । दक्षिणकर्णो दक्षिणपक्षस्थानीयः ;  
तस्य दक्षिणपार्श्ववर्त्तित्वात् । उत्तरकर्णश्चोत्तरपक्षस्थानीयः ;  
उत्तरपार्श्ववर्त्तित्वादेव । 'प्राणः' स एव नासिक्यः । 'मध्यम्'  
अन्तर्वर्त्ति 'आत्मा' शरीरम् । वागायमनत्वाद् वाङ् मुखम् ,  
तदायतनं रसन मपि वा , तत् पुच्छम् ; पश्चाद्भावित्वात् । सैव  
'प्रनिष्ठा' आस्यदम् । प्रतिष्ठात्वमेवोपपादयति— "तद्यदिति ।  
'यत्' यस्मात् 'प्राणाः' नासिक्यादयो 'वाचा' मुखेन 'अन्नं' 'जम्बा'



भवयित्वा शरीरे 'प्रतितिष्ठन्ति' नोत्क्रामन्ति, 'तस्मात्' हेतोः प्राणानां 'वाक् पुच्छं' प्रतिष्ठेत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

प्रकारान्तरेणापि तस्याधियज्ञिकाध्यात्मिकरूपता मेव प्रतिपादयति— "अथ यदन्तरेति । आहवनीयगार्हपत्ययोः अन्तरालदेश इति 'यत्', 'स' आत्मा शरीरम् । 'आग्नीध्रीये' तदादौ धिष्णो 'योऽग्निः' निहितः । प्रदर्शनार्थं माग्नीध्रीयग्रहणम् ; उत्तरं "अन्तरिक्षं धिष्ण्याः"—इति बहुवचनोपदेशात् \* । योऽयम् अन्तरात्मनि 'प्राणः' पञ्चवृत्त्यात्मकः, 'सः' सर्वधिष्ण्यास्य एव 'अस्य' पञ्चवृत्तिकः प्राण इत्यर्थः । 'गार्हपत्योऽस्य' 'प्रतिष्ठा' पादौ । यच्च तत्रत्यः 'अग्निः' 'सोऽस्य' अवाचोनः 'प्राणः' ; पञ्चावर्त्तित्वात् ॥ १४ ॥

त्रिचितिको गार्हपत्यश्चेतस्य इत्येकीयमतं सुपन्थस्यति— "तत् हैक इति । 'एके' शास्त्रिनः तं प्रकृतं गार्हपत्यं 'त्रिचितम्' उपर्युपरि चितित्रयात्मकं 'चिन्वन्ति' । तिसृभिश्चितिभिश्चित-स्त्रिचितस्तं तथाविधम् । चिन्वता मभिप्राय माह— "त्रयो वा इमे इति । प्रजननमूलपुरीषसर्गवृत्तिभेदेन त्रित्वम्, ततश्च तिसृभिश्चितिभिस्त्रोष्णैव प्राणायतनानि कल्पितानि भविष्यन्तीत्याशयः । वक्ष्यमाणसम्पत्तित्रयातिरेकात्मकदोषाधानेन तमेतं पक्षं निराचष्टे— "न तथेति । ये शास्त्रिनः तथा त्रिचितचयनं कुर्वन्ति, 'ते' 'एकविंशसम्पदं' "ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते"—इत्यादिनोक्त्याम् † एकविंशतेरिष्टकानां सम्पदम् 'अतिरेचयन्ति' अतिरिक्तां कुर्वन्ति । त्रिचितिके हि बहुतरा

\* ५७ ए० २३ कण्ठो द्रष्टव्यः ।

† इहैवाव्याजस्य ( १२ ए० २ पं० ) ३४ कण्ठो द्रष्टव्यः ।

इष्टकाः स्युः ; तथा , आनुष्टुभेषु “अथातः सम्पदेवैकविंशति-  
रिष्टकाः”—इत्यादिना \* वक्ष्यमाणायास्त्रिविधाया अपि सम्प-  
दम् , तथा “सैषा बृहत्वेवः”—इत्यादिना † वक्ष्यमाणाया बृहत्याः  
सम्पद मपि अतिरेचयन्तीत्यनुषङ्गः ॥

“त्रयो वा इमेऽवाचः प्राणाः”—इति यदुक्तम् ‡ , तदप्यङ्गीकृत्य  
निराकरोति—“एकं ह्येवेत्यादिना । एतस्य प्राणस्य रूपम् ‘एत-  
द्रूपम्’ एक मेव खलु , ‘यदेतेऽवाचः प्राणाः’ प्रजननमूत्रपुरीष-  
सर्गवृत्तिभेदेन त्रयोऽपि किम्पुनस्तदित्याह— “योनिरेवेति ।  
‘योनिः’ स्थानं कारणम् । मूत्रपुरीषरेतसा मेक मेवैतद्रूपं कारण  
मनादृत्यापि कर्मविवक्षया आह— “प्रजापतिरेवेति । मूत्र-  
पुरीषसर्गात्मना प्रजापतेरेकत्वं मित्यर्थः । तदेवोपपादयति—  
“यद्वेति । ‘यन्मूत्रं करोति’, ‘यत्’ च ‘पुरीषं करोति’, ‘तत्  
जायत एव’ इति प्रजातिरूपेण त्रयाणां मध्येकत्वं सिद्धं  
मेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वं सुपक्षिप्ता मनुष्टुबृहत्योः सम्पद माह— “अथातः  
सम्पदेवेत्यादिना । ‘वक्ष्यते’—इति शेषः । “अयं सो अग्निः”—  
इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपहिता अष्टौ यजुष्मत्तः , लोकम्पृणास्तयादशेति  
‘एकविंशतिरिष्टकाः’ । “नव यजूंषीति । अष्टानां मर्द्धबृहती-  
प्रभृतीनां यजुष्मतीनां मष्टौ “अयं सो अग्नि रित्यादौनि § , लोक-  
म्पृणानां मेकं “लोकं पृणोति ॥ , एवम् नव । ‘तत्’ तत्र ‘विंशत्’

\* उत्तरत्यां कण्डिकायां ( ५४ ए० ६ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† द्वाविंशी कण्ठी द्रष्टव्या ( ५६ ए० १० पं० ) ।

‡ अत्रुपदं गतं द्रष्टव्यं मिहैव ( ५४ ए० ३ पं० , ६६ ए० १ पं० ) ।

§ वा० सं० १२. ४७—५३ ।

॥ वा० सं० १२. ५४ ।

सङ्ख्या सम्पाद्यते । 'सादनञ्च' यजुः "तया देवतयेति" \* ।  
सूददोहाश्च "ता अस्थेति † । 'तत्' तेन 'द्वात्रिंशत्' 'अनुष्टुप्',  
द्वात्रिंशदक्षरा' 'सैषा' प्रसिद्धा 'अनुष्टुप्' गार्हपत्यचितौ सम्पन्ना  
द्रष्टव्या ॥ १६ ॥

एव मेक मनुष्टुभं सम्पाद्य अपरे हे अनुष्टुभावेव सम्पादयितु  
माह— "एकविंशतिर्वेवेति । 'उ , एव'-इति पदच्छेदः । 'परि-  
श्रितः' एकविंशतिसङ्ख्या एव । यदुक्तं सूत्रकृता— "परिश्रिद्धिः  
परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चित स्थेति"—इति ‡ । "यजुर्द्वाविंश  
मिति । परिश्रिता मेवोपधाने विहितं "चितः स्थेति § 'व्युदू-  
हनस्य यजुः' । "अपेत वेतेति ॥ त्रयोविंशम् । 'ऊषाः' तन्निवापे  
विहितं यजुः "सञ्ज्ञान मिति च हे ¶ चतुर्विंशपञ्चविंशे । 'सिक-  
ताञ्च' तन्निवापयजुः "अग्नेर्भस्मेति\*\* च हे षड्विंशसप्तविंशे । 'पुरी-  
षञ्च' तन्निवापयजुश्च "इदं विखा इति †† हे अष्टाविंशैकोनविंशे ।  
'चतुर्भिः' यजुर्भिः "समित मित्यादिभिः ‡‡ उख्य मग्निं 'सन्निव-  
पति', तत् सन्निवापस्त्रिंशः । "विमुञ्चति पञ्चमेनेति । "मातेव पुत्र  
मिति §§ यजुषा विहितः शिखादुखाविमोक एकत्रिंशः । अग्नि-  
सन्निवापोखाविमोकयोरुपयुक्तसङ्ख्यातः पातात् तर्कम्बद्धानि पञ्च  
यजुंश्चवशिष्टानीत्यभिप्रेत्य तेषां पञ्चाना सुपयोग माह— "तत-  
स्त्रिभिरिति । 'ततः' तेभ्यः पञ्चभ्यो यजुर्भ्यः 'त्रिभिः' यजुर्भिः

\* वा० सं० १२. ५३. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

॥ वा० सं० १२. ४५ ।

\*\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

†† वा० सं० १२. ५७—६० ।

† वा० सं० १२. ५५ ।

§ वा० सं० १२. ४६. ३ ।

¶ वा० सं० १२. ४६. १ ।

†† वा० सं० १२. ५६ ।

§§ वा० सं० १२. ६१ ।

एकदेशभूतैरेका द्वाविंशत्तमी सङ्ख्या । एषम् 'इयम्' इदानीं  
• प्रतिपादिता 'द्वाविंशदक्षरानुष्टुप्', सम्पद्यत इति शेषः । 'सैषा'  
प्रसिद्धा द्वितीया 'अनुष्टुप्' ॥ १७ ॥

अथ वायुपां तृतीया मनुष्टुभ माह— “अथैते हे इति ।  
पञ्चसु मव्यमानुष्टुभि त्रीण्युपयुक्तानि , . ‘अथैते’ ये अन्तिमे ‘हे’  
‘यञ्जुषी’ अवशिष्येते, ‘सा’ ‘तु’ पुनर्यञ्जुर्हयात्मिका ‘अनुष्टुबेव’ । ननु  
यञ्जुर्हयात्मिकाया अस्याः कथं मनुष्टुष्व मित्यत आह— “वाग्  
वा इति । ‘वाक्’ खलु ‘अनुष्टुप्’ ; “वागनुष्टुबित्यग्निरहस्ये श्रुत-  
त्वात् \* । यञ्जुर्हयात्मिकानुष्टुबैकात्म्यप्रतिपादनाय वाचो द्विरूपता  
माह— “तद्यदिदन्द्य मिति । इय मेव इयात्मक मित्यर्थः । तदेव  
• हेधा विवृणोति— “दैवश्चेत्यादिना । ‘दैवं’ देवसम्बन्धि वाक्यं  
संस्कृतम् , ‘मानुषं’ मनुष्यसम्बन्धि भाषामयं वाक्यञ्च ;— ‘उच्चैः’  
तारस्वरं वाक्यम् , ‘शनैः’ मन्दस्वरश्चेति । ‘तदेते हे’ इत्युपक्षिप्त-  
निगमनम् । एवं तृतीयानुष्टुप् सम्पन्ना ॥ १८ ॥

प्रतिपादितानां तिष्ठणा मनुष्टुभा सुपयोगं विधत्ते—  
“ता वा एता इति । ‘एषः’ ‘चितः’ चित्वा सम्पादितः  
‘गार्हपत्यः’ , ‘ताः’ प्रसिद्धाः ‘एतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः’ खलु ,  
सम्पादितानुष्टुप्त्रयात्मक इत्यर्थः । अनुष्टुप्त्रयसम्पादनस्य गार्ह-  
पत्यचितौ लोकत्रयसम्पादनहेतुता माह— “तद्यदेता इति ।  
‘अत्र’ गार्हपत्यचितौ यत् ‘एतास्त्रिस्तः अनुष्टुभः’ सम्पा-  
दयन्ति , वेदवादिन इति शेषः । ‘तदा’ आहनीयचयनात्  
प्रागेवात्रैव गार्हपत्ये इमे सर्वे लोकाः’ त्रयोऽपि ‘भवन्ति’ ।

कारणे कार्यस्थान्तर्गतत्वादुत्तरेऽग्नयोऽपि गार्हपत्ये एवांन्तर्गताः ,  
 पृथिवीलोके चेतरी लोकावन्तर्गता । “सोऽग्निना पृथिवीं  
 मिथुनं समभवत् तत आण्डं समवर्त्तत”-इति तत एवो-  
 त्यत्तिश्रुतेः \* । तासा मेव अनुष्टुभा मुपयोगान्तर मपि विधत्ते—  
 “ततोऽन्यतरा मिति । तयोर्द्वात्रिंशदक्षरयोः अनुष्टुभोर्मध्ये ‘अन्य-  
 तराम्’ एकाम् ‘द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभं’ बुद्ध्या विविच्य आहवनीय  
 स्थानं ‘हरन्ति’, अनुसन्धानाय हरेयुरित्यर्थः । ‘सा’ चाहता  
 अनुष्टुप् आहवनीयचितिः , सैव द्युलोकः , तदेव चित्वाग्नि-  
 रूपस्य प्रजापतेः ‘शिरः’ भवति । ‘इह’ अभिन् गार्हपत्य-  
 स्थाने ‘अन्यतरा’ एका द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् ‘परिशिष्यते’, ‘सः’  
 एव ‘गार्हपत्यः’ अग्निरिति । चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः ‘सा’  
 एव ‘प्रतिष्ठा’ पादौ । सः एव अयं लोकः भूलोकात्मिका-  
 पीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्विसङ्ख्यायोगाद् गौणी या तृतीया अनुष्टुप् , तस्या अन्तरि-  
 चादिरूपता माह—“अथ ये एते इति । आहवनीयगार्हपत्य-  
 चित्त्वोर्मध्ये यदस्ति स्थान माग्नीध्रीयाख्यम् , एतदेव सा यजुर्दया-  
 त्मिका अनुष्टुप् , ‘तदेवान्तरिक्षम्’ तृतीयानुष्टुबात्मकोऽय मन्त-  
 रिक्षलोक इत्यर्थः । सेव आनुष्टुभस्य चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः  
 ‘आ मा’ मध्यदेहः । द्वात्रिंशदक्षराभ्यां पूर्वाभ्या अनुष्टुब्भ्यां  
 द्विसङ्ख्यायोगिन्यास्तृतीयस्या अनुष्टुभोऽल्पीयत्वात् तदात्मकतयो-  
 क्ताना मल्पपरिमाणत्वं माह— “तद्यत् ते द्वे भवत इत्यादिना ।  
 यस्मात् तृतीया अनुष्टुप् द्विसङ्ख्यायोगिनी , तस्मात् तदात्मकं

गार्हपत्याह्वनीययोरन्तरालं 'तनीयः' तनुतरम्, अल्पपरिमाण-  
मेकं भवति । 'तस्मात्' एव कारणात् एषां लोकानां मध्ये  
'अन्तरिक्षलोकः' 'तनिष्ठः' सूक्ष्मतमो भवति ॥ २० ॥

“सैषा त्रेधा विहितेत्यादि । विप्रकारेण विहिता 'सैषा  
अनुष्टुप्' 'वाक्' एव । 'ताः' 'एषः' उच्यः 'अग्निः' 'प्राणो  
भूत्वा अनुसञ्चरति' आहवनीयगार्हपत्याग्नीध्रोयास्थेषु स्थानेषु  
क्रमेण व्याप्नोति । तत्स्थानगतेऽग्नौ प्राणोदानव्यानवृत्त्यात्मना  
सूर्यादिभेदेन तस्य व्याप्ति माचष्टे— “य आहवनोयेऽग्नि-  
रिति । 'आहवनोये' आहवनोयस्थाने निहितो 'यः अग्निः',  
'सः' 'प्राणः' प्राणात्मकः, 'सोऽसावादित्यः' आदित्यात्मकश्च ।  
'आग्नीध्रीये' निहितस्तु व्यानात्मकः, वायात्मकश्च । गार्हपत्ये  
निहितस्तु उदानात्मकः, पार्थिवाग्निरूपश्च । आहवनोयादीनां  
द्युलोकादिरूपत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ऊर्ध्वमध्याधोदेशसम्बन्धेन  
प्राणादीनां तत्तदग्न्यात्मकता अवगन्तव्या ।

प्रतिपादितं मर्थं विदुषः फल माह— “एवंविदिति ।  
अग्न्याद्यधिष्ठितलोकत्रयाणां प्रजापत्यात्मकत्वम् गार्हपत्यचितौ  
सम्प्रादितास्त्रनुष्टुप्सु उदीरितरोत्या जानन् कृत्स्नां 'वाचम्'  
कृत्स्नम् 'प्राणम्', एतैरेव सर्वैः सम्पूर्णम् 'आमानम्' अग्निशरोरं  
'संस्क्रुते' उत्पादयति ॥ २१ ॥

“अथो बृहतीसम्पद मिति \* प्राक्सूचितां सम्पत्ति माह  
— “सैषेति । 'सैषा' गार्हपत्यचितिः 'बृहत्येव' सम्पद्यत इति  
शेषः । ता मेव सम्पत्तिं दर्शयति— “ये वा इति । 'ये' खलु

पूर्वं मुक्ते द्वात्रिंशदक्षरे अनुष्टुभौ, तदुभयं मिलित्वा द्वा-  
त्रिंशदेवात्र सम्पद्यते । अवशिष्टे 'हे यजुषी', 'अग्निरिव'  
'पञ्चत्रिंशः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकः ॥

ननु षट्त्रिंशदक्षरा बृहतीति श्रुतेः इतः परं मध्येकेन  
भवितव्यमित्यत आह— “नाक्षरादिति । न चेकस्मादक्षरा-  
दविद्यमानात् 'हृन्दः' 'व्येति' विगच्छति, अन्यथा भवति ।  
'न' च 'द्वाभ्याम्' अक्षराभ्याम् । एकेन द्वाभ्यां वा न्यूनं  
हृन्दो न वैकल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चैषां पञ्चत्रिंशत्-  
सङ्ख्यापि \* बृहत्येवेति तत्सम्पत्तिरविरुद्धा । सङ्ख्यापूर्तिं मपि  
दर्शयति— “स उ द्वाक्षर इति । यः पञ्चत्रिंशोऽग्निः स  
स्वस्वक्षरद्वयवाच्यः, ततस्ताभ्या मग्निरित्यक्षराभ्यां सह षट्-  
त्रिंशत् सङ्ख्या सम्पद्यते; तथा च षट्त्रिंशदक्षरा बृहती  
सम्पन्ना । अपि च 'एषः' आहवनीयस्थाने 'सञ्चितः'  
अग्निरपि 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तत्र गार्हपत्यचिते-  
र्बृहतीसम्पत्तिरेव कारणमित्याह— “यादृग् वा इति ।  
'योनौ' गर्भाशये यादृगाकारविशिष्टं 'रेतः' 'सिच्यते' तादृ-  
ग्रूप एवोत्पत्तिसमये 'जायते'; यथैव लोके, 'तत्' तथैवा-  
त्रापि । योनिरूपायां गार्हपत्यचितौ 'यद्' यस्मात् 'एतां बृहतीं  
करोति', 'तस्मात्' इत उत्पद्यमानः 'एषः सञ्चितः' अयं माह-  
वनीयोऽग्निरपि † 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तां सम्पत्तिं यजुष-  
तीनां षड्युत्तरत्रिंशत्सङ्ख्याया दश बृहत्यः सम्पद्यत इति दशम-  
काण्डे दर्शयिष्यामः ॥ २२ ॥

\* 'पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याया मपि'—इति ज ।

† "एष सञ्चितः' महाग्निरपि"—इति ज ।

गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षव्युलो-  
 कात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्य व्युत्क्र-  
 मानुष्ठान् सुपपादयति— “तदाहुरित्यादिनां । “अन्तरिक्षं  
 धिष्ण्या इति । गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालवर्तिन आग्नीध्रीया-  
 दयो \* धिष्ण्याः , ते अन्तरिक्षलोकात्मका इत्यर्थः । तत्र गार्ह-  
 पत्यचयनानन्तर्यम् आहवनीयचितेराक्षिपति— “अन्तरिक्षं लोक  
 इति । ‘अस्माद् लोकात्’ ‘अन्तरिक्षलोकः’ ‘अनन्तरहितः’  
 प्रत्यासन्नः । तथा च गार्हपत्यचयनानन्तरं धिष्णाननिव-  
 पन मकृत्वा ‘अथ कस्मात्’ हेतोराहवनीयचयन मेव क्रियते ।  
 ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘धिष्णान्’ चिनोतीत्यनुषज्यते । इत्य मनु-  
 ष्ठाने कारणं वक्तुं माह — “सह हैवेमा मिति । ‘अग्रे’ पुरा  
 ‘द्वमी’ भूखर्गाख्यौ ‘लोको’ ‘सहसतुः’ । ‘तयोः’ ‘वियतोः’ विविधं  
 गच्छतोः वियुज्यमानयोः ‘यः’ मध्ये ‘आकाशः’ अवकाशः ‘आ-  
 सोत्’, ‘तदन्तरिक्षं भभवत्’ । ‘ततः पुरा’ द्यावापृथिव्योर्विगमनात्  
 पूर्वम् ‘ईक्षम्’ इति आकाशस्य ‘नाम’ ; द्यावापृथिव्योर्विशेषे  
 सति ‘अन्तरा’ तयोर्मध्ये खलु ‘इदं मीक्षं भभूत्’ । ‘इति’  
 हेतौ ; यस्मादेवं तस्मादिदं आकाशं मन्तरिक्षनामकं सम्पन्न  
 मित्यर्थः ॥

“तद् यद् गार्हपत्य मित्यादि । एव मन्तरिक्षनिष्पत्ते-  
 र्लोकद्वयानन्तरभावित्वाद् गार्हपत्यचयनानन्तरं मन्तरिक्षसंस्तु-  
 तान् धिष्णानतिक्रम्य ‘आहवनीयं’ ‘चिनोति’ चयनेन संस्कारो-  
 तोति । ‘यत्’ यस्मात् तौ भूखर्गलोको ‘अग्रे’ खलु सह

\* ‘आग्नीध्रीयाः’—इत्येव ज



‘असृज्येतां’ सृष्टावभवताम्, ‘अथ’ आहवनीयचयनानन्तरं ‘प्रत्येत्य’  
 प्रतिनिवृत्त्य सदसि ‘धिष्ण्यान्’ ‘निवपति’ ‘निर्मिमीते । ‘अथ  
 प्रयोजन माह— “कर्मण एवेति । तत्र धिष्ण्यानां निवपनं  
 कर्मणः क्रियाकलापस्य ‘अनन्तरयाय’ अविच्छेदायैव भवति ।  
 न त्वनेन किञ्चित् संस्कर्तव्यं मस्तीत्याह— “अथो इति ।  
 अपि च उभयोः ‘अन्तयोः’ आहवनीयगार्हपत्ययोश्चयनेन ‘संस्क्रिय-  
 माणयोः’ ‘मध्यम्’ अपि स्थलं ‘संस्क्रियते’, तेनैव संस्कारेण संस्कृत  
 भवति ; तस्माद् गार्हपत्यचयनानन्तरं माहवनीयस्यैव चयनम्,  
 पश्चाद्धिष्ण्याना मिति क्रमः सिद्ध इति भावः ॥ २३ ॥ २ ॥

इति त्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
 सप्ताब्धीन् पञ्चसीरोंस्त्रिदशतल्लताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
 रत्नोत्सां हस्मबाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
 व्यश्राणीद्विश्चक्रां प्रथितविधिमहाभूतयुक्तां षट्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्ना तिलं भव मंतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूष्यः ।

सांज्यौत्यं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 . . इन्द्राव्यो रत्नरूपं गिरि मञ्जत मुदा घातसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण  
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 . सप्तमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति । एतद्दे॒वां गा॒र्ह-  
पत्यं चित्वा॒ समा॒रोह॒न्नयं वै लो॒को गा॒र्हपत्य॒ इमं  
मेव तं लो॒कं सं॒स्कृत्य॒ समा॒रोहं॒स्ते तम॒ एवा-  
नति॒दृश्य॒ मप॒श्यन् \* ॥ १ ॥

ते ऽब्रुवन् । उप॒ तज्जानी॒त यथे॒दं तमः॒ पा-  
प्मान॒ मप॒हना॒महा ऽद्व॒ति तेऽब्रुव॑न्श्चेत॒यध्व॒ मिति॒  
चित्ति॒ मिच्छ॑तेति॒ व्याव॒ तद्ब्रुव॑न्स्तदिच्छ॒त यथे॒दं तमः॒  
पाप्मान॒ मप॒हना॒महा ऽद्व॒ति ॥ २ ॥

ते चेत॒यमा॒नाः । एता॒ इष्ट॒का अप॑श्यन्  
नैर्ऋती॒स्ता उ॒पाद॑धत॒ ताभि॑स्त॒तमः॒ पाप्मान॒ मपा-  
घ्नत॒ पाप्मा॒ वै नि॒र्ऋति॑स्तद्यु॒देता॒भिः पाप्मानं॒ नि-  
र्ऋति॑ म॒पान्न॑त॒ वस्मा॑देता॒ नैर्ऋत्यः॒ ॥ ३ ॥

तत्रा॒ ऽप॒तत् क्रि॒यते । यद्दे॒वा अ॒कुर्व॑न्नि॒दं नु  
तत् तमः॒ स पा॒प्मा दे॒वैरे॒वाप॑हतो॒ यत्त्वे॒तत् करो-  
ति॒ यद्दे॒वा अ॒कुर्व॑न्स्तत्॒ कर॑वाणीत्यथो॒ य ए॒व

पाप्मां या निर्ऋतिस्तु मेताभिरुपहृते तद्यदेताभिः  
पाप्मानं निर्ऋतिं मपहृते तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ४ ॥

यद्विवेता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजापतिं विश्वस्तं  
यत्र देवाः समस्कुर्व्वस्तु मुखायां योनौ रेतो  
भूतमसिञ्चन्त्योनिर्व्वा ऽउखा तस्मा ऽएतां संवत्सरे  
प्रतिष्ठां संस्कुर्व्वन्निम मेव लोके मयं वै लोको  
गार्हपत्यस्तुस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः  
श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुपाघ्नंस्तद्यदस्यै-  
ताभिः पाप्मानं निर्ऋतिं मपाघ्नंस्तस्मादेता नै-  
र्ऋत्यः ॥ ५ ॥

तथैवैतद्यजमानः । आत्मानं मुखायां योनौ  
रेतो भूतं सिञ्चति योनिर्व्वा ऽउखा तस्मा ऽएतां  
संवत्सरे प्रतिष्ठां संस्करोतीम मेव लोके मयं  
वै लोको गार्हपत्यस्तुस्मिन्नेनं प्रजनयति तस्य यः  
पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुप-  
हृन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋतिं मपहृन्ति  
तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ६ ॥

यादमाल्यो भवन्ति । अधस्पद् मेव तत्

पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै  
 नास्ति तदलक्षणा मसन्त मेव तत् पाप्मानं नि-  
 र्ऋतिं कुरुते तुषपक्वा भवन्ति नैर्ऋता वै तुषा  
 नैर्ऋतैरेव तन्नैर्ऋतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति  
 कृष्णा हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै नि-  
 र्ऋतिः ॥ ७ ॥

ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैर्ऋती  
 दिङ् नैर्ऋत्या मेव तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति स  
 यत्र स्वकृतं वेरिणः श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना  
 उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या  
 ऽओषधयो न जायन्ते निर्ऋतिर्हास्यै तद् गृह्णाति  
 नैर्ऋतः ऽएव तद्भूमेर्निर्ऋतिं दधाति ताः पुराची-  
 लीकभाजः कृत्वोपदधाति ॥ ८ ॥

असुन्वन्त मयजमान मिच्छेति । यो वै न  
 सुनोति न यजते तं निर्ऋतिर्ऋच्छति स्तेन-  
 स्येत्या मन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्या मन्वि-  
 हि तस्करस्य चेत्येतदथो यथा स्तेनस्तस्करः प्र-  
 लाय मेत्येवं प्रलाय मिहीत्यन्य मस्यदिच्छ सा त

ऽइत्येत्यनित्यं विद्वांस मिच्छेत्येतन्नमो देवि नि-  
र्ऋते तुभ्य मस्त्विति नमस्कारेणैवैना मपहते ॥ ९ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्म-  
तेजा वै निर्ऋतिस्तस्या ऽएतन्नमस्करोत्ययस्मयं  
विवृता बन्ध मेत मित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन  
निर्ऋतिर्बध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं ग्रम्या  
संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं  
सुर्व्वं यत् माभ्यां त्वं संविदानेत्येतदुत्तमे नाके  
ऽअधि रोहयेन मिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे  
लोके यजमान मधिरोहयेत्येतत् \* ॥ १० ॥

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमीति । घोरा  
वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन् जुहोति यत् तद्दे-  
वुल्यं कर्म करोत्येषां बन्धाना मवसर्ज्जनायेति यै-  
र्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जुनो भूमिरिति प्र-  
मन्दत ऽइतीयं वै भूमिरस्या वै सु भवति यो  
भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वत इति  
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्व्वत इत्येतदियं ।

वै निऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निऋच्छति  
तद्यथा वै ब्रूयादसावामुष्यायणोऽसि वेद त्वा  
मा मा हिंसीरित्येव मेतदाह नतरां हि वि-  
दित आमन्वितो हि नस्ति ॥ ११ ॥

नोपस्पृशति । पाप्मा वै निऋतिर्नेत् पाप्मना  
सस्पृशा ऽङ्गति न सादयति प्रतिष्ठा वै सा-  
दनं नेत्पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सूददोहसाधि-  
वदति प्राणो वै सूददोहा नेत्पाप्मानं प्राणेन  
सन्तनवानि सन्दधानीति ॥ १२ ॥

ता हैके परस्तादव्वाचीरुपदधाति । पाप्मा  
वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं निऋति मन्ववायामेति न  
तथा कुर्यात् पराचीरेवोपदध्यात् पराञ्च मेव तत्  
पाप्मानं निऋति मपहते ॥ १३ ॥

तिस्र इष्टका उपदधाति । विहृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पाप्मानं नि-  
ऋति मपहते \* ॥ १४ ॥

अथासन्दीर्घं शिक्वत् । रुक्मपाशं मिण्ड्वे तत्

पराङ्मुखो न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशा-  
 देवं तत् प्रमुच्यते यं ते देवी निर्ऋतिरावबन्ध  
 पाशं ग्रीवास्त्रविचृत्य मित्यनेवंविदुषा हाविचृत्यस्तु  
 ते विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा ऽत्रायुस्तस्यै-  
 तन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीय-  
 स्तस्माद्वादि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविर आयुषो  
 न मध्यादित्येवाहायैतं पितुमहि प्रसूत इत्यन्नं  
 वै पितुरथैतदन्नमहि प्रसूत इत्येतत् विष्टुब्भि-  
 र्वञ्चो वै विष्टुब् वञ्चेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति  
 मपहते ॥ १५ ॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी शिक्वा  
 रुक्मपाश इण्डु तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पा-  
 प्मानं निर्ऋति मपहते ॥ १६ ॥

अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वञ्चो वा  
 ऽत्रापि वञ्चेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति मन्तुर्हते  
 नमो भूत्यै येद् चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा  
 ऽएतद्ग्रे देवाः कर्माकुर्वन्त तस्या ऽएतन्नमोऽकु-



र्वन् भूत्वा ऽउ एवाय मेतत् कर्म कुरुते तस्या  
 ऽएतन्नमस्कारोत्थप्रतीक्ष मायन्त्यप्रतीक्ष मेव तत् पा-  
 प्मानं निर्हति जहति ॥ १७ ॥

प्रत्येत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुयथा-  
 यथं करोति यदग्नौ सामिचित् ऽएतां दिशं मेति  
 तस्मा ऽएवैतन्निष्ठुते ऽहिंसायै ॥ १८ ॥

यदेवोपतिष्ठते । अथ वै लोको गार्हपत्यः  
 प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयं सु वै प्रतिष्ठायैतदपथ  
 मिवैति यदेतां दिशं मेति तद्यदुपतिष्ठत ऽईमा  
 मेवैतत् प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैत्यस्या मेवैतत् प्रति-  
 ष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

निवेशनः सङ्गमनो व्वसूना मिति । निवे-  
 शनो ह्ययं लोकः सङ्गमनो व्वसूनां विश्वा  
 रूपाभिचष्टे शचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे  
 शचीभिरित्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मोन्द्रो  
 न तस्यौ समरे पथीना मिति यथैव यजुस्तथा  
 बभूवुः ॥ २० ॥ ३

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽक्षिलं जगत् ।

निर्गमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेष्टम् ॥ १ ॥

अथास्वाधिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीना मिष्ट-  
कानां सुपधानं विधित्सुस्तासां हरणं सङ्गृहेष प्रतिजातीते—  
“अथात इति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम् ‘अतः’ अस्मात्  
स्थानात् निर्ऋतिदेवताकाः इष्टकाः ‘हरन्ति’, नैर्ऋत्यां  
दिशि निरस्येयुस्त्वर्थः । तासां सुपधानस्य प्रयोजनं मास्या-  
धिकयाचष्टे— “एतद्वा इति । ‘एतद्’ एतस्मिन् खलु  
गार्हपत्यचयनानन्तरकाले ‘देवाः’ ‘समारोहन्’ सम्प्राप्नुवन् ।  
एतदेव विवृणोति— “अयं वा इति । “ते तम एवेति । चय-  
नेन संस्कृतं भूलोकं मारुटाः ‘ते’ ‘अनतिदृश्यम्’ दृश्यमतिक्रम्य  
द्रष्टुं मशकं सर्ववक्ष्वाच्छादकम् पापरूपं ‘तम एव’ सर्वत्र  
अपश्यन्निवर्त्यः ॥ १ ॥

“तेऽब्रुवन्निति । “उप. तज्जानीतेति । उपेत्य तत् तमोऽपहन्तु  
सुपायं विचारयतेत्यर्थः । “तमः पाप्मानं मिति । तमोरूपं पाप्मानं  
चेतयध्वं मितीच्छार्थे णिजिति \* व्याचष्टे—“चिति मिच्छतेतीति ।  
चितिं पापहननसाधनं मिष्टकानां चयनं मिच्छतेत्यर्थः । “तदि-  
च्छतेति । हे देवाः ! ‘तत्’ चयनम् ‘इच्छत’, ‘यथा’ येन चयनेन  
‘इदं’ तमोरूपं पापं नाशयेमित्यर्थः ॥ २ ॥

“ते चेतयमाना इति । चिति मिच्छन्त इत्यर्थः ।  
“पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणायरदिमधिदेवता सा ‘पाप्मा’ .

वै' पापरूपैव । एतत्तादात्म्यं सुपञ्जीव्यं पापापहृतिर्हेतुर्भूतानां मिष्टकानां 'नैर्ऋत्यः'—इति नाम निर्वृत्तम् । “तद्यदेताभिरिति । ‘अपाघ्नत’ अनाश्रयन् ॥ ३ ॥

इत्थं माख्यायिकया नैर्ऋतीनामप्रधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य, इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थता माह— “तद्वा एतत् क्रियत इति । ‘तत्’ खलु ‘एतत्’ इदानीं यजमानेन ‘क्रियते’, ‘यद्देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ । यथा ‘देवैः’ ‘अपहृतः’ नाश्रितः तमोरूपः ‘स पाप्मा’, इदानीं मध्यनुष्ठानेन निवर्त्तते । “यत्चेतदिति । ‘यत्’ खलु ‘एतद्’ यजमानः अनुतिष्ठति, देवैर्यत् कृतम्, ‘तत्’ अहं मपि ‘करवाणि’, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलं मनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनं मपीत्याह— “अथो इति । उक्तं मयं मनुष्यं नैर्ऋतीनां मिष्टकानां मपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्वृते— “तद्यदेताभिरिति ॥ ४ ॥

प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैर्ऋतीनां हरणं मनुवदति— “यद्देवैता इति । ‘यत् उ एव’ यस्मादेव प्रयोजनान्तरात् ‘एता नैर्ऋतीः’ इष्टकाः ‘हरन्ति’, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत् प्रतिपादयति— “प्रजापतिं विस्मस्तं मिति । यदा खलु ‘देवाः’ ‘विस्मस्तं’ विस्मिष्टावयवं ‘प्रजापतिं’ ‘समस्कुर्वन्’ पुनरजनयन्, तदा ‘तम्’ प्रजापतिम्, उखालक्षणायां ‘योनी’ उख्याग्निरूपेण ‘रेतोभूतम्’ असिञ्चन् । “योनिर्वा उखेति । उख्याग्नेस्तत उत्पत्तेः । “तस्मा एता मिति । ‘तस्मै’ प्रजापतये ‘संवत्सरे’ उख्याग्निभरणेन नीते सति ‘एतां प्रतिष्ठां’ प्रतितिष्ठत्यनेनेति पादद्वयं प्रतिष्ठा ; भूलोकात्मकं पादद्वयं

मजनयन्त्रित्वर्थः । ननु संवत्सरे अतिक्रान्ते गार्हपत्य एव  
 चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोस्तादात्म्य माह—  
 “अथ वै लोक इति । “तस्मिन्नेन मिति । ‘तस्मिन्’ भूलोकात्मके  
 गार्हपत्ये ‘एनं’ प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं ‘प्राजनयन्’ उदपा-  
 दयन् । ‘तस्य’ प्रजायमानस्य ‘यः पाप्मा’ शरीरे लिप्तः, ‘यः श्लेष्मा’,  
 ‘यत्’ च ‘उत्सवं’ गर्भवेष्टनम्, ‘यत्’ च जराव्याख्यं गर्भस्य बाह्य-  
 वेष्टनम्, ‘तत्’ सर्वं पापरूपम् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एताभिः’  
 दृष्टकाभिः ‘अपापन्न’ अपहतवन्तः । अत्रापि पूर्ववन्नामनिर्वचनं  
 करोति— “तद्यदस्येति ॥ ५ ॥

इतिहाससिद्धं मर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—  
 “तथैवेतदिति । यथा प्रजापति मुदीरितरीत्या देवाः समस्तु-  
 र्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूप मात्मानम् “उखाया  
 मित्यादि पूर्ववद् योज्यम् \* ॥ ६ ॥

इत्थं पापरूपस्य तमसः, गर्भसम्बन्धिः श्लेष्मादिरूपस्य च  
 पाप्मानो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य, तासां  
 लक्षणं माह— “पादमात्र इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलि-  
 परिमितः पुरुषः, तस्य दशमोऽंशः पादः, स प्रमाणं यासां  
 ताः ‘पादमात्रः’ । तदुक्तं कात्यायनेन— “पञ्चारब्दिर्दशवित-  
 स्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषः, तस्य दशमेन पादमात्रो भवति”  
 -इति † । तत् परिमाणं प्रशंसति— “अधस्यद मेवेति ।  
 ‘एतत्’ एतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेन ‘अधस्यद’  
 पादस्याधस्तादेव निर्ऋतिरूपम् ‘पाप्मानं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

\* एतत्पूर्वस्या मेव कङ्किकायां ( ८४ ए० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १६. ८. २१ ।

एतेन पादमात्र इत्यत्र \* पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थांश-  
वाचक इति व्याख्यातं भवति । धर्मविशेषं विधत्ते — “अलक्षणा  
भवन्तीति । आलिखितादिकं लक्षणम्, तद्रहिता भवेयुरित्यर्थः ।  
एतदुपपादयति — “यद्वै नास्तीति । ‘यत्’ स्वत्वभावप्रतियोगि,  
‘तत्’ निस्वरूपत्वाद् ‘अलक्षणं’ व्यावर्त्तकचिह्नरहितम् ; अतोऽत्रा-  
लक्षणकरणेन ‘निर्ऋतिं’ पाप्मानम् ‘असन्तम्’ अभावप्रतियोगिन  
मेव करोति । ननु पाके सतोष्टकान्तरलक्षणवत्त्व मासा मवर्ज-  
नीय मित्याशङ्क्य, तासां पाकप्रकार माह — “तुषपक्ता भव-  
न्तीति । तुषैः पक्ताः ‘तुषपक्ताः’ । पचेः कर्मणि क्तः, “पचो वः” —  
इति † निष्ठातकारस्य वत्वम् । तत् प्रशंसति — “नैर्ऋता वा  
इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे “अथ तुषान् ग्रहन्त्यपहतं रक्ष इति” —  
इति ‡ रक्षःसम्बन्धस्य समान्नातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां  
कार्ण्यं विधत्ते — “ऊष्णा भवन्तीति § । ताः तिस्र इष्टकाः ऊष्ण-  
वर्णाः । तत्र कारण माह — “ऊष्णं हीति । अपहृत्यव्यस्य तमसः  
ऊष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्ण-  
त्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तासां मुपधानार्थं दिग्विशेष मभिनयेन दर्शयति — “ताभि-  
रेता मिति । ‘एतां’ दक्षिणापरां दिशं ‘ताभिः’ सह  
‘यन्ति’ गच्छेयुः । ‘एषा’ खलु ‘नैर्ऋतीः’ निर्ऋतिदेवताघिष्ठिता  
‘दिक्’ । तथा सति स्वकीयदिग्भेदेतां ‘निर्ऋतिं’ ‘दधाति’

\* ‘पादमात्र इत्यत्र’ — इति च, ज ।

† पा० सू० ८. २. ५२ ।

‡ शत० ब्रा० १. ४. २१ ( १ भा० ७६ पृ० ६ पं० ) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

स्थापयति । तथापि देशविशेष माह— “स यत्रेति । ‘सः’ अध्वर्युः  
 नैर्ऋत्यां दिशि ‘यत्र’ यस्मिन् स्थाने ‘स्वज्ञतः’ स्वयमेव  
 सञ्ज्ञातम् ‘हरिणं’ निस्तृणम्, जषरस्थानं वा भवति \* , ‘स्वभ्र-  
 प्रदरो वा’, स्वभ्राकारेण प्रदीर्घः प्रदेशो भवेत्, ‘तत्’ तस्मिन्  
 स्थाने ‘एनाः’ नैर्ऋतीः ‘उपदध्यात्’ । तादृक्स्थानस्य निर्ऋति-  
 देवताधिष्ठितत्वं माह— “यत्र वा इति । ‘यत्र’ खुस्वस्थाः  
 पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा ‘भवदीर्यते’ भिद्यते,  
 ‘यत्र वा’ जषरस्थाने ‘ओषधयो न जायन्ते’, तदेतत् स्थानद्वयं  
 निर्ऋतिगृहीतम् ; तथा च निर्ऋतिसम्बन्धे स्थाने एव  
 नैर्ऋतीनां सुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति । धर्म-  
 विशेषं विधत्ते— “ताः पराचौरिति † । पराञ्चनाः स्वस्थानभि-  
 मुखा यथा भवन्ति तथा ‘लोकभाजः’ स्थानभाजः ‘कृत्वा’ ‘ताः’  
 इष्टका उपदध्यात् । एतच्च पराञ्च मये प्रतिपादयिष्यते ॥ ८ ॥

‘तच्च तिसृणां मिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन्’  
 व्याचष्टे— “असुन्वन्त मयजमान मित्यादिना ‡ । “यो वै न  
 सुनोतीति । ‘यः’ पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, यश्च दर्श-  
 पूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैः ‘न यजते’, ‘तं’ ‘निर्ऋतिः’ पापदेवता  
 ‘कृच्छति’ प्राप्नोति । तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोध्य “असुन्वन्त मयज-  
 मान मिच्छेति § मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः ।

“स्तेनस्य चेत्या मिति । प्रच्छन्नचोरस्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां

\* ‘हरिणं निस्तृणं सुषरस्थानम्’—इत्येव ‘ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ वा० खं० १२. ६२, ६३, ६४ ।

§ वा० खं० १२. ६२ ।

धन मपहरति यः स तस्करः ; अनयोः परस्परविलक्षणत्वात्  
अविद्यमान मपि 'च'-शब्द मध्याहृत्य योजयति । स्तेनस्य  
तस्करस्य च या 'इत्या' गतिः , "सञ्ज्ञायां समजेत्यादिना \*  
“इण् गतौ”—इत्यस्माद् † भावे क्यप् । तां गतिं हे निर्ऋते !  
त्वम् 'अन्विहि' अनुगच्छ । एतदेव विद्वन्तीति—“अथो इति ।  
अपि च यथा स्तेनः तस्करस्य 'प्रलायं' प्रलीय अदृश्यो भूत्वा  
'एति' गच्छति । प्रलाय मिति णमुलन्तः ‡ , 'एवं' निर्ऋते !  
त्व मपि प्रलयन मदर्शनम् 'इहि' गच्छेति मन्त्रभागस्या-  
भिप्रायः । “अनित्यं विद्वांस मिति । 'इत्यम्' अनेन प्रकारेणोक्त  
मर्थं यो न वेत्ति , सोऽनित्यं विद्वान् अत्रान्यशब्देन विवक्षित  
इत्यर्थः । हे निर्ऋते ! अस्मत्तः 'अन्यं' त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् 'इच्छ' ।  
सा तादृशो अविद्वद्विषयैव खलु 'ते' तव 'इत्या' गतिरिति मन्त्र  
भागस्यार्थः । “नमस्कारेणैवेति । “नमो देवि निर्ऋते”—इत्यन्तिम-  
पादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेण 'एनां' निर्ऋतिम्  
'अपहते' अपबाधते अपसारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

“नमः सु ते इति । द्वितीयो मन्त्रभागः । तत्र तिग्म-  
तेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धि माह— “तिग्मतेजा वै इति ।  
तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः , हे तिग्मतेजो  
निर्ऋते ! 'ते' तुभ्यं नमोऽस्त्विति तस्यार्थः । द्वितीयपाद  
मनूय व्याचष्टे— “अयस्मयेनेति । अयंसा लोहेन निर्मितो  
बन्धोऽयस्मयः । विकारार्थे मयट् § तादृशेन खलु बन्धेन

\* पा० सू० ३. ३. ८ ।

† अदा प० ४० धा०

‡ पा० सू० ३. ४. २२ इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

§ पा० सू० ४. ३. १४३ ।

‘निर्ऋतिस्तं’ बध्नाति’ यं बन्धनीयं मन्वते । हे निर्ऋते !  
 ‘अयस्म्य मेतं बन्धं विचृतं’ विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता । यम-  
 यमोशब्दयोर्विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वै यम इति । अन्तः-  
 प्रविष्टः सन् कृत्स्नजगन्नियमनाद् ‘अग्निर्यमः’ ; तदधिष्ठित-  
 त्वात् ‘इयं’ पृथिव्येव ‘यमो’ ; इयं मपि हि आश्रितं सर्वं जगन्निय-  
 च्छति । तथा ‘आभ्यां’ यमेनाग्निना , यस्या पृथिव्या च ‘संवि-  
 दाना सञ्ज्ञानाना ‘त्वम्’ । इति तृतीयभागस्यार्थः ।

चतुर्थे पाद मन्व्य व्याचष्टे— “उत्तमे नाक इति । कं  
 सुखम् , न कम् अकं दुःखम् , तदस्मिन् नास्तीति ‘नाकः’  
 स्वर्गाख्यो लोकः । उत्तं हि—

• “यत्न दुःखेन सन्निधं न च यस्त मनन्तरम् ।

• अभिलाषोयनोतं च तत् सुखं स्वःपदाभिधम्”—इति ।

सिद्धं मन्वत् ॥ १० ॥

“यस्यास्त इति । तृतीयो मन्त्रः \* । तत्र प्रथमपादस्य  
 तात्पर्यं माह— “घोरा वा इति । ‘निर्ऋतिः’ पापदेवतात्वात्  
 पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् ‘घोरा’ तीव्रा दुःसहा । तथा च  
 ‘तद्देवस्य मेतत् कर्म करोति’ इति यत् , ‘एतत्’ एतेन  
 ‘तस्याः’ निर्ऋतेः ‘आसन्’ आस्ये ‘जुहोति’ प्रक्षिपति । एवञ्च  
 प्रथमपादस्यायं मर्थः— हे घोरे निर्ऋते ! यस्याः तव आस्ये  
 जुहोमि , तान्वा मित्युपरि सम्बन्धः ।

द्वितीयपाद मन्व्य एषा मिति इदंशब्दनिर्देश्य माह—  
 “यैबन्धेरिति । शिष्यपाशरुक्कसूत्रादिभिर्नैः बन्धनैः दुःखहेतुभिः



‘बद्धो भवति’ यजमानः , ‘एषां बन्धानां’ निःकर्तृतिबन्ध-  
हेतुभूतानां पापानाम् ‘अवसर्जनाय’ विक्षेपणाय शुद्धोमीति  
सम्बन्धः ।

तृतीयपाद मनुष्य , तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यं  
माह—“यां त्वेति । हे निःकर्तृते ! ‘जनः’ लोकः ‘यान्त्वां’ ‘भूमिः’  
भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा ‘इति’ ‘प्रमन्दते’ स्तूयतीति तस्य पाद-  
स्यार्थः । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ खलु पृथिवी निःकर्तृतिरूपा  
‘भूः’ भवनहेतुः । कुत एतदित्याह— “अस्यां वा इति । ‘यो  
भवति’ उत्पद्यते , समृध्यते वा , ‘सः’ ‘अस्यां’ पृथिव्या माधार-  
भूतायां खलु ‘भवति’ । तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिरिति-  
नाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः ।

जनवाद मुपन्यस्य , स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—  
“निःकर्तृतिं त्वेति । अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव , न  
तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे— “निःकर्तृतिरितीति ।’ अयं  
मर्थः,— तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरत्वेन पठितः ‘इति’-शब्दो-  
ऽत्रानुषज्यते । ‘अहं’ पुनः ‘त्वां’ ‘निःकर्तृतिः’ सर्वतो निरर्पण-  
हेतुः आर्त्तिकारणम् \* ‘इति’ ‘परिवेद’ परितो जानामि ।  
एवं निःकर्तृतिं त्वेति द्वितीयान्तं निःकर्तृतिपद मितिशब्दा-  
नुषज्जनेन व्याख्यायैतदुपपादयति— “इयं वा इति । यो  
निःशेषेण ‘ऋच्छति’ आर्त्तिं प्राप्नोति , ‘तं’ पुरुषम् ‘इयम्’ एव

\* “निःकर्तृतिः कृच्छ्रापत्तिः स्यादलङ्गीस्तु निःकर्तृतिः ( अम० को०  
१. २. १३. )—इत्यभिधानात् , भूमिर्वा निःकर्तृतिः , दिग्भिमानिनी  
देवता वा ; ‘अलङ्गीं दिक्पतौ चापि निःकर्तृतिर्निरूपद्रवे’—इति  
कोशात्—इति मञ्जीधरः ।

देवता 'निरर्पयति' निर्वर्तितं प्रयुङ्क्ते । निरूपपदात् ऋच्छतेः  
प्रयोजकव्यापारे णिचिं \* “अर्त्तिङ्गोत्यादिना † पुक् । अतो  
निरर्पणादिय मेव पृथिवी निर्वर्तितिरित्युच्यते । अतो भवत्याः  
स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः ।

एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजनं माह— “तद्यथेति ।  
'तत्' तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेषु , अस्मै त्व मेतन्नामासि ,  
अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि , अतस्त्वा महं जानामि , मां  
'मा हिंसोः' मा वधिष्ठाः 'इति' आगतं प्रति यथोच्यते ,  
एव मेव स्वस्वेतं “निर्वर्तितं त्वाह , मित्यादिना निर्वर्ततेः  
स्वरूपप्रतिपादनम् । नामग्रहणस्य फलं माह— “नतरा मिति ।  
'विदितः' ज्ञातो नामगोत्रादिना , 'आमन्त्रितः' आहूतः ,  
चोरादिः आत्मोयत्वेनाह्वातारं पुरुषं 'नतराम्' अतिशयेन नैव  
'हिनस्ति' बाधते ; एव मेव निर्वर्तिनामग्रहणादेनं यजमानं  
निर्वर्तिनं बाधत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उपस्पर्शनसादनसूददोहसा मिष्टकान्तरवदास्तु प्रसक्तानां ‡  
निषेधं करोति— “नोपसृशतीत्यादिना § । उपहिताया इष्ट-  
कायाः प्रथमं उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् , पश्चात् “तया देवतयेति ॥  
सादनम् , ततः “ता अस्येति मन्त्रेण सूददोहसाधिवदनम् ¶ ;

\* पा० सू० १. ४. ५५ ।

† पा० सू० ७. ३. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ५३. १ ।

¶ वा० सं० १२. ५५ ।

तदेतत् त्रितय मत्र न कर्त्तव्यम् । पापसंसर्गो मा भूदित्य-  
भिप्रायः । सन्तनवानीत्यस्य विवरणं सन्दधानीति । अन्यत्रि-  
गदसिद्धम् ॥ १२ ॥

तासां सुपधाने प्रकारद्वय माह— “ता द्वेक इत्या-  
दिना \* । ‘एके’ आखिनः ‘ताः’ नैर्ऋतीष्टकाः ‘परस्ताद्’ वि-  
प्रकृष्टाद्देशादारभ्य ‘अर्वाचीः’ आत्माभिमुखं सुत्तरोत्तर मात्मा-  
भिमुखीः ‘उपदधाति’ । तेषां मभिप्राय माह— “पाप्मां  
इति । समोपदेशादारभ्योत्तरोत्तरं विप्रकर्षेणोपधाने हि पूर्वी-  
पहिता मिष्टका मतिक्रम्य गमनात्त्रायसंसर्गः स्यात्, तादृशूपां  
‘निर्ऋतिम्’ ‘नैव अन्ववायानि’ नैव प्राप्तवानि ‘इति’ अनेना-  
भिप्रायेणेत्यर्थः ॥

द्वितीयं पक्षं विधातु मेतन्निषेधति— “न तथेति । तं  
पक्ष माह— “पराचीरेवेति † । ‘पराचीः’ उत्तरोत्तरं विप्र-  
कृष्टाः, ता एवोपदध्यात् । तथा च निर्ऋतिरूपं ‘पाप्मानं’  
‘पराञ्चम्’ आत्माऽनभिमुखं विप्रकृष्टम् ‘एव’ प्रेरयित्वा ‘अपहते’  
हिनस्ति ॥ १३ ॥

तासां नैर्ऋतीनां सङ्ख्या मनूय, स्तौति— “तिस्र इति ‡ ।  
“त्रिवृदग्निरिति । असकृदुक्तार्थम् ॥ १४ ॥

आसन्ध्यादीनां तत्र प्राप्तनं विधत्ते— “अथेति § । ‘अथ’  
समिदाधानानन्तरम्, या उख्याग्निधारणार्था ‘आसन्धी’, यच्च

\* का० औ० सू० १७. २. २ ।

† का० औ० सू० १७. २. १ ।

‡ का० औ० सू० १७. १. २२ ।

§ का० औ० सू० १७. २. ४ ।

भरणसमये उख्यधारणार्थं 'शिक्षम्', यश्च सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं "पाशः" सूत्रम्, ये च 'इण्डे' अग्निसहि-  
ताया उखाया उभयतो धारणाय दण्डमयी पिण्डौ । 'तत्' सर्वं नैऋतीनां 'पराङ्गे' पश्चाद्भागे 'न्यस्यति' क्षिपेत् ।  
“यन्ते देवीति \* तस्य मन्त्रः । तथा च कात्यायनः— “दक्षिणा-  
मुखोऽनुपस्थश्च सुन्वन्त मिति प्रत्यृचं पराचीरभ्याम् मेके  
नित्याभावः शिक्षरुक्मपाशेण्डासन्द्यैः परेणास्यति यन्त इति”—  
इति † । आसन्ध्यादीनां मुख्याग्निना तप्तत्वात् प्रासनीयत्वं  
स्रष्ट मित्यभिप्रेत्य रुक्मपाशस्य प्रासनीयत्वं सुपपादयति—  
“नैऋतो वा इति । निगदसिद्धोऽर्थः ।

। मन्त्रस्य पूर्वार्धे “अविचृत्य मितिपदस्याभिप्राय माह—  
“अनेवंविदुषा हेति । उक्तार्थज्ञानरहितः ‘अनेवंविद्वान्’, तेन  
‘अविचृत्यः’ । “चृती हिंसाग्रन्यनयोः” ‡ । चर्त्तितुं विस्फेपयितुं  
शङ्को न । अयं मर्थः,— हे यजमान ! ‘ते’ तव ‘ग्रीवासु’  
‘अविचृत्यं’ विमोक्तुं मशक्यं यं ‘पाशं’ ‘नैऋतिः’ देवता ‘आब-  
बन्ध’ आबद्धवती, “तं ते विद्यामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्र-  
त्यस्त्रायुःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वा आयु-  
रिति । आयुषो दाढत्वादग्निरेवायुःशब्देनोच्यते । “तस्यैतन्मध्य  
मित्यादि । ‘तस्य’ चीयमानस्यायुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः ‘एतत्’  
‘मध्यं’ मध्यमशरीरं ‘यद्’ गार्हपत्यचयनादूर्ध्वं माहवनीयचय-  
नात् प्राचीनं कर्म ; तदत्र मन्त्रगतेन मध्यमशब्देनोच्यते

\* वा० ख० १२. ६५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. २३—१७. २. ४ ।

‡ तु० प० ३४ धा० ।

इत्यर्थः । फलित माह— “तस्मादिति । ‘तस्मात्’ आयुः-  
शब्दस्य चीयमानाग्निपरत्वात् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य  
प्रयोगे “आयुषो मध्यात्”—इति मन्त्रभागस्य पाठो न विरु-  
ध्यते ; यदि ह्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः  
स्यात् , तदा यूनः प्रयोगे आयुषादेरिति विपरिणमयितव्यम् ,  
स्थविरस्य प्रयोगे आयुषोऽन्तादिति । ‘मध्यादित्येवाह’ इत्येवं-  
कारणेदृग्विधपरिणामो व्यावर्त्यते । तथा च तृतीयपाद-  
स्याय मर्थः— “हे यजमान ! ‘ते’ तव ग्रीवास्त्राबद्धं तं शिष्य-  
पाशं रुक्मपाशञ्च ‘विश्यामि’ । “स्यतिरूपसृष्टो विमोचने”—इति \*  
यास्कः । ‘आयुषः’ चीयमानस्याग्नेः मध्यात् गार्हपत्यचयना-  
दूर्ध्वभाविनः , कर्मकलापात् न विमुञ्चामीति । चतुर्थपाद मनूद्य  
व्याचष्टे— “अथैत मिति । पितुशब्दोऽन्नवाची । ‘अथ’ पाश-  
विमोचनानन्तरम् , ‘एतं पितुम्’ अग्निचयनफलभूत मन्नं ‘प्रसूतः’  
निर्ऋतिदेवतयानुज्ञातः सन् , हे यजमान ! त्वम् ‘अद्वि’ अशा-  
नेत्यर्थः । “प्रसूत इत्येतदिति , प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रयोजनं  
विवक्षित मिति भावः ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “त्रिष्टुब्भिरिति । ‘वज्रो वै  
त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् + , वज्रस्य च तदायुः  
धत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम् ॥ १५ ॥

इष्टकादीन् सन्भूय , अनूद्य , सह्याद्वारेण प्रशंसति—  
“तिस्र इति ॥ १६ ॥

उदकस्य निनयनं विधत्ते— “अथान्तरेषेति । ‘अथ’

\* निरु० १. ६. १ ।

† ते० सं० ७. १. १. ४ ।

भासन्त्यादीनां प्रासनानन्तरम्, 'अन्तरेण' स्वात्मन इष्टकानाञ्च  
मध्ये उदकपूर्णं चमसं 'निनयति' निषिञ्चति \* । तदेतत् प्रशं-  
सति—, "वप्सो वा इति । नैर्ऋत्यो हि ता इष्टकाः,  
तासां मात्मनश्च मध्ये वप्ससंस्तुतानां मपां निनयनेन पापरूपां  
'निर्ऋतिम्' 'अन्तर्हते' व्यवदधाति, तत्संसर्गपरिहारा-  
यैत्यर्थः ॥

निषेचनानन्तरं सुपोत्यानं समन्त्रकं विधत्ते— "नमो  
भूत्या इति † । भूतिलक्षणा देवता 'इदं' नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं  
कर्म 'चकार' कृतवती । तस्यै 'भूत्यै' श्रियै नमोऽस्त्विति  
मन्त्रार्थः । तत्रोदकनिनयनपूर्वकं सुपोत्यानं कात्यायनः सूचित-  
वात्— "उदपात्रं निषिञ्चान्तरात्मेष्टकं मुत्तिष्ठन्ति नमो  
भूत्या इति"—इति ‡ ।

पुरावृत्तन्यायेन भूत्यर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्मन्त्रस्कारपरतां  
मन्त्रस्य व्याचष्टे— "भूत्यै वा इति । 'भूत्यै' भवनाय ऐश्वर्याय  
खलु 'एतत् कर्म' 'देवाः प्राक्' 'अकुर्वन्' कृतवन्तः । 'तस्यै' एव  
भूत्यै 'एतन्नमः' 'अकुर्वन्', तद्देव 'अयं' यजमानोऽपि भूत्यर्थं  
मेव 'एतत् कर्म' कुरुते, 'तस्यै' एतन्नमस्करोति इति ॥

उपोत्यानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय  
स्मौति-- "अप्रतीक्ष मायन्तीति § । प्रतिनिवृत्य नैर्ऋतस्थानस्येक्षण  
मकृत्वा 'आयन्ति' शालां मागच्छन्ति, 'तत्' तेनाप्रतीक्षणेन

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क ।

† वा० सं० १२. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क, ख ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क ।

निर्ऋतिरूपं 'पाप्मानम्' 'अप्रतीक्ष मेव' प्रतीक्षणं भक्त्यैव  
'जहति' त्यजन्ति । "ओ हाक् त्यागे"—इति \* धातुः ॥ १७ ॥ .

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— "प्रत्येत्येति । 'प्रत्येत्य' नैऋत-  
स्थानात् प्रतिनिवृत्त्य, गार्हपत्यम् 'अग्निं सुपतिष्ठते' । तदुक्तं  
सूत्रकृता— "अनपेक्ष मेत्य शालाहार्योपस्थानं निवेशन इति"—  
इति † । उपस्थानस्य प्रयोजनं माह— "एतद्वा इति । 'एतद्'  
एतस्मिन् समये खलु 'एतदयथायथम्' अयथासु मन्याय्यं करोति  
किं पुनरेतदिति, तदाह— "यदग्नाविति । 'अग्नी' गार्हपत्य-  
चितिरूपे शालाहार्ये, 'सामिचिते' अर्धचिते 'एतां दिशं'  
नैऋतीम् 'एति' गच्छति । 'अहिंसायै' हिंसापरिहाराय 'तस्मै'  
गार्हपत्यचितिरूपायान्नये 'एतत्' निष्ठुते एव अयथायथकरण-  
जनितापराधं शमयत्येव ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरैणाप्युपस्थानस्य कर्तव्यता माह— "यदेवेति । अयं  
वा इति । 'गार्हपत्यः' पृथिवीलोकात्मकः खलु, प्रतिष्ठात्मकश्च  
सः । 'इयम् उ वै' पृथिव्यपि खलु 'प्रतिष्ठा' आस्यदम् । 'अथैतत्  
इदानीम् 'अपथ मिवैति' अमार्गेणैव प्रतिपद्यते, 'यदेतां' नैऋतीं  
'दिशम्' 'एति' गच्छति । उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रवि-  
ष्टादयति— "तद्यदिति । 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'इमां' प्रतिष्ठा-  
रूपां पृथिवी मेव 'अभिप्रत्येति' सान्मुख्येन प्रतिपन्नो भवति,  
'प्रतिष्ठायाम्' अस्यां 'प्रतितिष्ठति' च, चिरं स्थितिं लभत  
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

\* जु० प्र० ८ धा० ।

† का० औ० सू० १७. १. इ क, ख ।

विहिते शालादार्योपस्थाने मन्त्र मनुष्य व्याचष्टे— “निवेशन इति \* । निविशन्ते वसूनि अस्मिन्निति ‘निवेशनः’, सङ्गच्छन्ते धनान्यस्मिन्निति ‘सङ्गमनः’ । आधाराधेययोरभेदोपचारेणान्तेः पृथिवीलोकत्व मित्यभिप्रेत्याह— “निवेशनो ह्ययं लोक इति । विखण्डस्य सर्वशब्दाभिधायकत्वं व्याचष्टे— “सर्वाणीति । उक्त-  
शब्दं तु निगदव्याख्यात मित्याह—\* “यथैव यजुरिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— योऽय मग्निः ‘वसूनां’ धनानां ‘निवेशनः’ एकाग्रयः, ‘सङ्गमनः’ सङ्गत्याधारश्च, ‘विश्वा रूपा’ सर्वा-  
णि रूपाणि आहवनीयदक्षिणान्यतिप्रणीताग्नीध्रधिष्ण्यप्रभृतीनि ‘शचीभिः’ कर्मभिः ‘अभिचष्टे’ अभिपश्यति । कथं पश्य-  
तीत्यपेक्षाया माह— ‘सत्यधर्मा’ अवितथधर्मकारी ‘सविता’  
देव इव ; स यथा सर्वं मभिपश्यति, तथेत्यर्थः । यः ‘इन्द्रो न’  
इन्द्र इव ‘पथीनां समरे’ परिपन्थिभिः सह सङ्ग्रामे ‘तस्थी’ स्थित-  
वान् । नकारोऽत्रोपमार्थीयः ; “उपमार्थीय उपरिष्टादुपाचार-  
स्तस्य येनोपमिमीते”—इति † हि यास्कः ॥ २० ॥ ३ [२. १.] ॥

इति त्रैसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* वा० ख० १२. ६६ ।

† निरु० १. २. १ ।



( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. ) .

अथ प्रायणीयं निर्व्वपति । तस्य हविष्कृतं  
व्वाचं व्विसृजते व्वाचं व्विसृज्य स्तम्बयजुर्ह-  
रति स्तम्बयजुर्हत्वा पूर्व्वेण परिग्रहेण परिगृह्य  
लिखित्वा ह हर विरिति हरति विराग्नीध्रः ॥ १ ॥

प्रत्येत्य प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन  
प्रचर्य सौरं युनक्त्येतद्वा ऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः  
पुरस्तादुन्नेन समर्द्धयंस्तथैवैन मय मेतत् संस्क-  
रिष्यन् पुरस्तादुन्नेन समर्द्धयति सौरं भवति सैर  
हैतद्यत् सौर मिरा मेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥ २ ॥

औदुम्बरं भवति । जग्वै रस उदुम्बर ऊर्जे-  
वैन मेतद्रसेन समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्षं चिवृत्  
तस्योक्तो बन्धुः \* ॥ ३ ॥

सोऽग्नेर्हविषाऽ श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नु-  
त्तरस्याऽस्य पुरस्ताद्युज्यमान मभिमन्त्रयते सौरा  
युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये व्वि-

द्वापुसस्ते कवयस्ते सौरं च युञ्जन्ति युगानि  
 च वितन्वते पृथग्धोरा देवेषु सुमयेति यज्ञो  
 वै सुन्नं धोरा देवेषु यज्ञं तन्वानां इत्ये-  
 तत् ॥ ४ ॥

युनक्ति सौरा वि युगा तनुध्व मिति । यु-  
 ञ्जन्ति हि सौरं वि युगानि तन्वन्ति कृते योनौ  
 व्यपतेह व्वीज मिति व्वीजाय वा ऽएषा योनि-  
 ष्क्रियते यत् सीता यथा हं वा ऽअयोनौ रेतः  
 सिसृचेदेवं तद्यदकृष्टे व्यपति गिरा च श्रुष्टिः स-  
 भरा असन्न इति व्याग्वै गौरन्नं श्रुष्टिर्नेदीय  
 इत्सुग्यः पक्व मेयादिति यदा वा ऽअन्नं पच्यते-  
 ऽथं तत्सृग्योपचरन्ति द्वाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च  
 विष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

स दक्षिण मेवाग्रे युनक्ति । अथ सव्य मेवं  
 देवचेतरथा मानुषे षड्गवं भवति द्वादशगवं वा  
 चतुर्विंशतिगवं वा संवत्सर मेवाभिसम्प-  
 दम् ॥ ६ ॥

अथैनं विवृणोति । अन्नं वै कृषिरेतद्वा

ऽध्वस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नं मदध्व-  
स्तथैवास्मिन्नयं मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

स वा ऽआत्मानं मेव विक्लषति । न पक्ष-  
पुच्छान्यात्मंस्तदन्नं दधाति यदु वा ऽआत्मन्नं  
धीयते तदात्मानं भवति तत् पक्षपुच्छान्यथ यत्  
पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानं भवति न पक्ष-  
पुच्छानि ॥ ८ ॥

सु दक्षिणाङ्गेनानिः † । अन्तरेण परिश्रितः प्रा-  
चीं प्रथमां सीतां क्लषति शुनं सु फाला  
विक्लषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु व्वा-  
हैरिति शुनं शुनमिति यद्वै समृद्धं तच्छुग्  
समर्द्धयत्येवैना मेतत् ‡ ॥ ९ ॥

अथ जघनार्द्धेनोदीचीम् । घृतेन सीता मधुना  
समज्यता मिति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्विश्वेदेवै-  
रनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च

\* 'दधाति'—इति क ।

† 'दक्षिणाङ्गेनानिः'—इति ग, घ ।

‡ 'मेतत्'—इति ग, घ ।

वर्षस्थेऽश्वतऽजुर्जस्वती पयसा पिब्वमानेति रसो  
वै पय जजुर्जस्वती रसेनान्नेन पिब्वमानेत्येतद-  
स्मान्त्सीति पयसाभ्याववृत्स्वेत्यस्मान्त्सीति रसेनाभ्या-  
ववृत्स्वेत्येतत् \* ॥ १० ॥

अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पृथीरवदिति  
लाङ्गलं रयिमदित्येतत् सुशेवः सोमपितृसर्व्वि-  
त्यन्नं वै सोमस्तदुद् वपति गा मुविं प्रफुर्व्वं च  
पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतद्वि सर्व्वं सौ-  
तोद्वपति ॥ ११ ॥

अथ पूर्व्वार्द्धेन दक्षिणाम् † । कामं कामदुघे  
धुह्व मित्राय व्वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां  
पूँषो प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्व्वदेवत्या वै  
कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्व्वान् कामाभ्युह्वेत्ये-  
तदित्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्वक्षिणावृत्तद्वि  
देवता ‡ ॥ १२ ॥

\* '०त्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'देवता'—इति ग, घ ।

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु  
दिक्षुन्नं तदस्मिन्नेतदधाति तद्वै यजुषाद्वा वै तद्य-  
द्यजुरङ्घो तदादिमा दिशः \* ॥ १३ ॥

अथात्मानं व्विकृषति । तद्यदेव संवत्सरेऽन्नं  
तदस्मिन्नेतदधाति तूष्णीं मुनिरुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं  
सर्व्वं वा ऽअनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधा-  
तीत्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्वक्षिणाहंतद्धि  
देवता ॥ १४ ॥

तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति । त्रिहृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः  
प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्मित मेवास्मिन्ने-  
तदन्नं दधाति यद् वा ऽआत्मसम्मित मन्नं तद-

वति तन्न हिनस्ति यङ्गुयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो  
न तदवति ॥ १७ ॥

यद्वै नं विवृषति । एतद्वा ऽअस्मिन् देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् प्राणान् दधाति लेखा  
भवन्ति लेखासु हीमे प्राणाः \* ॥ १८ ॥

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्य ऽइमे  
शीर्षश्चत्वारो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति  
तद्वै यजुषाद्वा वै तद्यद्यजुरङ्गो तद्यदिमे शीर्षन्  
प्राणाः † ॥ १९ ॥

यद्वैवात्मानं विवृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्  
प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीं को हि तद् वेद-  
यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः ‡ ॥ २० ॥

अथैनान् विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै  
कामायैनान्युङ्क्ते विमुच्यध्व मघ्ना इत्यघ्ना हैते  
देवता देवयाना इति दैवुं ह्येभिः कर्म करो-  
त्यगन्म तमसस्पार मस्येत्यशनाया वै तमोऽगन्मास्या

ऽअशनायायै पार मित्येतज्ज्योतिरापामेति ज्योति-  
 द्वांप्रोति यो देवान्यो यन्न मथैनानुदीचः, प्राचः  
 प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुस्तानध्वर्यवे ददाति स  
 हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनु-  
 दिशेत् ॥ २१ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, २.] ॥

अथ शालाहार्योपस्थान मभिधाय प्रायणीयेष्टिं विधत्ते—“अथ  
 प्रायणीय मिति । शालाहार्योपस्थानानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः ।  
 ‘प्रायणीयम्’ प्राकृतं ज्योतिष्टोमिकम् अदित्यै चरुं निर्वपति \* ।  
 अग्रे सीरयोजनं विधातुं प्रायणीयेष्टेः कांश्चित् पदार्थाननुवदति—  
 “तस्य हविष्कृतेत्यादिना । ‘तस्य’ प्रायणीयस्य ‘हविष्कृता’  
 हविष्कृच्छेदेन सह हविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्गं कुर्यात् ।  
 हविरावापानन्तरं वा हविष्कृदाह्वानकाले वा वाग्विसर्गो विक-  
 ल्पितः, तत्र नियमार्थोऽयं मनुवादः । ‘स्तम्बयजुः’-इति  
 पुरीषहरणकर्मणो नामधेयम् † । यद्वा, स्तम्बस्य यजुषा “पृथिवि  
 देवयजनीत्यादिना पुरीषं लक्ष्यते, तत् पुरीषं हरति । तदनु  
 ‘पूर्वेण परिग्रहेण’ वेदिं ‘परिगृह्य’, ततो ‘लिखित्वा’ स्फोऽन  
 प्राचोस्तिस्त्रो लेखाः कृत्वा आग्नीध्रं प्रत्यध्वर्युः ‘आह’ ब्रूते । कि

\* ऐ० ब्रा० १ प० २ अ० १ ख० द्रष्टव्यम् । आश्व० अ० सू०

४. २. १८; ३. १. । का० अ० सू० ७. ५. १३ ।

† १ का० २ प्र० २ ब्रा० १८-२१ क० इत्येवमादौ द्रष्टव्यम् ।

मत्स्यपेक्षायां माह— “हर त्रिरिति । हे आग्नीध्र ! त्वं कृता  
लोकाः त्रिवारं हरेति प्रेषार्थः । प्रेषितेनाग्नीध्रेण कर्त्तव्यं माह—  
“हरति त्रिरिति ॥ १ ॥

विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते— “प्रत्ये-  
त्येति \* । ‘प्रत्येत्य’ महावेदेः प्रत्यागत्य ‘प्रायणीयेन’ हविषा  
प्रचरेत् । प्रत्येत्येतिवचनादेव पूर्वं मुक्तं स्तम्भयजुर्हरणादिकं  
महावेद्या मेव कर्त्तव्यम्, न तु प्रायणीयवेद्या मिति प्रती-  
यते । प्रायणीयान्ते श्युन्ते प्राक्लोमनिवपनात् सौरयोजनं  
विधत्ते— “प्रायणीयेन प्रचर्य सौरं युनक्तोति † । ‘प्रायणीयेन’  
प्रायणीयशेषेण प्रचारं कृत्वा, ‘सौरं’ हलं ‘युनक्ति’ युञ्जगात् ।  
विहिते सौरयोजने प्रजापतेः सौरलक्षणेनानेन समर्पणद्वारा  
देवकर्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति— “एतद्वा एन मिति । ‘एतत्’  
एतर्हि एतस्मिन्नवसरे खलु ‘एनं’ पितरं प्रजापतिं विष्टस्त्रा-  
वयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो ‘देवाः’ पुरस्तात् ततः प्रागेव सौर-  
लक्षणेनानेन समृद्धं मज्जुर्वन् । एव मेव अयं यजमानोऽपि  
‘एनं’ प्रजापतिं चित्वाग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेव  
सौरलक्षणेनानेन समर्पयति । नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता  
माविष्करोति— “सौरं भवतीत्यादिना । इरया अनेन सह  
वर्त्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सौरं मित्युच्यते । अतः  
कर्षणसाधनत्वेन सौरस्य विधानात् । ‘इराम्’ अन्नम् एव  
‘अस्मिन्’ संस्क्रियमाणे चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ ‘एतत्’ एतर्हि  
‘दधाति’ स्थापयति ॥ २ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ७ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ८ क ।



सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तोति— “औदुम्बरं  
भवतीति \* । उदुम्बरस्य विकार औदुम्बरः । “जर्ज्वं रस  
उदुम्बर इति । ‘जर्ज्वं’ बलकर मन्त्रम्, तदात्मको रस  
एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः । अत एव श्रूयते— “देवा  
वा जर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति † । “जर्ज्वेन  
मित्यादि । जर्ज्वेण रसेनेत्यर्थः । सीरयोजनार्थानां रज्जूनां  
प्रकृतिद्रव्यं विवक्षते— “मौञ्ज मिति ‡ । ‘परिसीर्य’ परितः  
सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम ‘मौञ्जम्’ मुञ्जवृक्षेण निर्मितं  
‘त्रिष्टु’ त्रिगुणञ्च कर्तव्यम् । “तस्योक्तो बभ्रुरिति । ‘तस्य’  
मौञ्जस्य च त्रिष्टुत्वस्य च स्तावकं “सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः”—  
इत्यादिकम् § , “त्रिष्टुदग्निर्यावानग्निः”—इत्यादि ॥ च वाक्यं  
प्रागान्नातम्, अत्रानुसन्धेय मित्यर्थः ॥ ३ ॥

युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्ट मभिमन्त्रणं विवक्षते—  
“सोऽग्नेरिति ¶ । चेष्टमाणस्याग्नेर्यावान् भूभागः शौल्वेन भानेन  
चतुरश्रीकृतः, तस्य ‘दक्षिणां श्रोणिं जघनेन’ दक्षिणापरकोणस्य  
पश्चात् \*\* ‘तिष्ठन्’, ‘उत्तरांसस्य’ अग्निचेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वको-  
णस्य ‘पुरस्तात्’ ‘युज्यमानं’ सीरं युगबलीवर्हादिभिः सह रज्ज्वा

\* का० औ० सू० १७. २. ८ ख ।

† पुरस्तात् ३ का० १ प्र० ५ ब्रा० ३३ क० सा० भा० ( तै० सं० ) ।

‡ का० औ० सू० १७. २. ६ ।

§ शत० ब्रा० ६ का० ३ व्य० १ ब्रा० २६ क० ।

॥ शत० ब्रा० ६ का० ३ व्य० १ ब्रा० २५ क० ।

¶ का० औ० सू० १७. २. ११ ।

\*\* ‘दक्षिणापरकोणं तस्य पश्चात्’—इति क ।

बध्यमानं \* “सीरा युञ्जन्ति”-इतिमन्त्रद्वयेन † ‘अभिमन्त्रयते’ ।  
अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्येक्षणपूर्वकं, मनुसन्धानम् । उक्तं हि—

“मन्त्रं मुञ्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

सेक्षणां तस्मिन्ना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥

एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणसेक्षणावधि”-इति ।

अत्र च सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तव्यतया ‡  
योगपद्याय कर्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया  
प्रधानत्वात् सीरयोजन मध्ययुः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मक  
मभिमन्त्रणन्तु द्वितीयः § प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि  
मन्त्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन— “प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते  
सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वाद्ध्वर्यु-  
रिति § ॥

अत्र “सीरा युञ्जन्तीति गायत्री प्रथमो मन्त्रः॥, तस्याः पूर्वार्धं  
मनूय व्याचष्टे— “सीरा युञ्जन्तीति । “ये विद्वांसस्ते कवयः  
इति । मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्पक् जानाना-  
स्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः । “सीरञ्चेति । “सुपां सुलुगिति ¶  
मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य अतः आकारः । “युगानि चेति । “शेम्ह-

\* वा० सं० १२. ६७, ६८ ।

† ‘भिन्नदेशकर्मकर्तव्यतया’-इति ७ ।

‡ ‘तद्वितीयः’-इति ज ।

§ का० श्रौ० १७. २. ११ ख० बृ० ।

० ॥ वा० सं० १२. ६७ ।

१ ॥ प्रा० ख० ७. १. ३६ ।

न्दसि बहुल मिति \* युगशब्दात् परस्य शीर्षे लोप इत्यर्थः ।  
उच्यते मनुष्य व्याचष्टे— “धीरा देवेविति । सुन्नशब्दात् परस्य  
द्वितीयेकवचनस्य याजादेशः † । सुखहेतुत्वात् यज्ञः खलु सुन्न-  
शब्दाभिधेयः ‡ । “वितन्वत इति । प्रकृतस्य कर्मणोऽनुषङ्ग  
माह— “तन्वाना इत्येतदिति ॥

तदयं मन्त्रार्थः,— ‘कवयः’ तदभिधाः सीरं च  
‘युञ्जन्ति’ कर्मणो योग्यं वदन्ति षट्शदश्यादिसङ्ख्यानां मन-  
कुङ्हां योजनाय ‘पृथक्’ भेदेन ‘युगानि च’ ‘वितन्वते’ विस्तार-  
यन्ति । किं कुर्वन्तः ? ‘देवेषु’ ‘सुन्नम्’ अग्निचयनलक्षणं यज्ञं  
‘तन्वानाः’ विस्तारयन्त इति । अत एव ‘धीराः’ तदुपायभूतया  
धिया युक्ताः ‘इति’ ॥ ४ ॥

“युनक्तेति त्रिष्टुप् । तद्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः § । पुरा  
परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य मन्त्रस्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते । हे  
यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ पूर्ववदाकारः ॥, सीरं ‘युनक्त’ बध्नीत ।  
युजः ¶ लोटि मध्यमपुरुषे बहुवचनस्य “तप्तनप्तनथनाञ्च”—इति \*\*  
तदादेशः । अत एव असोऽलोपाभावः । ‘युगा’ पूर्ववच्छे-  
र्लोपः ††, ‘युगानि’ च ‘वितनुङ्’ विस्तारयतेति । प्रत्यक्षवदुक्तार्थं

\* पा० सू० ६. १. ७० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ ‘सुन्नशब्दाभिधेयः’—इति च ।

§ वा० सं० १२. ६८ ।

॥ एतत्पूर्वस्यां कक्षायां ( १०७ पृ० १८ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

¶ सूत्रा० उभ० ६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. १. ४५ ।

†† पूर्वस्यां कक्षायां ( १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

श्रुतिः स्वयं परोक्षवद् व्याचष्टे — “युञ्जन्ति हीति । सीरं युञ्जन्ति , युगानि च वितन्वते , कवय इति शेषः ।

द्वितीयपाद मनुद्य व्याचष्टे — “बीजाय वा इति । बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते । विपक्षे दोष मुद्रावयति — “यथा ह वा इति । ‘अकृष्टे’ अलिखिते ‘यत्’ यदि ‘वपति’, तर्हि ‘अयोनी’ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकास्तथा व्यर्थी भवेदित्यर्थः ।

तृतीयपाद मनुद्य तत्तत्त्वयोर्गीःश्रुतिशब्दयोः क्रमेण वागन्तार्यता माह — “वाग्ने गौरक्’ श्रुष्टिरिति ।

चतुर्थपाद मनुद्य तत्तात्पर्य माह — “यदा वा इति । ‘यदा’ न्वलु, समये ‘अन्नं’ व्रीहियवादि स्वयं पक्वं भवति । ‘अथ’ तदानीं ‘सृष्ट्या’ दात्रेण ‘उपचरन्ति’ लुनन्तीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थलु, — हे यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ सीरं हलं ‘युनक्त’ योजयत , ‘युगा’ युगानि ‘वितनुङ्क्’ विशेषेण योक्तप्रभृतिभिर्विस्तारयत । ‘इह’ क्षेत्रे ‘योनी’ स्थाने ‘कृते’ संस्कृते सति ‘बीजं’ व्रीह्यादि ‘वपत’ निक्षिपतेत्यर्थः । केन साधनेनेत्यपेक्षाया माह — “गिरा चेति । ‘गिरो’ वाचा “या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्त्ररूपया \* च-शब्दाच्चमसेनापि , वपतेति सम्बन्धः । ‘श्रुष्टिः’ व्रीह्यादिकान्नजातिः , ‘सभराः’ फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तन्ते इति सभराः , अमितफलेति यावत् । तादृशी ‘नः’ अस्माकं यथा ‘असत्’ भवेत् । इच्छद्भ्योऽनर्थकः † । ‘सृष्ट्या’ अणुशकारस्य लवनसाधनस्य दात्रस्य ‘निदीयः’ अन्तिकतमं ‘पक्वं’ व्रीह्याद्यन्नं यथा ‘आ इयात्’

\* वा० सं० १२. ७५ । का० औ० सू० १७. ३. ८ । इहोपरि-  
ष्टात् २ अ० ४ ब्रा० ६ क० त्रयम् । † निरु० १. ३. ५ ।

अगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः । “सृणिरहुशो भवति ; सरणात्”—इति \* हि यास्कः ॥

तच्च युज्यमनाभिमन्त्रणं द्वाभ्यां गायत्रीचिष्टुब्ध्यां कुर्यादित्याह— “द्वाभ्या मिति । तस्य हिसङ्ख्यायोगस्यार्थवादे “द्वाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमान इत्यादिना षष्ठकाण्डे † प्रागाज्जात इत्याह— “तस्योक्त इति ॥ ५ ॥

विहिते सौरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धूर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते— “स दक्षिण मेवाग्र इति ‡ । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिण मेव धुर्यं प्रथमं युञ्जगात्, तदनु ‘सव्यं’ वामं धुर्यं मित्यर्थः । ‘एवम्’ उक्तकरणम् ‘देवत्रा’ देवेषु कृतं स्यात् ; मनुष्यव्यवहारे तु ‘इतरथा’ सव्यः पूर्वो दक्षिणः पश्चादिति भेदः ॥

सौरयोजने अनडुहां वैकल्पिकं सङ्ख्यात्रितयं विधत्ते— “षड्गव मित्यादिना । षड् गावः समाहृताः षड्गवम् । “तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च”—इति § समाहारे तत्पुरुषैकदेशो द्विगुः । ततो “गोरतद्वितलुकि”—इति ॥ समासान्तः । तथा ‘इ-तदश्वगवम्’, ‘चतुर्विंशतिगवं’ चेति पक्षौ । तत्रापि पक्षद्वये तथैव समासः, समासान्तश्च । “षट्, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा पूर्वेषोत्तरांसम्”—इति ¶ हि सूत्रम् । सङ्ख्यात्रितयेऽप्युपपत्ति माह—“संव-

\* निरु० ५. ४. १० ।

† इ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० ।

‡ का० औ० सू० १७. २. १३ ।

§ पा० सू० २. १. ५१ ।

॥ पा० सू० ५. ४. ६२ ।

¶ का० औ० सू० १७. २. १० ।

क्षर मेवेति । सम्पद्यत इति सम्पत् । षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंश-  
त्यर्द्धमाससम्पत्त्यात्मको यस्तु तादृशं संवत्सरं मभिलक्ष्य त्रयो-  
ऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ चित्वाग्निचेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते—“अथैन मिति \* ।  
‘एनम्’ आत्मानम् । तदेव कर्षणं मन्नात्मना स्तौति— “अन्नं  
वा इति । ‘अन्नं’ खलु ‘क्षपिः’ ; तद्देतुत्वात् । कृष्टे एव हि  
सम्यगन्नं पच्यते । कर्षणं मेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—  
“एतद्वा इति । ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘देवाः’ संस्कारं  
करिष्यन्तः ‘अस्मिन्’ आत्मनि ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘अन्नम्’ एव  
स्थापितवन्तः , तथैवायं यजमानोऽपीति ॥ ७ ॥

अथ पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते— “स वा आ-  
त्मान मिति † । “आत्मंस्तदिति । ‘तत्’ तेन विकर्षणेन ‘आत्मन्’  
आत्मनि ‘अन्नम्’ एव स्थापितवान् भवति । अथात्मन्यन्नाधानं  
स्तौति— “यदु वा इति । ‘आत्मन्’ आत्मनि यदेव ‘अन्नं’ ‘धीयते’  
स्थाप्यते , ‘तत्’ एवान्नं पक्षपुच्छसहितम् ‘आत्मानं’ रक्षति ।  
पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्कार मित्याह— “अथ यदि-  
त्यादिना ॥ ८ ॥

अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां  
सीतां विधत्ते— “स दक्षिणार्धेनेति ‡ । ‘परिश्रितोऽन्तरेण’ तत्-  
संलग्नं मेव चित्वाग्नेः आत्मनो ‘दक्षिणार्धेन’ दक्षिणपार्श्वे  
प्रागपवर्गा ‘प्रथमा’ ‘सीता’ लाङ्गलपद्धतिं कृषेत् । “अन्तरान्तरेण

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १२ क ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १२ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १३ ।

शुक्ले”-इति \* परिशिच्छब्दे द्वितीया । तत्र पूर्वार्द्धोपादानेन मन्त्रं विधाय तत्रत्यशुनशब्दस्य समुद्धार्यवाचकतया प्रथमसीतायाः समर्पणेन माह— “शुनं सुफाला इत्यादिना † ॥

मन्त्रस्याय मर्थः,— शुन मिति सुखं नाम ‡ । तच्च क्रिया-विशेषणम् । सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थिताः कुशीमेदाः § ‘शुनं’ सुखं यथा स्यात् तथा ‘भूमिं’ ‘विकषण्णु’ विलिखन्तु । ‘फाला’-इति “जि फला विशरणे”-इति धातुः॥ फालयन्ति भूमिं विदारयन्ति ते फालाः । ‘कीनाशः’ कर्षकाः ‘वाहैः’ अंगडुग्निः सहिताः ‘शुनं’ सुखम् ‘अभियन्तु’ अभिगच्छन्तु । “कीनाशसु कदर्ये स्याद्राक्षसे कर्षुके यमे”-इत्यनेकार्थतिलकः ¶ । ‘शुनासीरा’ द्विवचनस्य “सुपां सुलुगिति डादेशः \*\*, वायादित्यावित्यर्थः । तौ ‘हविषा’ उदकेन ‘तोशमाना’ भूमिं निघ्नन्तौ । तोशतिर्वध-कर्मा †† । ‘अस्मे’ अस्मभ्यम् ‘ओषधीः’ व्रीत्यादिकान्यन्नानि ‘सुपिप्पलाः’ शोभनफलोपेताः ‘कर्त्तनं’ कुततम् । “शुनो वायुः, शु एत्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः, सरणात्”-इति ‡‡ हि यास्कः ।

\* पा० सू० २. ३. ४ ।

† वा० सं० १२. ६६—७२ ।

‡ निघ० ३. १. ११

§ ‘लोहविशेषाः’-इति महीधरः ।

॥ ब्रा० प० ५१६ धा० ।

¶ “कीनाशः कर्षके क्षुद्रे जतान्तोपांशुघातिनोभोः”-इति कोशः--इति महीधरः ।

\*\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

†† निघ० २. १६. २६ । तोशते नैवक्तो वायुः ।

‡‡ निघ० ६. ४. ६ ।

हविःशब्दः उदकनामसु “कम्, अन्नं, हविः”—इति पठितः \* ।  
 “कर्त्तुर्नेति, “तप्तनप्तनश्रनाश्च”—इति † तनप् । द्वित्रे बहुवचनं  
 छान्दसम् ॥ ८ ॥

ततो दक्षिणशोणेरारभ्योदगपवर्गौ पश्चिमपार्श्वे द्वितीयां सीतां  
 विधत्ते— “अथ जघनाङ्गेनेति ‡ । तत्र मन्त्रं विधत्ते— “ष्टे-  
 नेति § । तत्र तु प्रथमपादे निगदव्याख्यात इत्याह— “यथैव यजु-  
 रिति । द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वदेवानां मरुताश्च वृष्टेरी-  
 शित्वं प्रयोजक मिति व्याचष्टे— “विश्वे च वै देवा इति । ‘वर्षस्य’  
 वृष्टेः ‘ईशते’ प्रयोजका भवन्ति । “अधोगर्थेति कर्मणि षष्ठीं ॥ ।  
 तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे— “रसो वै पय  
 इति तत्रैव ‘पिन्वमाना’—‘इति’ पद मध्याह्नत्यान्नपदेनान्वेतोति  
 व्याचष्टे— “अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति । चतुर्थेऽपि पयःशब्दो  
 रसवचन एव ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः, — सीता पश्चिमत उदोचो क्रियमाणा  
 लाङ्गलपद्धतिः ‘मधुना घृतेन’ मधुरेणोदकेन ‘समज्यतां’ संसि-  
 च्यताम् । “ष्टत मिल्युदकनाम, जिघत्तेः सिञ्चतिकर्मणः”—इति ¶  
 हि याज्ञः । ‘विश्वे ईशते’ वृष्टेरोशनैः ‘मरुद्भिश्च’ गणदेवैः ‘अनुमता’  
 अभ्यनुज्ञाता, तथा ‘पयसा’ ‘रसेन जर्ज्जस्वती’ बलकररसोपेता,

\* निघ० १. १२. ६५ ।

† पा० सू० ७. १. ४५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १४

§ वा० सं० १२. ७० ।

॥ पा० सू० २. ३. ५२ ।

¶ निरु० ७. ७. १ ।



तथा 'पिबमाना' सेचनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः । तथा ऋतिरेव व्याचष्टे— "अन्नेन पिबमानेत्येतदिति । एवं स्तुते, हे सीते ! त्वम् 'अस्मान्' 'अभ्यावद्वत्स्व' अतिशयेनाभिसुख मावृत्ता भवेत्यर्थः ॥ १० ॥

अथोत्तरपाश्वे प्रागपवर्गां तृतीयां सीतां विधत्ते— "अथोत्तरार्द्धेनेति \* । "प्रकृत्या साधुः"—इतिवत् तृतीया सप्तम्यर्थे † । तत्र मन्त्रं विधत्ते— "लाङ्गल मिति ‡ । तत्र प्रथमपादे भूमेः खननेन श्रीरूपान्ननिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वात् लक्षण्या पवीरवद्भयिमदिति व्याचष्टे— "लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीये पादे 'सोमपिबन्'—इतिपदेकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यान्न मर्थ इत्याह— "अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्द्धपरिष्ठितस्य पदार्थजातस्य सोतैवोद्गमयित्रीत्याह— "एतद्भि सर्वं सीतोदपतीति । 'उदपति' उद्गमयतीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थस्तु,— 'लाङ्गलं' हलं 'पवीरवत्' पविः धारा, सा अस्यास्तीति पवीरं फालः । रो मत्वर्थे, दैर्घन्तु क्कान्दसम् ; तत् पवीरं मस्य लाङ्गलस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्तमित्यर्थः । शिव मिति सुखनाम § । सुष्ठु शोभनं शिवयति सुखम्, तत् 'सुशिवम्' । सोमं पिबतीति 'सोमपाः' यजमानः, तस्मिन् 'सोमपि' यजमाने 'त्सरति' पापादिकं नाशयतीति 'सोमपिबन्' । यद्वा, सोम मन्त्रं पाति रक्षति स सोमपाः,

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५ ।

† पा० २. ३. १८ सू० १ वा० ।

‡ वा० सू० १२. ७१ ।

§ निघ० ३. ६. १७ ।

तस्मिन् वर्तमानम् अशनाया दुःखं करति नाशयतीति  
 तथा ; श्रुतेरभिमत मेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्वञ्च सप्तम्या  
 अलुक् छान्दसः \* । यदित्यश्रूतं लाङ्गलम्, 'तम्' कर्तुं गवादि-  
 रथवाहनान्तम् 'उदपति' उद्गमयति । 'गां' गोजातिम् । 'अबि'  
 मेषजातिम् । 'प्रफर्थे' प्रथमयुवतिं तरुणी मित्यर्थः । फर्वतिर्गेति-  
 कर्मा । प्रकर्षेण फर्ष्या गम्या, ताम् ; छान्दसो ऋत्विक् । कीदृ-  
 शो ताम् ? 'पौवरी' उन्नतस्तनकपोलाम्, 'प्रस्था' प्रस्थानम्  
 तद्वत् उन्तकृष्टजवोपेतम्, 'रथवाहनम्' अश्वम्, रथं वहतीति  
 या तम् ॥ ११ ॥

अथ पूर्वपाश्वे दक्षिणापवर्गा चतुर्थी सीतां विधत्ते—  
 "अथ पूर्वाङ्गेनेति † । तत्र मन्त्रः— "कामं कामदुवे इति ‡ ।  
 मन्त्रस्थाय मर्थः,— हे 'कामदुवे' कामानां प्रपूरणे ! हे सीते !  
 'मित्राय वरुणाय च' तथा 'इन्द्राय', 'अश्विभ्यां' युग्मदेवाभ्यां  
 'पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यश्च' 'कामं' काम्यमानं फलं 'धुक्ष्व'  
 प्रपूरय । 'इति'-शब्दो मन्त्रसमाप्त्युक्तकः । कृषिः सर्व-  
 देवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरण माशस्य  
 मिति मन्त्रतात्पर्यं माह— "सर्वदेवत्या वै कृषिरिति । इत्थं  
 दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षण मभिनयेन

\* 'हलदन्तात् सप्तम्याः (पा० सू० ६. ३. ६.)'—इति विभक्ते-  
 रलुक् ; 'आतो धातोः (पा० सू० ६. ३. १४०.)'—इति आ-लोपे हलन्त-  
 त्वात् । यदा, सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिञ्चमसः, तस्य त्वञ्च  
 निष्पादकम् ; न हि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः—इति  
 महीधरः । † का० श्रौ० सू० १७. २. १६ ।

‡ वा० सं० १२. ७२ ।

निर्दिश्य स्तौति— “इत्यथ इति । ‘अथे’ प्रथमम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “स दक्षिणाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन \* दक्षिणतः प्राचीं सीतां कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ जघनाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन † पश्चिमतः उदोचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथोत्तराह्नेनेत्युक्तलक्षणेन ‡ उत्तरतः प्राचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ पूर्वाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन § पूर्वस्थां दिश्युदग्दक्षिणायतां सीतां कषति । ‘तत्’ एवं सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येनावृत्तिर्भवति । ‘तत्’ खलु ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम् । तदुक्तमापस्तम्बेन— “यज्ञोपवीतो प्रदक्षिणं देवानि कर्माणि करोति” —इति ॥ ॥ १२ ॥

उक्तं कर्षणं समन्वक्तुं मनूय स्तौति— “चतस्र इति । “स दक्षिणाह्नेनेत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताः चतस्रः सीताः “शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमि मित्यादिना ¶ यजुषा यजुर्वेदपठितमन्त्रेणत्यर्थः । “चतसृषु दिक्षित्यादि । प्रागादिषु दिक्षु यत् प्रसिद्धं कष्टपचं ब्रह्मियवादिकम् ‘अन्नम्’ अस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ अग्नौ यजमाने वा ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘दधाति’ स्थापयति ॥

\* इहेव श्रुता नवमी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०० पृ० ६ पं० ) ।

† इहेव श्रुता दशमी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०० पृ० १४ पं० ) ।

‡ इहेव श्रुता एकादशी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०१ पृ० ५ पं० ) ।

§ इहेव श्रुतं द्वादशी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०१ पृ० १० पं० ) ।

¶ आप० का० श्रौ० सू० २४. २. १५ ।

¶ वा० सं १२. ६६—७२ ।

‘यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तीति— “तद्वा इति ।  
‘तत्’ खलु कर्षणं ‘यजुषा’ क्रियते, यजुरिति यदस्ति, ‘तत्  
अद्वा वै’ अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्, ‘इमाः’  
प्रागाद्याः ‘दिशः’ च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः; अतो यजुषो  
दिशाञ्चाद्वात्वसाभ्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततर मिति  
भावः ॥ १३ ॥

अमन्त्रकं द्वादशसङ्ख्याकानां सीतानां कर्षणं विधाय  
स्तीति— “अथात्मान मित्यादिना । “यदेव संवत्सर इति ।  
सीतानां संवत्सरसम्बन्धिनां मासानां ( च # ) द्वादशसङ्ख्यासाम्यात्  
कृत्स्ने संवत्सरे यदेव ब्रौह्मियवादिक मन्त्रं पच्यते, ‘तत्’  
• सर्वम् ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन द्वादशसीताकर्षणेन दधाति  
• स्थापयतीत्यर्थः ॥

अमन्त्रकत्वं मनूय स्तीति— “तूष्णी मिति । ‘तूष्णीम्’  
अमन्त्रं कृषेत् । तूष्णी मिति यदस्ति, तत् ‘अनिरुक्तं वै’ मन्त्र-  
वाक्येन कस्यचिदर्थस्य निष्कृथानभिधानात् । अत एव तद-  
निरुक्तं सर्वात्मकम्, अतः ‘सर्वेणैव’ साधनेन ‘अस्मिन्’ अग्नौ  
‘अन्नं’ स्थापितं भवतीत्यर्थः ॥

पूर्ववदत्राप्यभिनयेन कर्षणप्रकारं निर्दिश्य स्तीति— “इत्यथ  
इति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘अथे’ प्रथम मात्मनो दक्षिणार्धं  
मारभ्य उत्तरार्धपर्यन्तं ‘कृषति’ कर्षणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरम्,  
‘इति’ अनेन प्रकारेण दक्षिणां श्रोणि मारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं  
मक्षण्या विजृषेत् । ‘अथ अनन्तरम्’, ‘इति’ अनेन प्रकारेण

पश्चाद्भाग मारभ्य पूर्वार्धपर्यन्तं विष्कषेत् । एतदन्तरम्, 'इति' अनेन प्रकारेणोत्तरां ओणि मारभ्य दक्षिणांसपर्यन्तं विष्कषेत् इमं मेवार्थं मभिप्रेत्य सूत्रितम्— "तूष्णीं तिस्रस्त्रिस्तः प्रदक्षिणं तिर्यगनूक्तेऽक्ष्णया ओष्णंसयोरनूक्ते ओष्णंसयोः"—इति \* । 'तत्' तथा उक्तप्रकारेण कर्षणे सति प्रदक्षिणावर्त्तनं सिध्यति । तच्च 'देवत्रा' देवेषु योग्यम् । "देवमनुष्येत्यादिना सप्तम्यर्थे चा-प्रत्ययः † ॥ १४ ॥

विहितानां ममन्त्रकाणां चतसृणां सीतानां प्रत्येकं त्रित्वं विधाय स्तौति— "तिस्रस्त्रिस्तइति । "त्रिवृदग्निरित्यादि । स्तोत्रियनवकात्मको हि त्रिवृत्स्तोमः ‡, अग्नेरपि रुद्रादिनामाष्टकाभिधेयेरष्टाभिरग्निरूपैः स्वात्मना च नवसङ्ख्योपेतत्वात् त्रिवृत्त्वम् । तथाहि— "त मत्रवोद्द्रोऽसौत्यारभ्य ताव्येतान्यष्टावग्निरूपाणि कुमारो नवमः, सैवाग्नेस्त्रिवृत्तेति षष्ठे समाप्तातम् § । एतच्च 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टोऽग्निः, 'अस्य अग्नेः' 'यावतो' यत्परिमाणविशिष्टा 'मात्रा' अवयवः, 'तावता' तादृक्परिमाणविशिष्टेन कृत्स्नेन चाग्निरूपेण अग्निन्' चीयमानेऽग्नौ यजमाने वा 'एतत्' एतेन त्रिसङ्ख्यायुक्तेन कर्षणेन 'अन्नं' धारयति । एवं सर्वत्र त्रिवृदग्निरिति वाक्यशेषो व्याख्येयः ॥ १५ ॥ १६ ॥

अमन्त्रकसीतासङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति— "ता उभय्य इति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५—१६ ।

† पा० सू० ५. ४. ५६ ।

‡ सा० वे० ता० ब्रा० ३. १, २, ३ ।

§ इ० का० १ अ० ३ ब्रा० १०—१८ क० (इ० भा० ४१—४३ पृ०)

‘उभयः’ उभयविधाः, समन्वकामन्वकभेदेन द्विविधाः सम्भूय षोडशसङ्गाका भवन्ति । ‘षोडशकलाः’ षोडशावयवसमुदायो हि स्थूलशरीराभिमानी विराडात्मकः प्रजापतिरभिधीयते । तथाहि ;— तस्य ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, तथा कर्मेन्द्रियाणि, मन एकम्, यच्चभिर्भूतैर्वा प्राणैर्वा सह षोडशकलाः । गत मन्यत् । “आत्मसम्भित मिति । आत्मना शरीरेण समानं मितम्, न तु न्यून मधिकं वेत्यर्थः । आत्मसम्भितां तस्य दृष्टिहेतुता माह— “यदु वा इति । ‘यत्’ खलु ‘आत्मसम्भित मन्त्रम्’, ‘तद्’ भोक्तृन् ‘अवति’ रक्षति । अत एतदन्नं सात्त्वं सत् ‘न हिनस्ति’ न बाधते । अधिकन्यूनयोरुक्तदैपरीत्यं क्रमेणाह— “यज्ञूय इति । ‘भूयः’ बहुलतर मात्मनोऽधिकम्, ‘कनोयः’ अल्पतर मात्मनोऽपर्याप्त मित्यर्थः ॥ १७ ॥

विकर्षणं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “यद्देन मिति । पुरा खलु पितरं प्रजापतिं ‘संस्करिष्यन्तो देवाः’ ‘पुंरन्तात्’ चयनलक्षणात् संस्कारात् पूर्वम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन विकर्षणेन ‘अदधुः’ अधारयन् । ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि ‘संस्करिष्यन्’ ‘अस्मिन्’ चेष्यमाणेऽग्निलक्षणे प्रजापतौ पूर्वं ‘प्राणान्’ स्थापयति । कथमेतदित्यत आह— “लेखा भवन्तीति । ‘हि’ यस्मात् लोके चक्षुरादिगोलकात्मिकासु ‘लेखासु’ रेखासु ‘इमे प्राणाः’ चक्षुरादीन्द्रियाणि वर्तन्ते ; अतस्तेषा मत्र स्थाप्यमानानां सञ्चरणार्थं कर्षणेन रेखाकरणं युक्त मिति भावः ॥ १८ ॥

समन्वकं कर्षण मनुय सङ्गाहारा स्तौति— “चतस्र इति । ‘शीर्षन्’ शीर्ष्णि शिरसि ‘ये इमे चत्वारो निरुक्ताः’

चक्षुः श्रोत्रं नासिका मुख मिति निःशेषेणोक्ताः प्रकाश-  
मानाः 'प्राणाः', 'तान्' 'अस्मिन्' अग्नी एतेन सयजुष्केण सीता-  
चतुष्टयेन स्थापितवान् भवति । एतदेव विवृणोति— “तद्दे  
यजुषेति । “अद्वेत्यादि । प्रागुक्तार्थः \* ॥ १८ ॥

अमन्त्रकं कर्षणं मनूय स्तौति— “यद्देवात्मान मिति ।  
'अन्तरात्मन्' आत्मनि देहे अन्तर्मध्ये 'य एवेमे' 'प्राणाः'  
प्राणवृत्तयः प्राणापानादिलक्षणाः , मनोबुद्ध्यादिरूपा अन्तः-  
करणवृत्तयश्च, 'तान्' 'अस्मिन्' अग्नी 'एतत्' एतेनामन्त्रकाकर्षणेन  
'दधाति' स्थापयति । एतदेव विवृणोति— “तूष्णी मिति ।  
'यावन्तः' यत्परिमाणविशिष्टाः 'इमे' अन्तरात्मन्यवस्थिताः  
'प्राणाः' इति , 'को नाम तद्देद' ? तेषां मानन्त्यात् ; किन्तु  
न कश्चिदपि वेत्तुं शक्नोति । तस्मादनिरुक्तानां तेषां सङ्ग्रहणाय  
तूष्णीं मात्मनो द्वादशसीताकर्षणं युक्त मित्यर्थः ॥ २० ॥

कर्षणानन्तरं मनडुहां विमोचनं विधत्ते— “अथैना-  
निति † । “अन्नेत्यादि । 'यस्मै' खलु प्रयोजनाय 'एनान्'  
पूर्वं युक्तवान् , 'तं' कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनम् 'आप्ता' लब्ध्वा  
तेषां विमोचनं युक्त मिति शेषः ॥

विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— “विमुच्यध्व मिति ‡ ।  
“अन्नया”—इति गोनाम § । 'एते' खल्वनडाहो 'देवता' देवेषु  
'अन्नयाः' अहन्तव्याः , देवसम्बन्धिनो गाव इत्यर्थः । “देव-

\* त्रयोदशकण्ठीयाख्यानं द्रष्टव्यम् ११७ पृ० ३ प० )

† का० श्रौ० सू० १७. २. २१ ।

‡ वा सं० १२. ७३ ।

§ निघ० २. ११. १ ।

श्रेभिरिति । ‘एभिः’ अण्डुभिः ‘देव’ देवसम्बन्धि कर्षणलक्षणं  
‘कर्म करोति’ । तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या  
‘देवयानाः’-इत्यनडुद्दिशेषणं युक्तं मिति भावः ॥

द्वितीयं पादं मनूय तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं  
माह— “अगमेति । अशनस्येच्छा अशनात्वा’ क्षुत्पीडा ।  
खट् मन्त्रात् । “ज्योतिर्हीत्यादि । यो हि हविःप्रदाद-  
त्वेन यज्ञं , तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति , एष हि ‘ज्योतिः’  
ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरम् ‘आप्नोति’ । अत एव  
तैत्तिरीये समान्नायते— “सुक्ततां वा एतानि ज्योतींषि यज्ञ-  
चक्षाणि”-इति \* । अतोऽत्र मन्त्रे “ज्योतिरापाम”-इति ज्योति-  
राप्तिप्रतिपादनं युक्ततरं मित्यर्थः ॥

उत्तरपूर्वस्यां दिशि तेषां मनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—  
“अथैनानुदीच इति † । ‘अथ’ विमोचनानन्तरं मेव अण्डुहः  
‘उदीचः’ उदङ्मुखान् ‘प्राचः’ प्राङ्मुखांश्च कृत्वा ‘प्रसृजति’  
प्रस्थापयति । प्रागुदङ्मुखं स्तावकं प्रागाज्जातं वाक्यशेष  
मितिदिशति— “तस्योक्त इति । “एषा होभयेषां देवमनु-  
ष्याणां दिग्यदुदीची-प्राचीत्यादि ‡ ॥

तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते— “तानध्वर्यव इति । अत  
एव सूत्रितम्— “दक्षिणाकालेऽध्वर्यवे ददाति”-इति § । अन्या-  
नृत्विजो विहायाध्वर्योरेव सम्प्रदानत्वे कारणं माह— “स

\* ते० सं० ५. ४. १. ७ ।

† का० श्री० ख० ( १७. २. २२ क ) १६. ३. १५ गृह्यम् ।

‡ पुरस्तात् ६ का० ४ प्र० ४ भा० ३ क० गृह्या ।

§ का० श्री० ख० १७. २. २२ ख ।



हीति । 'हि' यस्मात् 'सः' अध्वर्युः 'तैः' अनडुभिः कर्षणं  
 'करोति', तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमिति भावः \* । तस्मिन्  
 दाने कालविशेषं विधत्ते — "तांस्त्विति । ऋत्विक्परिक्रयहेतवो  
 दातव्या गावो दक्षिणाः, तासां यः कालो माध्यन्दिनसव-  
 नात्मकः, तस्मिन्, 'तान्' अनडुहः 'अनुदिशेत्' दद्यादिति  
 यावत् ॥ २१ ॥ ४ [ २. २. ] ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि॒का

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथ दर्भस्तम्बं सुपदधाति । एतद् वै देवा  
ओषधीरुपादधत तथैवेतद् यजमान ओषधीरुप-  
धत्ते ॥ १ ॥

युद्धेव दर्भस्तम्बं सुपदधाति । जायत ऽएष  
एतद्यच्चौयते स एष सर्वस्मा ऽअन्नाय जायत  
ऽउभयमेतद्भ्रं यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च  
या वै वृत्राद्भीमत्समाना आपो धन्व हभन्त्य उदा-  
यन्ते दर्भा अभवन्त्यद् हभन्त्य उदायन्तस्माद्दर्भास्ता  
ह्येताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता \*  
यद्दर्भा यद्दु दर्भास्तेनोषधय उभयेनैवैन मेतद्भ्रं न  
प्रीणाति ॥ २ ॥

\* “आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता”—इति स्वात्स्यायन सम्मतः पाठः ।

सीतासमरे \* । व्याग्वै सीतासमरः प्राण्य  
वै सीतास्तासा मयुः समयो व्याचि वै प्राणेभ्यो-  
ऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति तूष्णीं मनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीं सर्वं वा  
ऽश्निरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदन्ने दधाति ॥ ३ ॥

अथैन मभिजुहोति । जायत ऽएष एतद्यच्ची-  
यते स एष सर्व्वस्मा ऽश्नन्नाय जायते सर्व्वस्यो  
ऽश्नस्यैष रसो यदाज्य मपां च ह्येष ओषधीनां च  
रसो ऽस्यैवैन मेतत् सर्व्वस्य रसेन प्रीणाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैन मेतत् सर्व्वेण प्री-  
णाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः  
सञ्चत्सरः सञ्चत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा  
तावतैवैन मेतदन्नेन प्रीणाति † ॥ ४ ॥

यद्वैवैन मभिजुहोति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा  
ऋषयो ऽग्ने ऽग्निं समस्कुर्व्वन्तुदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्  
भागं मुकुर्व्वन्त तस्मात् पुरस्ताद् भागास्तद्यदभि

\* 'सीतासमरे'—इति ग, च ।

† 'प्रीणाति'—इति क ।

जुहोतिं यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्  
भागं मुकुर्वन्त तां नैवेतुत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

यद्वैवैन मभिजुहोति । एतद्वै यान्येतस्मिन्नग्नी-  
रूपाख्यपधास्यन् भवति यानस्तोमान्यानि पृष्ठानि  
यानि, छन्दांसि तेभ्य एतं पुरस्ताद् भागं  
करोति तान्यैवेतुत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ६ ॥

यद्वैवैन मभिजुहोति । एतद्वै देवा अवि-  
भयुर्दीर्घं वा ऽब्रुदं कर्म यद्वै न ब्रुम मिह रुचां-  
सि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएता मेतस्य कर्मणः  
पुरस्तात् सऽस्या मप्रशंसन्त मुचैव सूर्वाः समस्थाप-  
यन्नवाचिन्नस्तुयैवैन मय मेतदुचैव सूर्वाः सऽ-  
स्थापयत्यत्र चिनोति \* ॥ ७ ॥

सजूरुद् इति चितिः । अयवोभिरिति पुरी-  
षः सजूरुषा इति चितिरक्षणीभिरिति पुरीषः  
सजोषसावश्विनेति चितिर्द्विः सोभिरिति पुरीषः

सज्जः सूर इति चित्तिरेतश्चेति पुरीषः सज्ज-  
 व्यंखानर इति चित्तिरिडयेति पुरीषः घृतेनेति  
 चित्तिः स्वेति पुरीषः हेति चित्तिः ॥ ८ ॥

त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । त्रयोदश  
 मासाः संवत्सरस्त्रयोदशानुश्वितिपुरीषाणि यावा-  
 नग्निर्यावत्स्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतुच्चिनोत्याज्येन  
 जुहोत्यग्निरेष यदाज्य मग्नि मेवैतुच्चिनोति पञ्च-  
 गृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः  
 संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्स्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतुच्चिनोत्यूर्ध्वा मुद्गृह्णन् जुहोत्यूर्ध्वं तदग्निं  
 चित्तिभिश्चिनोति ॥ ९ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२, ३.] ॥

अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते — “अथ दर्भस्तम्ब मिति ।  
 एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते , दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः ,  
 तम् आत्ममध्ये तूष्णीम् ‘उपदधाति’ स्थापयेदित्यर्थः । तदु-  
 पधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति — “एतद्वा इति ।  
 ‘उपादधत’ उपहितवन्तः । “तथैवेतदिति, प्रकृते योजनम् ॥ १ ॥

तदेव प्रकारान्तरेणापि स्तौति — “यद्देवेति । ‘स एषः’ आह-  
 वनीयोऽग्निः ‘चीयते’ चयनेन सम्पाद्यते , ‘एषः’ ‘जायते’ उत्पद्यते

एव । 'स' एषः' जायमानोऽग्निः 'सर्वस्मै' कृत्स्नाय 'अन्नाय'  
 .तत्पुपभीक्षुं जायते । दर्भाणां नामनिर्वचनद्वारा .उभयविधा-  
 न्तत्वं माह— “उभयस्येतदिति । उभयं किं .मित्यत आह—  
 “यद्दर्भा इति । उभयविधत्वं मेव विवृणोति— “या वै वृत्रादिति ।  
 “वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्त्वा शिश्वे”—इत्युपक्रम्य , “तस्मादु हैका  
 आपो बीभत्साच्चक्षिरे”—इत्यादिना प्रथमकाण्डे अपां दर्भभाव-  
 प्रत्ययादिति \* । ‘याः’ आपः वृत्रासुराद् ‘बीभत्समानाः’ जुगुप्स-  
 मानाः ‘जुगुप्साश्रयत्वादि कुर्वाणा इत्यर्थः । ‘धन्व’ अन्तरिक्षं  
 ‘दृभन्त्यः’ गुम्फनं कुर्वन्त्यः आपः ‘उदायन्’ उद्गतवत्यः । “धन्वान्त-  
 रिक्षम् ; धन्वन्त्यस्मादापः”—इति † हि यास्कः । दृभन्त्य इति ,  
 तौदादिकात् “दृभौ गुम्फने”—इति ‡ धातोः शतदि “ऋचेभ्यो  
 ङीप्” § । ‘ते दर्भा अभवन्’ आप एव दर्भत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । ते इति  
 पुक्तिङ्गं दर्भापेक्षम् । दर्भनाम निर्वक्ति— “यद्दृभन्त्य इति । ‘यत्’  
 यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य आप उद्गतवत्यः , ‘तस्माद्’  
 दर्भणादापो ‘दर्भाः’ दर्भशब्दवाच्या इत्यर्थः । दर्भभूतास्ता अपः  
 प्रशंसति— “ता हैता इति । ये दर्भाः ‘ताः’ एता आपः  
 ‘शुद्धाः’ शुद्धिसाधनभूताः , तथा ‘मिथ्याः’ मिथार्हाः । तदेव विस्म-  
 रयति— “आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति । न वृत्रात् ‘अभिप्रक्ष-  
 रिताः’ अभिप्रक्षुताः ‘उ’ पुनः ‘यत्’ यस्माद् ‘दर्भाः’ , ‘तेन’ कारणेन  
 ‘ओषधयः’ । दर्भाणां मोषधित्वं मन्यन्नाप्याज्जायते— “ओष-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ४ , ५ क० ( १ भा० ६० पृ० ) ।

† निरु० ५. १. ६ ।

‡ तु० प० ४३ धा० ।

§ पी० छ० ४. १. ५ ।

चयो बहिरिति । उभयविधत्वं सुपयोगप्रतिपादनेनोपसंहरति—  
“उभयेनैवैन मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निम् ‘एतत्’ एतेनोभयविधेन  
अग्नेन ‘प्रीणाति’ ॥ २ ॥

तदुपधानं चेन्न विधाय स्तौति— “सीतासमर इति ।  
कृष्टाः सीताः ‘समृच्छन्ते’ सङ्गच्छन्ते यत्रासौ ‘सीतासमरः’  
चेन्नमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः । आधियज्ञिकस्य  
सीतासमरस्याध्यात्मं सुखरूपता माह— “वाग्वा इति ।  
वागाग्रतनत्वाद् ‘वाक्’ सुखं खलु ‘सीतासमरः’ । कथं मित्य-  
पेक्षायां तदुपपादयति— “प्राणा वा इति । ‘प्राणाः’ खलु  
‘सीताः’ नाद्यः तत्त्वधारित्वात् । ‘तासां’ नाडीरूपाणां सीतानाम्  
‘अयं’ सुखलक्षणः ‘समयः’ सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते  
यत्र सोऽयं समयः; सुखे हि सर्वाः प्राणा नाद्यः सङ्ग-  
च्छन्ते । ततः किं मित्याकाङ्क्षाया माह— “वाचि वा इति ।  
‘वाचि वै’ सुखे एव ‘प्राणैभ्यः’ अर्थे ‘अन्नं’ ‘धीयते’ स्थाप्यते;  
सुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणाना माप्यायनस्य सङ्गावात् । सीता-  
समरेऽपि मध्यदेशे उपदध्यादित्याह— “मध्यत इति । सप्त-  
म्यर्थे तसिलयम् । ‘अस्मिन्’ चित्वाग्नी मध्ये एव ‘एतत्’ एतेन अन्नं  
स्थापितवान् भवति । उपधाने मन्त्राभावं विधत्ते— “तूष्णी  
मिति । तदेवोपपादयति । “अनिरुक्तं वा इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मभीति । ‘एनं’ दर्भस्तम्बम् ।  
“जायत एष इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् \* । अभिहोमे आण्यं  
द्रव्यं विधातुं स्तौति— “मर्वस्वो ऽअस्यैव इति । ‘यत्’ आण्यं सर्पिः

‘एवः’ ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ विश्वस्य ‘रसः’ । रसत्वं मेवोपपादयति—  
 “अवां च हीति । अपा मोषधीनाञ्च गोभिः पानाद् भक्षणाच्च  
 ज्ञान्य सुत्यश्नते । रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनं माह— “अस्यैवैन  
 मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निं ‘प्रीणाति’ तर्पयति । सर्वरसत्वकथने  
 कारणं माह— “यावानु वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाण-  
 विशिष्टः , ‘आत्मा’ देहोऽपि ‘तावान्’ तत्परिमाणविशिष्ट एव ;  
 देहस्य रसोपजीवनत्वात् । “अनेनेति । ‘सर्वेण’ रसेनेत्यर्थः ।

आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते— “पञ्चगृहीतेनेति \* । पञ्च-  
 गृहीतत्वं स्तौति— “पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना । ‘पञ्चर्त्तवः’  
 पञ्चर्त्वात्मकः ‘संवत्सरः’; हेमन्तशिशिरयो समासेन † । “संवत्सरो-  
 ऽग्निः इत्यादि गतार्थम् ‡ ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणाभिहोमं स्तौति— “यद्देवैन मिति । ‘एतद्दे’  
 कारणं खलु ‘यत्र’ यदा ‘प्राणाः’ एव ‘ऋषयः’ ‘अथे’ प्रपञ्च-  
 सृष्टेः पुरा ‘एनम्’ अग्निं चित्वाख्यं संस्कृतवन्तः , ‘तत्’ तदा  
 ‘अस्मिन्’ अग्नी ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्-भागम्’ अय-  
 नात् प्रागेव भजनीयं मंशम् ‘अकुर्वत’ सम्पादितवन्तः , ‘तस्मात्’ ते  
 ऋषयः ‘पुरस्ताद्भागाः’ पुरस्तादादौ भागो भजनीयोऽंशो येषां ते  
 पुरस्ताद्भागाः , प्रथमपूज्या इत्यर्थः । “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र  
 यत्कारणात् ‘अभिजुहोति’, इदानीन्तनो यजमान इति शेषः ।  
 ‘ये’ पुरस्ताद् भागकर्तारः प्राणरूपा ऋषयः , ‘तानेव’ ‘एतत्’

\* का० औ० सू० १७. ३. २ ।

† ऐ० ब्रा० १. १. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ १भा० ३६८० , इह च पुरस्तात् १०२ ए० १६ क०



एतेनाभिहोमेन तर्पयतीति तत्कारणं मित्यर्थः । “आन्धेने-  
त्यादि । व्याख्यातम् \* ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण त मेवाभिहोमं स्तौति— “यद्देवेति । ‘एत-  
स्मिन् अग्नी’ चित्यात्मके ‘यानि रूपाणि’ गार्हपत्यचिति-  
धिष्णरलक्षणानि , तथा ‘यान् सोमान्’ स्तोत्रियसमूहान् निष्ठ-  
त्यश्चदशादीन् , ‘यानि पृष्ठानि’ बृहद्रथन्तरादीनि , ‘यानि च  
हन्दांसि’ गायत्र्यादीनि , ‘उपधास्यन्’ एतेषां सुपधानं करि-  
ष्यन् ‘भवति’, ‘तेभ्यः’ रूपादिभ्य ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुर-  
स्ताद् भागं’ सम्पादयति । ‘तान्येव’ रूपादीनि ‘एतत्’ एतेन  
तर्पयति । “आन्धेनेत्यादि । पूर्ववत् † ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यभिहोमं मेव स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतत्’  
एतेन हेतुना ‘देवाः’ ‘अविभयुः’ भौतवन्तः । भयस्वरूपं मेव  
विशदयति— “दोर्घं वा इत्यादिना । ‘इदं’ चयनलक्षणं  
‘कर्म’, ‘दोर्घं’ विस्तृतं खलु । असु पुनर्द्राघीयः , तावता को  
भयहेतुरित्यत आह— “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘इह’  
दोर्घं कर्मणि ‘इमम्’ अग्निं ‘नाद्वा रक्षांसि’ ‘न हन्युः’ हिंस्युरिति ।  
अयं सम्भावने लिङ् ‡, ‘इति’-शब्दो देवाभिप्रायसमाप्तौ । भौति-  
निवृत्तिप्रकारं दृष्टवन्त इत्याह— “त एता मिति । ‘ते’ देवा  
‘एतस्य’ दोर्घस्य चयनाख्यकर्मणः ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव  
‘एवैताम्’ अभिहोमलक्षणां ‘संस्थां’ समाप्तिम् ‘अपश्यन्’ ददृशुः ।  
दृष्ट्वा चानुष्ठितवन्त इत्याह— “त मत्रैवेति । ‘अत्रैव’ चयनात्

\* , † इहैव पुरस्तात् ४ क० १२६ ए० ८ प० द्रष्टव्यम्

‡ इ पा० सू० ३. ३. १६१ ।

प्रागवसरे एव 'तं' चित्वात्मकं मग्निं सर्वं निरवशेषं 'सम-  
स्थापयन्' समापितवन्तः, अत्रादावित्यर्थः । 'अचिन्वन्' चित-  
वन्त इति भाविनि भूतवदुपचारः । उक्तं मर्थं प्रकृते योज-  
यति— "तथैवेन मिति ॥ ७ ॥

अभिहोमे मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य  
चितिपुरीषात्मना स्तौति— "सजूरब्द इति चितिरित्यादिना \* ।  
मन्त्रार्थस्तु,— 'अब्दः' संवत्सरः 'अयवोभिः' मासैरर्धमासैश्च  
'सजूः' समानजोषणः । यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते ;  
अर्धमासा एव वा, "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः"—इति  
श्रुतेः † । 'उषाः' रात्रेरपरः कालः । 'अरुणीभिः' अरुणवर्णाभि-  
र्गौभिः 'सजूः' समानजोषणः । "अरुण्यो गाव उषसः"—इति  
निघण्टुः ‡ । 'अश्विना' नासत्थ्यौ देवौ 'द' सोभिः कर्मभिः  
सजोषसौ समानजोषणौ । 'सूरः' सूर्यः 'एतशेन' हरितवर्णेना-  
श्वेन 'सजूः' । 'वैश्वानरः' विश्वनरनेता अग्निः 'इड्या' अग्नाय्या  
वृतेन 'आज्येन' हविषा च 'सजूः' 'स्वाहा' इदं माज्यं सुहुत  
मस्तु ॥ ८ ॥

त्रयोदशधा विभक्ता मन्त्रावयवा व्याहृतिरूपाः स्मुरित्याह—  
"त्रयोदशैता इति । व्याह्रियन्त एति 'व्याहृतयः' । 'एताः' इति  
स्त्रीलिङ्गत्वं व्याहृतिशब्दापेक्षम् । व्याहृतिगतां त्रयोदशसङ्ख्यां  
प्रशंसति— "त्रयोदश मासा इति । संसर्प्याहस्यतिसङ्घको-

\* वा सं० १२. ७४ ।

† शत० ब्रा० ८ का० २ प्र० ५ ब्रा० ११ क० ।

‡ १ ऋ० १५ ख० ७ प० ।

ऽधिसासस्त्रयोदशः \* ; “अस्ति त्रयोदशो मासः”—इति श्रुतेः † ।  
 “त्रयोदशान्नेरिति । चित्यस्याग्नेश्चितयः पुरीषाणि च मिलित्वा  
 त्रयोदश सम्पद्यन्ते । तथाहि—आदितश्चतस्रश्चितयः, पुरीषनिवप-  
 नास्ताः, स्तोमभागास्ता पञ्चमी चितिः, तदनन्तरभावि पुरीष  
 मेकम्, नाकसत्पृथुतिपुरीषनिवपनास्ता षष्ठी चितिरिति हे, ततो  
 विकर्णोत्थयमादस्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षणं मन्वा-  
 भ्याधानं चेति सप्तमी चितिः । सा त्रयोदशीत्यादिर्विभाग उक्ताः ।  
 “यावानग्निरित्यादि । असक्तद् गतम् ॥

आज्यस्य होमसाधनत्वं मनूय प्रशंसति— “आज्येनेत्या-  
 दिना । आज्यस्याग्नित्वम् “तेजो वै घृतम्”—इति श्रुतेः ‡ । “पञ्च-  
 गृहीतेनेत्यादि । व्याख्यातचरम् । तत्राभिहोमे सूच उद्गृहीतस्त्वं  
 विधाय प्रशंसति— “जहुं मिति । ‘उद्गृह्णन्’ सूच मूर्द्धां कुर्वन्  
 जुहोतीत्यर्थः । ‘तत्’ तेन सूच जहुंकरणेन ‘अग्निं’ प्रकृतं  
 ‘चितिभिः’ जहुं चितवान् भवति । “पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्मि-  
 जुहोति सजूरब्द इति”—इति सूत्रम् § ॥ ८ ॥ [२. ३.] ॥

इति ओसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अत्र मागे ३६ ए० ६ पं० द्रष्टव्या ।

† शत० ब्रा० ४. २. ५. ५ ।

‡ ऐ० ब्रा० ८. ४. ६ । ते० सं० २. ५. २. ७ ।

§ का० औ० सू० १७. ३. २ । वा० सं० १२. ७४ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अथोदचमसान्निनयति । एतद्दे॒वां \* अब्रुवन्-  
 चेतु॒यङ् मिति चि॒ति मिच्छ॑तेति व्याव तदब्रुव॑न्स्ते  
 चेत॒यमा॑ना वृ॒ष्टि मे॒व चि॒ति मप॑श्यंस्तु मस्मिन्न-  
 दधु॒स्तथै॒वास्मि॑न्नय॒ मेत॒ इधा॑ति ॥ १ ॥

उदचमसा भवन्ति \* । आपो वै वृ॒ष्टिर्वृ॒ष्टि  
 मे॒वास्मि॑न्नेतद्दध॒धायौ॒दुग्ध॑रेण चमसे॒न तस्यो॑क्तो बभू॒-  
 शुतुः॒सक्ति॑ना च॒तस्रो॒ वै दि॒शः सु॒र्वाभ्य॑ ए॒वा-  
 स्मि॑न्नेतद्दिग्भ्यो वृ॒ष्टिं द॑धाति ॥ २ ॥

वी॒स्त्रीनु॒दचम॑सान्निनयति । वि॒वृ॒दग्नि॑र्या॒वा-  
 नग्नि॑र्या॒वत्य॑स्य मा॒त्रां ता॒वतै॒वास्मि॑न्नेतद् वृ॒ष्टिं  
 द॑धाति ॥ ३ ॥

द्वाद॒शोदचम॑सान् कृ॒ष्टे नि॒नय॑ति । द्वाद॒श  
 मा॒साः सं॒वत्सरः॑ सं॒वत्स॒रोऽग्नि॑र्या॒वानग्नि॑र्या॒वत्य॑स्य  
 मा॒त्रा ता॒वतै॒वास्मि॑न्नेतद् वृ॒ष्टिं द॑धाति ॥ ४ ॥

स वै कृ॒ष्टे नि॒नय॑ति । तस्मा॑त् कृ॒ष्टाय  
 वर्ष॑ति स यत् कृ॒ष्ट ए॒व नि॒नये॒न्नाकृ॑ष्टे कृ॒ष्टायै॒व

वृषेन्नाकृष्टायथ यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्टेऽकृष्टा-  
यैव वृषेन्न कृष्टाय कृष्टे चाकृष्टे च निनयति  
तस्मात् कृष्टाय चाकृष्टाय च वर्षति ॥ ५ ॥

त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्  
वृष्टिं दधाति ॥ ६ ॥

यद्वेवोदचमसान्निनयति । एतद्वा ऽअस्मिन्  
देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तथैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादपो दधाति ॥ ७ ॥

द्वौस्त्रीनुदचमसान्निनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो द-  
धाति ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तस्वतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥ ९ ॥

स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति  
स यत् कृष्टऽएव निनयेन्नाकृष्टे प्राणेष्वेवापः  
स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नथ यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्ट

ऽचात्मन्नेवापः स्युर्न \* प्राणेषु कृष्टे चाकृष्टे च  
निनयति तस्मादिमा उभयवापः प्राणेषु चा-  
त्मन् ॥ १० ॥

वीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । विष्टदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य माचा तावतैवास्मिन्नेतदपो  
दधाति ॥ ११ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै व्यञ्ज  
एतेनैवास्यैतत् पञ्चदशेन व्यञ्जेण सर्व्वं पाप्मान  
मपहन्ति † ॥ १२ ॥

अथ सर्व्वौषधं व्यपति । एतद्देवा ऽअब्रु-  
वंश्चेतयध्व मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद-  
ब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्न मेव चितिमपश्यंस्ता म-  
स्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १३ ॥

सर्व्वौषधं भवति । सर्व्वं मेव तदन्नं यत्  
सर्व्वौषधं सर्व्वं मेवास्मिन्नेतदन्नं दधति तेषा  
मेकमन्नमुद्धरेत्तस्य नाग्नीयाद्यावज्जीव मौदुम्बरेण

\* 'स्युर्न'—इति क ।

† 'मपहन्ति'—इति क ।

चमसेन तस्योक्तो बभूवुः श्रुतुः सक्तिना चतस्रो वै  
 दिशः सर्वाभ्य एवास्मिन्नेतद्विग्भ्यो ऽन्नं दधा-  
 त्यनुष्टुब्भिर्व्वपति व्याग्वा ऽअनुष्टुब् वाचो वा  
 ऽअन्नं मयते ॥ १४ ॥

तिसृभिस्तिसृभिश्चग्भिर्व्वपति । त्रिवृदग्निर्या-  
 वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
 धाति ॥ १५ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्वपति । द्वादश  
 मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
 मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

स वै कृष्टे व्वपति । तस्मात् कृष्टे ऽन्नं पच्यते  
 यत् कृष्टेऽएव व्वपेन्नाकृष्टे कृष्टेऽएवान्नं पच्येत ना-  
 कृष्टेऽथ यदकृष्टेऽएव व्वपेन्न कृष्टेऽकृष्टेऽएवान्नं  
 पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति तस्मात्  
 कृष्टे चान्नं पच्यते ॥ १७ ॥

तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिवृ-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं  
 दधाति ॥ १८ ॥

यद्वै सव्वीषधं व्यपति । एतद्वा ऽएनं देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सव्वेण भेषजिनां भिषज्यं-  
स्तथैवैन मय मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् सव्वेण  
भेषजिन भिषज्यति ॥ १८ ॥

सव्वीषधं भवति । सव्वं मेतद् भेषजं यत्  
सव्वीषधं सव्वेणैवैन मेतद् भेषजिन भिष-  
ज्यति ॥ २० ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्मिर्व्यपति । त्रिवृदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद् भिष-  
ज्यति ॥ २१ ॥

द्वादशभिर्ऋग्मिः कृष्टे व्यपति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद् भिषज्यति ॥ २२ ॥

स वै कृष्टे व्यपति । प्राणांस्तु द्विषज्यति स  
यत् कृष्ट ऽएव व्यपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्येन्ने-  
तर मात्मान मय यदकृष्ट ऽएव व्यपेन्न कृष्ट ऽआत्मान  
मेव भिषज्येन्न प्राणान् कृष्टे चाकृष्टे च व्यपति  
प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥ २३ ॥



तिष्ठभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्यपति । चिह्न-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैन मेतद्  
भिषज्यति ॥ २४ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशभिर्हग्नि-  
व्यपति तृक्षिंशुक्षिंशुदक्षरा द्विराद्विराडु कृत्स्न  
मन्त्रं सुर्व्वं मेवास्मिन्नेतत् कृत्स्नमन्त्रं दधाति ॥ २५ ॥

या ओषधीः पूर्वा जाताः । देवेभ्यस्त्रियुगं  
पुरेत्थृतवो वै देवास्तेभ्य ऽएतास्त्रिः पुरा जायन्ते  
व्यसन्ता प्रावृषि शरदि मनै नु बभूणा मह मिति  
सोमो वै बभुः सौम्या ऽओषधय ओषधः पुरुषः  
शतं धामानीति यदिदं शतायुः शतार्धः शत-  
वीर्यं ऽएतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त  
चेति य ऽएवेमे सप्त शीर्षग्राणास्तानेतदाह ॥ २६ ॥

शतं वो ऽअस्र धामानि । सहस्रमुत वो  
रुह इति यदिदं शतधा च सहस्रधा च विरुढा  
अधा शतक्रत्वो यूय मिमं मे ऽअगदं कृतेति य मिमं  
भिषज्यामीत्येतत् \* ॥ २७ ॥

तु एता एकव्याख्यानाः । एत मेवाभि यथैत  
मेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति व्याख्या  
ऽननुष्टुप् व्यागु सर्व्वं भेषजं सर्व्वेणैवैन मेतद् भेष-  
जेन भिषज्यति ॥ २८ ॥

अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव\* । यजुषा द्वावन-  
ङ्गाहौ युनक्ति तूष्णीं मितरान्यजुषा चतस्रः सीताः  
कृषति तूष्णीं मितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्ब मुपदधाति  
यजुषाभिजुहोति तूष्णीं मुदचमसान्निनयति यजुषा  
व्यपति ॥ २९ ॥

प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयस्वेतत् प्रजापति-  
निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्य-  
जुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं  
तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तं  
मुपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा  
ऽएतं सर्व्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं  
व्विद्वानेतदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि  
भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्

पशोर्बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्य-  
निरुक्तानि ॥ ३० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२. ४.] ॥

अथ कृष्टे क्षेत्रे कर्षणक्रमेणोदचमसकरणक मपान्नियनं  
विधत्ते— “अथोदचमसान्नियतीति । उदकपूर्णाश्चमसा उद-  
चमसास्तानासिञ्चेदित्यर्थः । “एतद्वै देवा इत्याद्यसकृद् गतम् \* ।  
“वृष्टि मेवेति । वर्षणरूपां चिति मित्यर्थः ॥ १ ॥

उदकनिनयने चमसकरणतां विधाय वृष्ट्यात्मना स्तौति—  
“उदचमसा भवन्तीति । ‘वृष्टिरापः खलु’ अपां वृष्टिजन्य-  
त्वात् । चमसस्य उदुम्बरविकारत्वं विधत्ते— “अौदुम्बरेणेति ।  
“तस्योक्त इति । उदुम्बरविकारत्वस्वार्थवादः । “तदेतत् सर्वं मन्त्रं  
यदुदुम्बरः , सर्वं वनस्पतय इत्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चित  
इत्यर्थः † । चमसस्य चतुष्कोणत्वं विधाय प्रशंसति—चतुःस्रस्ति-  
नेति । “सर्वाभ्य इति । चतसृभ्योऽपि दिग्भ्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

चतसृषु चतसृषु सीतासु त्रयाणां त्रयाणा मुदचमसानां निनयनं  
विधाय प्रशंसति — “त्रींस्त्रीनिति ‡ । “नित्यवीक्ष्योः”—इति §  
निर्वचनम् । “त्रिवृदग्निरित्याद्यसकृदुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

\* पुरस्तादिहैव १२३ पृ० दृश्यम् ।

† ६ अ० ३ ब्रा० ३ क० ( ६ भा० १३८ पृ० ) ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. ३ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ इहैव १ प्र० ४ ब्रा० १५ कण्ठीयाख्या द्रष्टव्या ( ११८ पृ० )

कृष्टप्रदेशे द्वादशभिर्दक्षमसैर्निनयनं विधाय स्तौति—  
 “द्वादशोदक्षमसानिति । “द्वादशमासा इत्यादेः स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तस्योदकनिनयनस्य कृष्टक्षेत्राधिकरणत्वं मन्यं स्तौति—  
 “स वै कृष्टे इति । यस्मात् कृष्टप्रदेशे उदकनिनयनं क्रियते,  
 तस्मादेव कारणात्तोके ‘कृष्टाय’ कर्षणसंस्कारसंस्कृताय भूमिभा-  
 गार्थं ‘वर्षति’ वृष्टिर्भवति । “स यत् कृष्ट एवेत्यादिना कृष्टा-  
 कृष्टस्थले उदकनिनयनायैकैकत्र निनयननिन्दा प्रतिपाद्यते ;  
 अर्थस्तु निगदसिद्धः ॥ ५ ॥

कृष्टाकृष्टात्मके यदुदकनिनयनं विहितम्, तत् करणचमसानां  
 मपि त्रिसङ्ख्या उपजीव्य स्तौति— “त्रैन् कृष्टे चेति \* । “विह-  
 द्ग्निरित्याद्यसकृद् गतम् ॥ ६ ॥

उक्तेऽर्थे पुरावृत्तं भवतारयति— “यद्देवेत्यादिना । ‘पुर-  
 स्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘अपः’ उदकानि स्थापितवन्तः । शिष्टं  
 स्पष्टम् ॥ ७ ॥

\* त्रींस्त्रीनित्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

द्वादशोदक्षमसानित्यादि च ॥ ९ ॥

कृष्टप्रदेशे, उदकनिनयनस्य प्राणाधिकरणनिनयनरूपता माह  
 — “स वै कृष्ट इति । कृष्टाकृष्टयोरुभयत्रोदकनिनयने प्राणशब्दा-  
 भिधेयेषु चक्षुरादिषु तदाश्रयभूते ‘आत्मनि’ शरीरे चापां निनयनं  
 कृतं भवतीत्ययं स यत् कृष्ट एवेत्यादेस्तात्पर्यार्थः ‡ ॥ १० ॥

कृष्टाकृष्टयोरुदकनिनयनचमसगतं त्रित्वं मनूय तस्याप्यपां

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ४ ।

† इहत्या तृतीयकक्षीटीप्पनी द्रष्टव्या ( १४० पृ० ‘॥’ ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ५ ।

निधानहेतुता माह— “चीन् कृष्टे चेति । अर्थसु पूर्ववम् ॥ ११ ॥

पृथग्विहिता सुदचमससङ्गां सन्धूय प्रशंसति—“पञ्चदशोदचम-  
सानिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रस्य च  
सह प्रजापतिबाहुसकाशादुत्पत्तेरिन्द्रसम्बन्धी वज्रोऽपि पञ्च-  
दशस्तोमात्मकः \* , तादृशेनैतेन वज्रेणास्य यजमानस्य सर्वं मपि  
पाप्मानं अपहृतवान् भवति ॥ १२ ॥

अथ प्रकृत औदुम्बरचमसे सर्वधान्यावापं विधत्ते—“अप  
सर्वौषधं वपतीति । अन्नमेव धान्यरूपा मेव चिति मित्यर्थः ।  
गत मन्यत् ॥ १३ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति—“सर्वौषधं भवतीति । औषधीनां  
समूहः औषधम् । “तस्य समूहः”—इत्यण्† । औषधयश्चात्र ग्राम्या-  
रण्यादिबीजात्मिका द्रष्टव्याः ‡ । यत्सर्वौषधम् , एतत् सर्वं निरव-  
शेषं मन्त्रम् । “सर्वं मेवेति । ‘एतत्’ एतेन सर्वौषधावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नीं सर्वं मेलान्नं निहितवान् भवति । तन्नोमानां प्रकृतानां  
मन्त्रानां मध्ये एकस्य औषधिरूपस्य बीजस्य वर्जनं विधत्ते—“तेषां  
मेकं मिति । ‘तेषाम्’ औषधिविकाराणां मन्त्रानां मध्ये ‘एकं  
मन्त्रं मुहुरेत्’ पृथक् कुर्यात् , न आवपेदित्यर्थः । तत्र च धर्मविशेषं  
विधत्ते—“तस्य नाश्नीयादिति । ‘तस्य’ उद्धृतस्यान्नस्य ‘यावज्जीवं’  
नाश्नीयात् । अतएवोक्तं कात्यायनेन—“तस्मिन्सर्वौषधं माव-  
पत्येकवर्जं मभोजनं तस्योच्छासात्”—इति § ।

\* ते० सं० ७. १. १. ४. द्रष्टव्यम् ।

† पा० सू० ४. २. ३७ ।

‡ ते० सं० ५. ४. ६. १. द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्री० सू० १७. ३. ६. ७ ।

उदकनिर्नयन इव बीजावपनेऽपि चतुरश्रं मौदुम्बरं चमसं करण-  
त्वेन विधत्ते—“मौदुम्बरेण चमसेनेति । व्याख्यातं प्राक् चैतत् \* ।  
“सर्वाभ्य एवास्मिन्नित्यादि । ‘सर्वाभ्यः’ प्राच्यादिभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः  
सकाशात् ‘एतेन’ चतुःस्त्रिचमसकरणकेन बीजावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ ‘अन्नं’ ‘दधाति’ स्थापयति । बीजावपनं मन्त्राणां छन्दोद्वारेण  
प्रशंसति—“अनुष्टुप्भिरिति । “या ओषधीरित्याद्याः † अनुष्टुप्-  
छन्दस्तास्ताभिर्वपेदित्यर्थः । “वाग्वा अनुष्टुप्”—इत्यादि । सा तु  
“चतुस्तृराणि छन्दांस्यसृजत”—इति श्रुतेः सर्वच्छन्दोरूपत्वादनुष्टुभो  
वाङ्माम् ‡ अन्नं मपि वाचैवाद्यमानं मित्यन्नात्मकस्यौषधिवापस्य  
वाक्संलुतानुष्टुप्करणकत्वं युक्तं मिति भावः ॥ १४ ॥

• पञ्चदशात्मको ह्यनुवाकस्तत्र सर्वत्र क्रमेण तृचैरेवौषधिवापः  
कर्त्तव्य इति विधाय त्रित्वसङ्ख्यां प्रशंसति—“तिसृभिस्तिसृभि-  
रिति § । “नित्यवौषयोः”—इति ॥ द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्नि-  
रित्यादि व्याख्यातम् ¶ ॥ १५ ॥

‘कृष्टप्रदेशे द्वादशभिर्नृग्विर्वपनं विधाय स्तीति—“द्वादशभि-  
रिति । चतसृषु सीतास्त्रैकैकस्यां तिसृभिर्वपने सति द्वादशर्चः  
सम्पद्यन्ते, सैव द्वादशसङ्ख्या चानूय स्तूयते । निगदसिद्ध  
मन्यत् ॥ १६ ॥

\* इदमेव द्वितीयकण्ठीयाख्या द्रष्टव्या (१४० पृ०) ।

† पा० सं० १२. ७५—८६ ।

‡ शत० ब्रा० इका० १५० ४ब्रा० २१—२३का० (इभा० ४८, ४९ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० १७. ३. ८ ।

॥ पा० सू० ८. १. ४ ।

• † तृतीयकण्ठीटीप्पनी (१४० पृ० ‘॥’) द्रष्टव्या ।

तस्य बीजावापस्य कष्टचेनाधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
 “स वै कष्ट इति । यस्मात् कष्टप्रदेशे बीजावापः क्रियते, तस्मा-  
 देव कारणात् लोके कष्टकर्षणसंस्कारसंस्कृते भूमिभागे त्रीणि-  
 यवादिलक्षणम् ‘अन्नं पच्यते’ फलमिति । “यत् कष्ट एवेत्या-  
 दिना कष्टाकष्टक्षेत्रे वपनायैकैकत्र बीजावापनिन्दा प्रतिपाद्यते ।  
 निगदसिद्धोऽर्थः । कष्टाकष्टात्मके यद्बीजावपनं विहितम्, तत्  
 करणमन्त्राणां मपि ॥ १७ ॥

त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “तिसृभिः कृष्टे चेति ॥ १८ ॥

एव मन्त्रचित्ररूपेण बीजावापं संस्कृत्य भेषजरूपेणापि स्तौति  
 — “यद्देवेत्यादिना । पुराहत्तकथनम् । सर्वा ह्योषधयो यावदन्न-  
 मूलफलकन्दादिरूपेण भेषजानि भवन्ति, तथा सति सर्वौषधि-  
 सम्बन्धिबीजावपनेन सर्वेणैव भेषजेन ‘देवाः’ ‘एनम्’ अग्निम् ‘अभि-  
 षज्यन्’ अचिकित्सन् । “भिषज चिकित्सायाम्”—इति धातुः \* ।  
 तद्वद् अयं यजमानोऽपि ‘एनम्’ अग्निं ‘संस्करिष्यन्’ ततः प्रागेव  
 सर्वौषधिबीजावापेन सर्वेणैव भेषजेन ‘भिषज्यति’ चिकित्सति ।  
 यथा करिष्यमाणश्चयनसंस्कारो वितथो न भवेत्, तथैनं भिषज्ये-  
 दित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति— “सर्वौषधं भवतीति । पूर्ववद्  
 व्याख्येयम् ॥ २० ॥

तृचकरणकं बीजावपनं मनूयैतदपि भेषजहेतुत्वेन स्तौति—  
 “तिसृभिर्ऋग्भिरिति ॥ २१ ॥

चतसृषु सीतासु करणमन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या मनूय भेषज  
हेतुत्वेन स्तौति— द्वादशभिर्ऋग्भिरिति ॥ २२ ॥

कृष्टप्रदेशे वपनस्य प्राणभेषज्यरूपता माह— “स यत्  
कृष्ट एवेत्यादि । अकृष्टप्रदेशस्य शरीरस्य च साम्यं गर्त्तराहित्यं  
कृष्टाकृष्टयोरुभयत्र बीजावापेन प्राणशब्दाभिधेयांश्चक्षुरादीन्,  
तदाश्रयभूतम् ‘आत्मानं’ शरीरम्, एतेन भिषज्येदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बीजवपने च \* मन्त्रगतं चित्त्व मनूय, तस्यापि भेषजहेतुता  
माह— “तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे चेति ॥ २४ ॥

उदचमससङ्ख्यां बीजावापमन्त्रसङ्ख्यां चानूय सभूय प्रशं-  
सति— “पञ्चदशोदचमसानिति । “त्रिंशदक्षरा विराडिति ।  
‘द्वाभ्यां मक्षराभ्यां मनुष्टुभौ न्यूनत्वात् त्रिंशदक्षरा ऋक् विराट्-  
छन्दस्का भवति । “जनाधिकेनैकेन निचृद्गुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्-  
स्वराजौ”—इति † हि तल्लक्षणम् । सा च ‘विराट्’ ‘कृत्स्न मन्त्रम्’;  
भूर्भुवो हि तादृशी विराट् । अत एव श्रूयते— “इयं वै विरा-  
डिति ‡ । सा च स्वेप्सितव्रीहियवादिसर्वधान्योत्पत्तिहेतुत्वात्  
सर्वान्नरूपा । तथा च विराट्सम्पत्त्या ‘अस्मिन्’ अग्निचेत्त्रे ‘सर्वं  
मेवान्नम् एतत्’ ‘कृत्स्नं’ निरवशेषं ‘दधाति’ स्थापयति ॥ २५ ॥

अथ बीजावापमन्त्रपदानां मनुवादपूर्वकं सभिप्रायं व्याचष्टे—  
“या ओषधीरित्वादिना § । देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यस्य मन्त्रभागस्या-  
भिप्राय माह—“ऋतवो वै देवा इति । ‘याः’ ‘ओषधीः’ ओषधयः

\* “कृष्टाकृष्टबीजवपने च”— इति ८ ।

† पि० सू० ४ ख०, ऋ० प्रा० ४ पट०, का० सर्वा० १ क० प्रा० च दृश्यम् ।

‡ श्रुत० ब्रा० १ का० ४ प्र० ३ ब्रा० २० क० (१ भा० ३४६ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

§ वा० मं० १२. ७५—८६ ।



सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ताः 'देवेभ्यः' ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः 'पुरा' पूर्वं वसन्तप्रावृट्शरदा मादिषु संवत्सरमध्ये 'त्रियुगं' त्रिकालं जायन्त इत्यर्थः ॥

उत्तरार्धे मनूय व्याचष्टे— "मनै नु बभ्रूणा मिति । अमृतरूपेण सर्वेषां भरणेन 'बभ्रुः' सोमः, ओषधयोऽपि सोमदेवताकत्वात् । तदत्र बभ्रुशब्दाभिधेयास्तादृगोषधिपरिणामविशेष एव 'पुरुषः' मनुष्यशरीर मिति तत्तादात्म्यम् । अयं मर्थः,— 'बभ्रूणां' सीम्यानां ओषधीनां सम्बन्धानि वक्ष्यमाणानि, 'अहं' 'नु' अथ 'मनै' मन्ये जानामि । कानि पुनस्तानि मन्त्राणीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे— "शतं धामानोतीति । ओषधिपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शतसंवत्सरं जीवनम्, एवं शतसङ्ख्याका अर्थाः प्रयोजनानि, यानि च तन्निष्पादकानि शतसङ्ख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, 'एतानि' खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य 'तानि' मन्त्रोक्तानि शतसङ्ख्याकानि 'धामानि' । धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः यास्केनोक्ताः,— "धामानि त्रयाणि भवन्ति,— स्थानानि, नामानि, जन्मानोति \* । "सप्त चेति । 'य एवेमे' 'सप्त' सप्तसङ्ख्याकाः 'शीर्षण्' शीर्ष्णि सम्बन्धाच्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः 'प्राणाः' सप्त चेत्येतत्, तानेव 'प्राणान्' प्रतिपादयतीत्यर्थः । उदीरितलक्षणाणि शतसङ्ख्याकानि धामानि, सप्तशीर्षणान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जानामीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धे मनूय व्याचष्टे— "शतं वो अम्बेति ।

‘इदम्’ इदानीं ‘शतधा’ शतप्रकारेण ‘सहस्रधा’ सहस्रप्रकारेण च ‘विकृताः’ ‘उत्पन्नाः’ ओषधयो दृश्यन्त इति ‘यत्’, ‘एतत्’ एतेनार्थेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ‘अम्ब’ हे मतः ! ओषधयः ‘वः’ युष्माकं ‘धामानि’ स्थानानि ‘शतं’ शतसङ्ख्याकानि । ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थः । तथा ‘वः’ युष्माकं ‘रुहः’ प्ररोहाः अङ्गुरा अपि ‘सहस्रं’ सहस्रसङ्ख्याका इति ।

द्वितीयाहं मनूय तात्पर्यं माह— “अथा शतकृत्व इति । ‘अध’-शब्दो हेतौ । हे ‘शतकृत्वः’ शतकर्माण ओषधयः ! ‘यूयं’ मदीयम् ‘इमं’ पुरुषं ‘अगदं’ व्याधिरङ्गितं ‘कृत’ कुरुत । ‘यम्’ इमम् आतुर मिदानीम् अहं ‘भिषज्यामि’, त मेव कुरुतेत्येतदस्य वाक्यस्य तात्पर्यं मित्यर्थः । “भिषज् चिकित्साया मिति धातुः # कण्ठादिः ॥ २७ ॥

एव सृद्वयं व्याख्याय उत्तरासा मध्येव मेव व्याख्यान मित्यतिदिशति— “ता एता एकव्याख्याना इति । ‘ता एताः’ बीजावपनार्था ऋचः ‘एकव्याख्यानाः’ समानव्याख्यानाः, अतो न पृथक्तया व्याख्यायन्त इत्यर्थः ॥

अतिदिष्टं व्याख्यानं योजयति— “एत मेवाभीति । “इमं मे अगदं कृतेति । योऽयं पुरुषोऽनुक्रान्तः, एत मेवाभिलक्ष्य उत्तरा ऋचोऽप्यान्नाताः, तासाञ्चायं तात्पर्यगम्योऽर्थः,— ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘एत मेव’ पुरुषं चिकित्सको ‘भिषज्येत्’ भेषजैर्युक्तं कुर्यात्, तेन च भेषज्येन ‘एतं’ व्याधिरग्रस्तं ‘पारयेत्’ पार मारोग्यं प्रापयेत्, हे ओषधयः ! तथा कुरुतेति शेषः ॥

तासां छन्दोदारेण भेषजहेतुता माह— “ता अनुष्टुभो भवन्तीति । “वागु सर्व भेषज मिति । वाक् खलु सर्वं भेषजम् ; तद्देतुत्वात् । एवं सति ‘एनं’ पुरुषविधं चेष्यमाण मग्निं ‘एतत्’ एतेनानुष्टुप्छन्दसः प्रयोगेण ‘सर्वेष्वैव भेषजेन’ ‘भिषज्यति’ भेषजं कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ विहिताना मनडुद्योजनादीना मोषधिवापान्तानां कर्मणां समन्वकामन्वकत्वं सम्भूय स्तौति— “अथातो निरुक्ता-निरुक्तात्मना मेवेति \* । ‘अथ’-अनन्तरं यतः समन्वकामन्वक-भेदेन द्विविधानि विहितानि कर्माणि , अतः कारणात् तेषां ‘निरुक्तानिरुक्तानां’ समन्वकामन्वकाणां विहिताना मेव कर्मणां स्तुतिः क्रियत इति शेषः । निरुक्तानिरुक्तानि कर्माणि क्रमे-णानुक्रामति— ‘यजुषा’ मन्त्रेण “सीरा युञ्जन्ति”—इत्यादिकेन † ‘हौ धुर्यावनङ्गाहौ युनक्ति’, ‘इतरान्’ अनडुहोऽग्रे बध्यमानान् तूष्णीं युनक्ति । तथा ‘चतस्रः सीताः’ पुरुषो मन्त्रेण ‘क्षपति’ । ‘इतराः’ द्वादश सीताः ‘तूष्णीं’ क्षपति । तूष्णीं दर्भस्तम्ब मित्याद्येवं व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

एवं निरुक्तानिरुक्तभेदेन विहितानि कर्माण्यनूद्य चित्वाग्नि-रूपस्य प्रजापतेरपि निरुक्तानिरुक्तात्मना परिमितापरिमिता-त्मना च हेरूप्य माह— “प्रजापतिरेषोऽग्निरिति । ‘यः’ अथ मग्निः ‘एषः’ एव ‘प्रजापतिः’ । यदेतन्निरुक्तानिरुक्तात्मक सुभय-विधं जगत् , अस्मावेव स प्रजापतिः । अतो निरुक्तानिरुक्तजग-त्तादात्म्यात् प्रजापतिरपि ‘निरुक्तश्च’ ईदृगाकार इति निःशेषे-

\* का० श्री० १७. २. ११ ।

† वा सं० १२. ६७, ६८ ।

योक्तव्यं , 'अनिरुक्तः तद्विपरीतः 'च' अत एव 'परिमितः' परि-  
च्छिन्नश्च , 'अपरिमितश्च' अपरिच्छिन्नश्च भवति ॥

इत्थं प्रजापतिरूपस्यापि निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्वैविध्यं मुक्त्वा ,  
समन्वयेन निरुक्तेनानुद्योजनादिकर्मणा निरुक्तभागस्य , इतरणे-  
तरभागस्य च संस्कारं विभज्य योजयति--“तद्यद्यजुषा करोतीत्या-  
दिना । विद्वदनुष्ठानं प्रशंसति--“स ह वा इति । 'कृत्स्नं' सर्वावयव-  
सहितम् , 'सर्वं' निरवशेषम् ; अतो न पौनरुक्त्यम् । बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन निरुक्तानिरुक्तधर्मयोगाद् चित्वाग्नेः पशुरूपता मापाद्य  
स्तौति --“बाह्यानि रूपाण्येति । यान्येतानि निरुक्तानि कर्माण्यनु-  
क्रान्तानि, तान्यग्नेः 'बाह्यानि रूपाणि' । अनिरुक्तानि 'अन्तराणि'  
अभ्यन्तरवर्त्तीनि भवन्ति । ईदृशो यदयं मग्निः , एषः 'पशुः'  
एव, 'तस्मात्' एव कारणात् लोके 'पशोः' 'बाह्यानि' बहिरवस्थि-  
तानि 'रूपाणि' रोमादीनि 'निरुक्तानि', 'अन्तराणि' अष्टगादीनि  
'अनिरुक्तानि' च दृश्यन्ते ॥ ३० ॥ २ [ २. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्तमब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।

रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्थौ ,  
 व्यन्त्राणोद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुत्थः ,  
 कार्पासीयं क्षपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

( अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

चितो गार्हपत्यो भवति \* । अचित आहवनीयो-  
ऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरा-  
हवनीयोऽथ योऽयं व्यायुः पवत ऽएष सोम एतं  
तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ  
लोकावन्तरेण पवते ॥ १ ॥

यदेव चिते गार्हपत्ये † । अचित ऽआहवनीये ‡-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्निः प्राणः सोम  
आत्मन्सुत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादय मात्मन्  
प्राणो मध्यतः ॥ २ ॥

यदेव चिते गार्हपत्ये § । अचित ऽआहवनीये-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्नी रसः सोम  
आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादय मान्त्त मेवात्मा  
रसेनानुषक्तः ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग , घ ।

† , § 'गार्हपत्ये'—इति क , ख ।

‡ 'आहवनीये'—इति ख ।

राजानं क्रीत्वा पर्युच्छ \* । अथात्मा ऽआतिथ्युच्छ  
हविर्निर्व्वपति तस्य हविष्कृता व्याचं व्विसृजतेऽथ  
वा ऽएतद्वृत्तिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः  
समानतायै समानं मिदं कर्म्मसदिति ॥ ४ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्निः प्राणो  
ऽध्वर आत्मांस्तु प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादय  
मात्मा प्राणो मध्यतः † ॥ ५ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्नी रसे  
ऽध्वर आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयमान्तं भेवा-  
त्मा रसेनानुषक्तोऽथाहवनीयस्यार्द्धं मेति ॥ ६ ॥

तद्वैके । उभयद्वैव पलाशशाखया व्युद्रूहन्त्यु-  
भयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्यादवस्यति व्याव  
गार्हपत्येनोर्द्धं एवाहनीयेन रोहति तस्मात्तथा न  
कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ गार्हपत्य ऽएवोषान्निवपति ‡ । नाहवनीयेऽयं

\* पर्युच्छः—इति ख । 'पर्युच्छ'—इति ग, घ ।

† 'मध्यतः'—इति ग, घ ।

‡ 'निवपति'—इति ग, घ ।

वै लोकों गार्हपत्यः पशुव ऊषा अस्मिंस्तुलोके पशुन्  
दधाति तस्मादिमेऽस्मिंस्तुलोके पशुवः \* ॥ ८ ॥

अथाहवनीय एव पुष्करपर्णं मुपदधाति । न  
गार्हपत्य एवापो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि  
तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै  
सिकता उभयत्र वै विक्रियते तस्माद्रेतसोऽधि  
विक्रियाता ऽइति ॥ ९ ॥

ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोको  
वै गार्हपत्यो देवलोक आहवनीयो नानो वा एत-  
द्यद्वै च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये नि-  
वपति ऋसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषं  
ऋसीयो मनुष्यायुषं स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्ह-  
पत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्मा-  
द्रेतसोऽधीमा विक्रियान्ता ऽइति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता  
अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निव-  
पति कथं मस्यैतद्रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवती-



तुल्यं वा ऽजुषास्तदादूषान् पूर्वान्निवपत्येतेनो हास्यै-  
तदुल्वेन रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवत्युषाहव-  
नीये परिश्रितो ऽभिमन्त्रयते तस्योक्तो बभ्रुर्य सि-  
क्ता निवपति रेतो वै सिक्ता एतयो ऽभस्यै-  
तद्योन्या रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवति\* ॥ ११ ॥

अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्या † मभिमृशति ।  
न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोकः  
आहवनीयोऽहो वा ऽअयं मस्मिंल्लोके जातो यजमानः  
स्वर्गं ऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तदाहवनीय  
ऽएवाप्यानवतीभ्या ‡ मभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गं  
ऽएवैनं तुल्लोके प्रजनयति § ॥ १२ ॥

अथ लोकेष्टका ॥ उपदधाति । इमे वै लोका  
एषो ऽग्निर्दिशो लोकेष्टका ॥ एषु तुल्लोकेषु दिशो  
दधाति तुस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥ १३ ॥

वाद्येनाग्नि माहरति । आप्ता वा ऽअस्य ता

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, ‡ '०प्यायनवतीभ्याम्'—इति सायबसम्मत इति डा० वेबरः

§ 'प्रजनयति'—इति ग, घ ।

॥ 'लोकेष्टका'—इति सा०—सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

दिशो यां एषु लोकेष्वथ या इमांलोकान् परेण  
दिशस्ता मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १४ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै वेदिः । आप्ता वा ऽअस्य  
ता दिशो या अस्या मथ या इमां परेण दिशस्ता  
मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १५ ॥

यद्वेव लोकेष्टका उपद्वधाति । प्रजापतेर्व्विस्त-  
स्तस्य सुर्व्वा दिशो रसोऽनु व्यचरत् तं यत्र देवाः  
समस्कुर्व्वस्तदस्मिन्नेताभिर्लोकेष्टकाभिस्तं रस मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १६ ॥

वाह्णेनाग्नि माहरति । आप्तो वा ऽअस्य स  
रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांलोकान् पराङ्मुखो-  
ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १७ ॥

ग्रं वै वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
स रसो योऽस्या मथ य इमां पराङ्मुखोऽत्यचरत्त  
मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १८ ॥

स्वधेनाहरति । वृजो वै स्फुरो वृीर्ये वै वृजो  
वृत्तिरियं वृीर्येण वै वृत्तिं वृन्दते ॥ १९ ॥

स पुरस्तादाहरति । मा मा हिंसीज्जनिता यः

पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा  
 हि०सीत्. प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिव० सत्यधर्मा  
 व्यानडिति यो वा दिव० सत्यधर्मासृजतेत्येतद्व्या-  
 पञ्चन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वा ऽपञ्चन्द्रा  
 यो मनुष्यान् प्रथमो ऽसृजतेत्येतत् कस्मै देवाय  
 हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा  
 विधेमेत्येतत् ता माहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्वधात्यथो प्राची मेवास्मिन्नेतद्विशं दधाति\*  
 ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
 पुयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्वपां ते ऽग्नि-  
 रिषितो ऽअरोहदिति यद्वै किं चास्या० सास्यै  
 व्वपा ता मग्निरिषित उपादीसो रोहति ता माह-  
 ृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्यन्न उपदधाति स यो दक्षि-  
 णायां दिशि रसो ऽत्यक्षरत् मस्मिन्नेतद्वधात्यथो  
 दक्षिणा मेवास्मिन्नेतद्विशं दधाति † ॥ २१ ॥

अथ पश्चात् \* । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्  
 पूतं यच्च यज्ञिय मित्तीयं वा ऽअग्निरस्यै तदाह  
 तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे  
 हराम इत्येतत्ता माहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धि मात्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् तु  
 मस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति  
 स न सम्प्रति पश्चादाहरेन्नेदञ्चपथाद्रुस माहुराणी-  
 तीत इवाहरति † ॥ २२ ॥

\* अथोत्तरतः ‡ । इष मूर्जं मह मित आद मितौ-  
 ष मूर्जं मह मित आदद ऽइत्येतदृततस्य योनि मिति  
 सत्यं वा ऽकृतुः सत्यस्य योनि मित्येतन् महिषस्य  
 धारा मित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जाती महान्त-  
 सूर्जं मैष्णादा मा गोषु विशत्वा तनूष्वित्यात्मा वै  
 तनूरा मा गोषु चात्मनि च विशत्वित्येतज्जहामि  
 सेदि मनिरा ममीवा मिति सिक्ताः प्रह्वसयति

\* 'पश्चात्' - इति ग, घ ।

† 'इवाहरति' - इति ग, घ ।

‡ 'अथोत्तरतः' - इति ग, घ ।

तद्यैव सेदियांनिरा यामौवा ता मेतस्यां दिशि  
 दधाति तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता  
 माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्मन्नुपदधाति स य  
 उद्दीच्यां दिशि रसो ऽत्युच्चरत्तु मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 ऽउद्दीचौ मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥ २३ ॥

ता एता दिशः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्व्वतो दिशः  
 सर्व्वतः समीचीः\* सर्व्वतस्तत् समीचीर्दिशो दधाति  
 तस्मात् सर्व्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति  
 नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना  
 हि दिशस्तिष्ठन्नुपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो  
 तिष्ठन्वै वीर्य्यवत्तरः ॥ २४ ॥

ता एता यजुष्मत्य दृष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् एव यजुष्मत्य दृष्टका  
 उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥ २५ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पक्वाः शृता उपहिता  
 भवन्तीति रसो वा ऽएताः स्वयंशृत उ वै रसो-

ऽथो यद्दे किं चैत मग्निं व्यैश्वानरं मुपनि-  
गच्छति तत् एव तत् पक्वञ् शृतं मुपहितं  
भवति \* ॥ २६ ॥

अथोत्तरवेदिं निवपति । इयं वै वेदि-  
र्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोकेष्टकास्तद्यदन्तरेण वेदिं  
चोत्तरवेदिं च लोकेष्टका उपदधातीमौ तल्लोका-  
वन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्त-  
रेण दिशस्तां युगमावीं वा सर्व्वतः करोति च-  
त्वारिंशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिक्ता  
निवपति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २७ ॥

ता उत्तरवेदौ निवपति । योनिर्व्यां ऽउत्तर-  
वेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्दे योनौ रेतः सिञ्चते  
तुल्यजनिष्णु भवति ताभिः सर्व्वं मात्मानं प्रच्छा-  
दयति सर्व्वस्मिंस्तदात्मन्वेतो दधाति तस्मात् सर्व्व-  
स्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति † ॥ २८ ॥

अग्ने तव श्रवो व्यय इति । धूमो वा ऽअस्य

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

† 'सम्भवति'—इति क, 'सुम्भवति'—इति

श्रवो व्ययः स ह्येन ममुष्मिंल्लोके श्रावयति महि  
 भ्राजन्ते अर्च्यो विभावसविति महतो भ्राजन्ते-  
 ऽर्च्यः प्रभूवसवित्येतद् बृहन्नानो श्रवसा व्याज  
 मुक्थ्य मिति बलं वै श्रवो बृहन्नानो बलेनान्न  
 मुक्थ्य मित्येतद्धासि दाशुषे कव ऽद्विति यज-  
 मानो वै दाश्वान्दधासि यजमानाथ कव ऽद्वित्ये-  
 तत् ॥ २६ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति । पावकवर्चा  
 ह्येष शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि मानुनेत्य-  
 नूनवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत् पुत्रो मातुरा  
 विचरन्नपावसौति पुत्रो ह्येष मातुरा विचरन्न-  
 पावति पृणक्षि रोदसी ऽउभे ऽद्वतीमे वै द्यावा-  
 पृथिवी रोदसी ते ऽएष उभे पृणक्ति धूमेनामूं  
 वृष्ट्येमाम् \* ॥ ३० ॥

ऊर्ज्जीनपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति † । ऊर्ज्जी-  
 नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन् मन्दस्व धीतिभि-

\* 'वृष्ट्येमाम्'—इति ग, घ ।

† 'सुशस्तिभिरिति'—इति क, 'सुशस्तिभिरिति'—इति ग, घ ।

ईति इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे ऽदुषः  
 सन्दधुर्भुवर्षस इति त्वे ऽदुषः सन्दधुर्भुवर्षस \*  
 इत्येतद्विद्योतयो व्वामजाता इति यथैव यज्ञ-  
 स्तथा वन्तुः ॥ ३१ ॥

इरज्यन्नने प्रथमस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या  
 वै जन्तवो दीप्यमानो ऽने प्रथमस्व मनुष्यैरित्येत-  
 दस्मै रायो ऽभमर्त्येतस्मै रयिं दधदमर्त्येतत् स  
 दर्शतस्य व्युषो व्विराजसीति दर्शतस्य छेष व्युषो  
 व्विराजति पृणञ्चि सानसिं क्रतु मिति पृणञ्चि  
 सनातनं क्रतु मित्येतत् ॥ ३२ ॥

इष्कर्तारमहुरस्य प्रचेतस मिति । अहुरो वै  
 यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतस मित्येतत्  
 व्यन्तः राधसो मह इति । व्यन्तः राधसि  
 महतीत्येतद्वातिं व्वामस्य सुभगां मही मिष मिति  
 रातिं व्वामस्य सुभगां महती मिष मित्येतद्दुधासि  
 सानसिः रयि मिति दुधासि सनातनः रयि  
 मित्येतत् ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्दधुर्भुवर्षस'—इति च दृष्टं डा० वेदरमहोदयेन



ऋतावान् मिति । सत्यावान् मित्येतन् म-  
हिष मित्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शत मिति विश्व-  
दर्शतो ह्येषोऽग्निः सुम्नाय दधिरे पुरी जुना  
इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा ऽएतं पुरी  
दधते श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा  
युगेत्याश्रयन्तं सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या  
हवामह ऽद्व्येतत् \* ॥ ३४ ॥

स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत् षडृच  
मारम्भायैवेमाः सिकता न्युप्यन्तेऽग्नि मेवास्मिन्ने-  
तद्वैश्वानरं रेतो भूतं सिञ्चति षडृचेन षडृतवः  
संव्यत्सरः संव्यत्सरो वैश्वानरः † ॥ ३५ ॥

तदाहुः । यद्रेतः सिकता उच्यन्ते कि मा-  
सां रेतो रूप मिति ‡ शुक्ता इति व्रूयाच्छुक्ता  
हि रेतोऽथो पुम्रय इति पुम्रीव हि रेतः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यदाद्रं रेतः शुष्काः सिकता

\* 'ऽद्व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

‡ 'रेतो रूप मिति'—इति क, ख ।

निवृपति कथं मस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति  
 रसो वै छन्दाः स्याद् उ वै रसस्तद्यदेनाश्छन्दो-  
 भिर्निवृपत्येव मु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति  
 ॥ ३७ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्राभ्या मुप-  
 हिता भवन्तीति । हे वा अहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं  
 च हे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैव मु हास्यैता  
 अहोरात्राभ्या मुपहिता भवन्ति ॥ ३८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना  
 अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि  
 वा ऽअहोरात्राण्यनन्ताः सिकता एवं मु हास्यैता  
 अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता  
 भवन्त्यथ कुस्मात् समुद्रियं छन्द इत्यनन्तो वै स-  
 मुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तत् समुद्रियं छन्दः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पृथङ् नाना यजुर्भि-  
 र्मुपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो  
 यजुः सन्धाः सिकता अनुविभवंत्येव मु हास्यैताः  
 पृथङ् नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४० ॥

तदाहुः । कथं मन्त्रैताः सर्व्वेऽश्वन्दीभिरुप-  
हिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षडृचेन निवपति  
यावन्ति हि सप्तानां कुन्दसा मन्त्राणि तावन्त्ये-  
तस्य षडृचस्याक्षराण्येव मु हास्यैताः सर्व्वेऽश्वन्दी-  
भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४१ ॥

यदेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
सुर्व्वं मु ब्रह्मा प्रजापतिस्तद्धेतद् ब्राह्मण उत्सन्नं \*  
यत् सिकता अथ यदनुत्सन्नं मिदं तद्योऽयं मग्नि-  
श्चोयते तद्यत् सिकता निवपति यदेव तद् ब्राह्मण †  
उत्सन्नं तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति ता असङ्गता  
अपरिमिता निवपति को हि तदेद यावत् तद्  
ब्रह्मण ‡ उत्सन्नं स ह वा एतत् सर्व्वं कृत्स्नं  
प्रजापतिः संस्करोति य एवं विद्वान्सिकता  
निवपति ॥ ४२ ॥

तदाहुः § । कैतासा मुसङ्गतातानां सङ्गोति  
हे ऽङ्गति ब्रूयाद् द्वे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो

\*, †, ‡ 'ब्राह्मण'—इति क, ख ।

§ 'तदाहुः'—इति ग, घ ।

सप्तविंशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्स-  
 रस्याहोरात्राण्यथो दे हापञ्चाशे शते ऽङ्गत्वेतावन्ति  
 स्रोतस्य षड्विंशाक्षराण्यथो पञ्चविंशतिरिति पञ्च-  
 विंशत् हि रेतः ॥ ४३ ॥

ता एता यजुष्यत्य ऋष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् ऋषे यजुष्यत्य ऋष्ट-  
 का उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः  
 प्रजातिः \* स्थापयानीति † ॥ ४४ ॥

अथैना आप्यानवतीभ्या मभिमृशति । इदं  
 मेवैतद्रेतः सिक्तं माप्याययति तस्माद्योनौ रेतः  
 सिक्तं माप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं  
 तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणं मभि-  
 सम्भवति पुण्ये यद्वते प्राणात् सम्भवेदेषो हेवात्र ‡  
 सृद्दोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सृद्दोहाः  
 ॥ ४५ ॥

\* 'प्रजनयति'—इति क ।

† 'स्थापयानीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवां हेवात्र'—इति च इष्टं डा० वेवरमहोदयेन ।

आप्यायस्व सुमेतु ते । विश्वतः सोमः  
 वृष्णा मिति रेतो वै वृष्णा आप्यायस्व सु मेतु  
 ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा व्राजह्य सङ्गथ  
 ऽइत्यन्ने वै व्राजो भवान्नह्य सङ्गथ ऽइत्येतत् सं  
 ते पयांसि स मु यन्ति व्राजां इति रसो वै  
 पयोऽन्ने व्राजाः सं ते रसाः स मु यन्त्वन्नानीत्ये-  
 तत्सं वृष्णान्यभि मातिषाह इति स रेतोऽ-  
 सि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो ऽचमृताय सो-  
 मेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजाति-  
 रमृता दिवि श्रवांस्तुतमानि धिष्वेति चन्द्रमा  
 वा ऽअस्व दिवि श्रव उत्तमं सु ह्येन ममुष्मिंल्लोके  
 श्रावयति द्वाभ्या आप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा  
 च तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव \* । चतस्रो लोकेष्टका उप-  
 दधाति षड्वेन निवपति द्वाभ्या आप्याययति  
 तद् द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-

ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद् भव-  
ति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ साग्निचित्ये क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति —  
“चितो गार्हपत्य इति । गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्यकाले  
चीदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । सोमस्य गार्हपत्या-  
हवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपादयति — “अयं वै  
लोक इति । भूलोकस्वर्लोकः कात्मकी गार्हपत्याहवनीयौ । ‘यो-  
ऽयं वायुः पवते’, ‘एषः’ एव क्रियमाणः ‘सोमः’; तत्-  
क्रयस्य गार्हपत्यचयनादुर्ध्वं माहवनीयचयनात् पूर्वं मेतस्मिन्  
समयेऽनुष्ठानात् । ‘एतं’ सोमात्मकं वायुं ‘इमौ लोकावन्तरेण’  
अनयोर्लोकयोर्मध्ये ‘दधाति’ स्थापयति । “अन्तरान्तरेणेति \*  
द्वितीया । यस्मादेवं वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रियते , तस्मा-  
देष दृश्यमानो ‘वायुः’ ‘इमौ लोको’ भूलोकस्वर्लोको ‘अन्तरेण’  
‘पवते’ परिवर्त्तते ॥ १ ॥

इत्थं सोमक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं मधिलोकं सुत्वा अध्यात्म  
मपि स्तौति — “यद्देवेति । “आत्मा वा अग्निरिति । गार्ह-

पत्याहवनीयचित्वात्मकः 'अग्निः' 'आत्मा' विश्वस्तावयवस्य प्रजा-  
पतेः शरीरम् । तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः 'सोमः' ; अतस्तस्य  
गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रियमाणत्वात् 'आत्मन्' आत्मनि  
शरीरे 'प्राण मेव मध्यतो दधाति' धारयति । 'तस्मात्' एव  
कारणात् पञ्चदश्यात्मकः 'अयम् प्राणः' सर्वप्राणिनां 'आत्मन्'  
आत्मनि शरीरे 'मध्यतः' दृश्यते ॥ २ ॥

राजक्रयस्य मध्येऽनुष्ठान मनुष्य कृत्स्नशरीरे रसानुषङ्गहेतुत्वेनापि  
स्तीति — "यद्देवेति । "रस. सोम इति । अभिषवादि संस्कृतो  
हि सोमः सुखादिवशे रसात्मको भवति ; शरीरसंस्तुतयोर्गार्हपत्या-  
हवनीयनयोर्मध्ये रसात्मकस्य तस्यानुप्रवेशात् । 'आत्मानं' शरीरम्  
आध्यायनहेतुना 'रसेन' 'अनुषजति' अनुषक्तं मनुष्यतं करोति ।  
'तस्मात्' एव कारणात् 'अथ मात्मा' देहः 'आन्तं' शिरःप्रभृति  
पादपर्यन्तं 'रसेन' 'अनुषक्तः' व्याप्नोति दृश्यते ॥ ३ ॥

आतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचितिसंस्कारं विधित्सुः, ततः  
प्राक्तनं चोदकंप्राप्तं प्रयोगजातं मनुक्रामति — "राजानं क्रीत्वेति ।  
क्रयानन्तरम्, क्रीतस्य परिवहणं कृत्वापि अनन्तरम्, 'अस्मै'  
सोमाय 'आतिथ्यं' पूजार्हं 'हविः' प्रकृतिवत् 'निर्वपति' ; 'तस्य'  
कर्मणः सखन्धिना 'हविष्कृता' "हविष्कृदेहोति मन्त्रेण \* प्राङ्-  
नियमितां 'वाचं' 'विष्टजते' † । अस्मिन् समये आहवनीयचिति-  
संस्कारं विधित्सुस्तदुपोद्घातत्वेन सौमिकाग्निः कर्मणोः  
परस्परं व्यतिषङ्गं विधत्ते — "अथ वा इति । 'अथ' खलु 'एतत्'  
एवं कुर्वन्नहुर्यः 'व्यतिषजति' व्यतिषक्तं परस्परं सङ्गतं

\* वा० सं० १. १५ ३ ।

† शत० ब्रा० १. १. ४. ११ (१ भा० ७४ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

करोति । “वज्रं सङ्गे #”-इत्यस्मात्कटि “दंशसप्तस्वप्नां शपि”-  
इत्यनुनासिकलोपः † । किन्तदिति तदाह--“अध्वरेति । व्यति-  
षङ्गस्य प्रयोजनमाह--“कर्मण इति । सौमिकाम्निंकभेदेन द्विवि-  
धस्य कर्मणः ‘समानतायै’ एकोभवनार्थम् । ननु व्यतिषङ्गमात्रात्  
कथं मनयोरेक्यसिद्धिः , तत्राह-- “समानं मिदं मिति । ‘इदम्’  
अनुष्ठेयमानं सौमिकं \* भाग्निकं च ‘कर्म’ ‘समानम्’ एकम्  
‘असत्’ भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदुभयं व्यतिषजति ;  
न खलु व्यतिषङ्गं मन्तरेणानयोरेक्यसिद्धि रिति भावः ॥ ४ ॥

एतद्व्यतिषजनं मनूय स्तौति--“यद्देवेति । “प्राणोऽहुर इति ।  
‘अहुरः’ सोमयागः प्राणस्थानीयः , ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘मध्यतः’  
मध्ये ‘तत्’ ‘प्राणं’ स्थापयति । ‘तस्मादयं प्राणः’ शरीरमध्ये  
वर्त्तत इति शेषः ॥

तथा--“रसोऽहुर इति । ‘अहुरः’ सोमयागो रसस्था-  
नीयः ; सर्वप्रकृतित्वात् । गतं मन्यत् । वाग्विसर्जनानन्तरमाह-  
वर्नीयसमीपदेशगमनं विधत्ते-- “अथाहवनीयस्यार्धं मैतेति ।  
अर्धशब्दो देशवाचो । ‘आहवनीयस्य’ अग्नेः यत् स्थानं कर्ष-  
णादिसंस्कारसंस्कृतं हविष्कृदाह्वानानन्तरम् , तत् स्थानं माग-  
च्छेदित्वर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

गार्हपत्यस्थानवदाहवनीयस्थानस्यापि पलाशशाखया व्युद्-  
घ्नं मेकोयमतेनोपगम्य दूषयति--“तद्यैक इति ‡ । ‘तत्’  
तत्र उभयत्रैव , गार्हपत्ये आहवनीये च ‘एके’ शाखिनः ‘पलाश-

\* आ० ब्रा० ६८७ घा० ।

† पा० सू० ६. ४. २५ ।

‡ का० औ० सू० १७. १. ३ ।



शाखया व्युद्गहनं कुर्वन्ति । 'उभयत्र' खलु 'चिनोति' इति तत्र हेतुः । व्युद्गहनस्य चयनार्थत्वात् आहवनीयचितावपि तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति— “न तथेति । प्रतिज्ञातं मर्षं सुपपादयति— “अवस्यति वावेति । गार्हपत्यचयनेन हि यं प्रदेशमव्यवस्यति अव्यवसानसमये भूशोधनार्थं व्युद्गहनं मपेक्षितम्, अथ पुनरारोहणसमये आहवनीयचयनेनाव्युद्गः सन्नारोहति, 'तस्मात्' 'तत्र' कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

गार्हपत्यचितिवत् प्रसक्त मूषाणां निवपनं मपि तत्रैव कर्त्तव्यमिति निगमयति— “अथ गार्हपत्य एवेति । एवकारस्यवच्छेद्यमाह— “आहवनीये इति । अत्र हेतुमाह— “अयं वै लोक इति । भूरिति व्याहृत्या आहितत्वाद् गार्हपत्यो भूलोकात्मकः ; “भूरिति गार्हपत्यमादधाति”—इति हि ब्राह्मणम् । ऊपरप्रदेशस्य पशुभिर्लेङ्गमानत्वात् ऊषाणां पश्वात्मकत्वम् ॥ ८ ॥

अथाहवनीये प्रतिनियतं विधास्यमानं पुष्करपर्णीपधानमनूय प्रतिनियतफलप्रतिपादनेन स्तौति— “अथाहवनीय एवेति । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । अत्र हेतुमाह— “आपो वा इति । पुष्करपर्णस्यासु जननात् तदवात्मकमित्यर्थः । “द्वौराहवनीय इति । सुवरिति व्याहृत्या आहितत्वाद् आहवनीयो व्युलोकात्मकः । 'तत्' तत्र पुष्करपर्णीपधानेन व्युलोके 'अपः' उदकानि वृष्ट्युपादानत्वेन स्थापयतीत्यर्थः ॥

गार्हपत्यवदाहवनीयेऽपि सिकतानिवपनं कर्त्तव्यमिति विधत्ते— “उभयत्रेति । तदेतदुपपादयति— “रेतो वा इति ।

सितभास्वरंत्वादिरूपसाम्यात् सिकतानां रेतस्त्वम्, 'उभयत्र' गार्हपत्यस्थाने आहवनीयस्थाने च चित्तिरूपेण चित्त्वोऽग्निः 'विक्रियते' विशिष्टरूपवान् क्रियते । विक्रियमाणश्चासौ 'तस्मात्' सिकतालक्षणात् 'रेतसः' 'अधि' उपरि 'विक्रियातै' विक्रियेत, विक्रितिं भजेत । 'इति' अनेनाभिप्रायेण उभयत्र सिकतानां निवपनम् ॥ ८ ॥

उभयत्र मन्त्रभेदं विधाय स्तीति — "ता नाना मन्त्राभ्या मिति । 'ताः' सिकताः भिन्नमन्त्राभ्यामित्यर्थः । "अग्नेर्भस्मा- स्तीति \* हि मन्त्रेण गार्हपत्ये सिकतानिवपनं विहितम् †; "अग्ने तव श्रवो वय ‡ इत्याहवनीये सिकतानिवपनस्य मन्त्रो विधा- स्वते § । एवं नानामन्त्रत्व मनुद्य स्तूयते — गार्हपत्याहवनीययो- र्भूलोकस्वर्गलोकाल्पकत्वं क्रमेण प्रतिपादितम्, "नानो वा एत- दिति । 'देव' देवसम्बन्धि, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि च यदे- तत् स्थानद्वयम्, तदेतन्नानैव खलु विभिन्नं मेव । मन्त्रं दैर्घ्य- ङ्गस्वत्वाभ्यां स्तीति — "द्राघीयसेति । "अग्ने तव श्रव इति मन्त्रः, "अग्नेर्भस्मास्तीति मन्त्रापेक्षया 'द्राघीयान्' अतिशयेन दीर्घः ; तेन 'मन्त्रेण' आहवनीये सिकता निवपति । 'ङ्गसी- यसा' ङ्गस्वतरेण 'अग्नेर्भस्मास्तीति मन्त्रेण । मन्त्रगतं द्राघीयस्त्वं ङ्गसीयत्वं च प्रतिपादयति — "द्राघीयो होति । दीर्घतमं हि 'देवायुषं' देवाना मायुर्जीवितम्, 'ङ्गसीयः' ङ्गस्वतमं स्वल्पं हि

\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ४, २१८० ) दृश्यम् । ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ पुरस्तादिहैव ६ कण्डिकायां ( १५६ ८० ) दृश्यम् ।

‘मनुष्यायुषं’ मनुष्यजीवितम् ; अतो देवलोकमनुष्यलोकसंस्त-  
तयोराहवनीयगार्हपत्ययोस्तादृङ् मन्त्रसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ॥

गार्हपत्यचयने सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वभावित्व  
मनूय स्वीति — “स पूर्वा इति । तथा निवयने कारण  
माह — “रेतो वै सिकता इति । ‘अस्मात्’ सिकतारूपात्  
‘रेतसः’ ‘अधि’ उपरि ‘इमाः’ परिश्रितो ‘विक्रियान्ते’ विशिष्ट-  
रूपाः कृता भवेयुः । अन्यथा हि निरूपादानत्वात् परिश्रितां  
विक्रिया न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वत्वे दोषं दर्शयति —  
“तदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘आहुः’ चोदयन्ति ब्रह्म-  
वादिनः । योनौ हि रेतः सिध्यते , परिश्रितश्च योनिःसंस्तुताः ;  
तथा सति ‘अस्य’ अग्नेः ‘एतत्’ सिकतारूपं ‘रेतः’ ‘अपरासितं’  
आधारादन्यत्र सिक्तम् ; परिश्रिद्रूपयोन्यभावात् कथं परिगृहीतं  
परिवेष्टितं भवतीत्यस्य चोदयस्य परिहार माह — “उर्ध्वं वा  
जघा इति । ‘गर्भस्यान्तर्वेष्टनं मुखं , तत्संस्तुता जघाः ; तेषां  
पूर्वनिवपनात् तदनन्तरम् न्युप्तं सिकतारूपं ‘रेतः’ ; तेनोर्ध्वेन  
‘अपरासितं’ गर्भाशयादन्यत्र सिक्तं ‘परिगृहीतं’ परिवेष्टितं  
च ‘भवति’ ।

आहवनीयचितौ तु सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिद्धिः  
परिश्रयणं मभिप्रेत्य तदभिमन्त्रणं विधत्ते — “अयाहवनीय इति\* ।  
गार्हपत्यचयनादाहवनीयचितौ वैलक्षण्यद्योतकः ‘अथ’-शब्दः । आह-  
वनीयचितौ सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिक्तञ्चकान् शर्करा-

परपर्यायां नृद्वपाषाण मभिमन्त्रयते— “चित्तः स्वेति \* मन्त्रेण ।

\* च्छ्रितं हि — “आह्वनीयपरिचितोऽभिमन्त्रयते चित्तः स्वेतीति† ।

परिचिद्विधिशेष मर्थवादवाक्यं प्रागान्नातम् ‡— “योनिर्यै परि-  
चित्”-इत्यादिक मतिदिशति— “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ परि-  
त्रयणस्य विधिशेष उक्तः ।

सिकतानिवपनं विधाय स्तूति— “अथ सिकतानिवपतीति ।

‘अथ’ परित्रयणानन्तरम् । “रेतो वा इत्याद्युक्तार्थः § ॥ ११ ॥

न्युमानां सिकतानां समन्त्रक मभिमर्शनं विधत्ते—

“अथाह्वनीय इति ॥ । आह्वनीयस्थाने न्युमाना मेव सिकता-

नाम् ‘आप्यायनवतोभ्यां’ आप्यायतिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्ताभ्याम् ,

• “आप्यायस्वसन्ते ॥”-इत्येताभ्या ऋग्भ्या मभिमर्शनं कर्त्तव्य

मित्यर्थः । अवधारणफल माह— “न गार्हपत्य इति । एतदेवो-

पपादयति— “अयं वा इत्यादिना । ‘अस्मिंल्लोके जातः’ ‘अयम्’

‘यजमानः’-इत्यय मर्थः । ‘अर्धः’ प्रत्यक्षसिद्धः , न यद्वसम्पाद्यः ।

‘स्वर्गे लोके एव’ हि ‘प्रजिजनयिषितव्यः’ प्रजनयितुं प्रकर्षणोत्पा-

दयितु मिष्टः , अतः स्वर्गलोकसंस्तुते ‘गार्हपत्ये’ तत्र स्वभावत एव

जातत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† का० औ० ख० १७. ३. ६ ख ।

‡ पुरस्तात् १५३ पृ० १५ पं० दृश्यम् ।

§ पूर्वलोकेव ६-कण्ठीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( १७० पृ० ) ।

॥ का० औ० ख० १७. ३. १६ ।

¶ वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

अथ लोकेष्टकना मुपधानं विधत्ते— “अथेति \* । तदेतत् प्रशंसति— “इमे वै लोका इति । ‘इमे’ खलु पृथिव्यादयस्त्रयो ‘लोकाः’ । ‘एषः’ एव खलु ‘अग्निः’ । लोकसंलुताभिस्तिसृभिः स्वयमाहृष्टाभिर्युक्तत्वात् लोकत एव सिद्धाः लोष्टरूपा इष्टका ‘लोकेष्टकाः’, परोक्षं ‘लोगेष्टका इत्युच्यन्ते † । तथाविधत्वं च तैत्तिरीये आम्नायते— “दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति , दिशा मेव वीर्यं भवद्ध्यै”—इति ‡ लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः तां लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन ‘एषु’ एव लोकेषु ता एव ‘दिशः’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘इमाः’ प्राच्यादि-‘दिशः’ ‘एषु लोकेषु’ दृश्यन्ते ॥ १३ ॥

वेदेर्बाह्यदेशेनेष्टकानां माहरणं विधाय स्तौति— “बाह्ये-  
नाग्निमिति । अग्निबाह्येन अग्निचेत्त्राह्यदेशेनेता इष्टकाः  
‘आहरति’ । “आप्ता वा इत्यादि । ‘अस्य’ अग्नेः यजमानस्य  
वा ‘ता दिशः’ ‘आप्ताः’ प्राप्ताः । ‘याः’ इमाः ‘एषु’ लोकेषु  
दृश्यन्ते । ‘अथ’ या ‘दिशः’ ‘इमान् लोकान्’ परेण एभ्यो लोकेभ्यो  
बहिर्वर्त्तन्ते , ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन बाह्यदेशादाहरणेन  
‘दधाति’ धारयति ॥ १४ ॥

आहरणस्याग्निचेत्त्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धः , वेद्यपेक्षयापि  
तथात्वं विधत्ते—“बहिर्वेदेरिति § । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो  
बहिराहरणम् , लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशा मासिहेतु-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ११. ।

† ‘लोगेष्टकाः ऋत्स्नखण्डानि’—इति कर्काचार्यः ।

‡ तै० सं० ५. २. ५. २० द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

रित्युक्तम् ; इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वात् अस्या बहिरवस्थिताः  
 • थावत्यो दिशः , तासां प्राप्त्यर्थं वेदिबाह्यदेशादाहरणं मित्यभिप्रे-  
 तोऽर्थः । “अथ या इमां परेणेति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘परेण’  
 परस्ताद् , बहिरित्यर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इति \* परशब्दा-  
 देनप् , “एनपा द्वितीया” † ॥ १५ ॥

विहितं लोकेष्टकोपधानं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति—  
 “यद्देवेति । ‘विस्त्रस्तस्य’ विस्त्रस्तावयवस्येत्यर्थः । ‘सर्वाः’ प्राच्यादि-  
 ‘दिशः’ अनु लक्ष्य तदीयो ‘रसः’ ‘व्यक्षरत्’ विविध मक्षरत् , ‘यत्’  
 यस्मिन् देशे ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ ‘समस्कुर्वन्’ चित्वा-  
 ग्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवायेऽपीति ‡ कात् पूर्वः  
 षुट् , तत्र ‘अस्मिन्’ अग्न्यात्मके प्रजापतौ ‘एताभिर्लोकेष्टकाभिः  
 तं रसम्’ ‘अदधुः’ स्थापितवन्तः । एव मेव ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘अयं’  
 यजमानोऽपि ‘एतद्’ रसं ‘दधाति’ धारयति , लोकेष्टकोपधा-  
 नेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

आहरणस्याग्निबाह्यत्वं मनूय स्तौति— . “बाह्येनेति ।  
 पूर्ववदेनप् § , अत एव ‘अग्निम्’ इति द्वितीया ॥ ; अग्नेर्बाह्यदेशे-  
 नेत्यर्थः । “आप्तो वा अस्येत्यादि । “आप्ता वा अस्य ता दिश  
 इत्यादिवद् ¶ व्याख्येयः । “इमान् लोकान् पराङ् रस इति ।  
 ‘इमान्’ पृथिव्यादिलोकान् विहाय परागतो रस इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* पा० छ० ५. ३. ३५ ।

† पा० छ० २. ३. ३१ ।

‡ पा० ६. १. १४० छ० १ वा० ।

§ , ॥ इहेव पूर्वत्र (\* , †) टीप्पण्यौ द्रष्टव्ये ।

¶ इहेव पूर्वत्र १७४ ए० द्रष्टव्यम् ।

बहिर्वेदेरित्येतदपि अनूय पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरस-  
स्वापनं हेतुत्वेन स्वीति — “बहिर्वेदेरिति । आहरतीति शेषः ।  
एतदपि पूर्ववद् व्याख्यातमायम् \* । “इमां पराङ् इति ।  
इमा मतिक्रम्य परागतो रसः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इत्थं लोकेष्टकानां माहरणे अग्नेर्वेदेश बाह्यो देशो विहितः ,  
अथ तत्र साधनं विधाय स्वीति — “स्मेनेति । “वज्रो वै स्फ्रा  
इति, त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फ्रास्य वज्रात्मकता । तथाहि  
तैत्तिरीयकम् — “इन्द्रो वज्राय वज्रं प्राहरत् , स त्रेधा व्यभवत् ,  
स्फ्रास्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयं मिति † । वज्रासुरवधहेतुत्वात्  
स वज्रो वोर्यात्मकः । ‘इयं’ वेदिलक्षणा भूमिः ‘वित्तिः’ लब्धव्या  
धनरूपा , तथा च स्फ्रेनाहरन् वज्ररूपेण ‘वोर्येण’ एव ‘वित्तिं’  
लब्धव्यां भूमिं ‘विन्दते’ लभते ॥ १९ ॥

अथ पूर्वस्मादिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते — “स पुरस्ता-  
दाहरतीति ‡ । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्याः दिशः सकाशात्लोकेष्टकां स्मेन  
‘आहरति’ । पञ्चमर्थे अस्तातिः § । “मा मा हिंसीदिति ॥ तन्मन्त्रः ।  
‘यः पृथिव्याः’ ‘जनिता’ जनयिता ‘स मां’ ‘मा हिंसीत्’ मा  
वधिष्ट । य इति सर्वनाम्ना कृत्स्नजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापति-  
रेव प्रतिपाद्यते इत्याह — “प्रजापतिर्वा इति । ‘पृथिव्यै’-इति  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । ‘जनिता’ जनयिता “जनिता मन्त्रे”-

\* इहैव पुरस्तात् १५ क० भाष्यं ( १७४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ५. २. ६. ४१ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ११ ।

§ पा० सू० ५. ३. २७ ।

॥ वा० सं० १२. १०२ ।      ¶ पा० सू० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

इति \* । निपातनाद्विलोपः । उक्तं मर्थं योजयति — “मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतदिति ।

द्वितीयपादं मनूय तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थं माह — “यो वा दिव मिति । ‘सत्यधर्मा’ सत्य मवितथं धर्मं साधारण-शक्तिर्यस्य तादृशो ‘यः’ ‘दिवं’ ‘व्यानट्’ व्याप्नोत् । व्यापनं तत्र सृजनं मेवेत्याह — “असृजतेत्येतदिति । “मनुष्या वा इत्यादि । ‘चन्द्राः’, ‘आज्ञादिकाः’, ‘आपः’ रेतोरूपाः । अनेन च कारण-वाचिशब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्त इत्यर्थः । अत एव छान्दोग्ये समाज्जातम् — “पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति † । पर्यवसितं मर्थं माह — “मनुष्यान् प्रथम इति । सर्वप्रान्णिभ्यः पूर्वं मुत्पन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः । अत एवा-ज्जातम् — “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताम इति ‡ ।

चतुर्थपादं मनूय तत्र ‘किं’-शब्दस्यार्थं माह — “प्रजापतिर्वै क इति । निरुक्तानिरुक्तरूपत्वेनानिर्द्धारितस्वरूपत्वात् किं-शब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः । एवभूतो यः ‘तस्मै देवाय’ “क्रियाग्रहणं मुपि कर्त्तव्य मिति § कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । तं देवं ‘हविषा’ ‘विधेम’ परिचरेमेति, विदधातिः परिचरणार्थः ॥

एव माहुताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते — “ता माहुत्येति । परिश्रित्वज्ज्ञाना मुपहितानां शर्कराणां मभ्यन्तरदेशे आत्मनि ता मुपदध्यात् स्थापयेत् । तस्य प्रयोजनं

\* पा० ६. ४. ५३ नू० ।

† छा० उप० ५. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १३. ४ ।

§ पा० १. ४. ३२ सू० १ वा० ।



माह— “स य इति । ‘स यः’ प्रसिद्धो यो ‘रसः’ विस्त्रस्तात् प्रजापतिशरीरात् ‘प्राच्यां दिशि’ ‘अत्यक्षरत्’ अतिक्रम्य सृतोऽभवत्, एतेनोपधानेन, ‘तम्’ एव रसम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतिरूपेऽस्मी पुनः स्थापयति । ‘अथो’ अपि च ‘प्राची’ दिक्काम्बन्धात्ता मेव दिशम् ‘अस्मिन्’ स्थापितवान् भवति ॥ २० ॥

दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ दक्षिणत इति । पञ्चम्यर्थं तसिः \* । आहरतीति शेषः । अथ वा पूर्वदिग्भागात् यत् आहरणम्, तदनन्तरं दक्षिणस्यां दिशः सकाशात् लोकेष्टका ‘माहरतीत्यर्थः । “अभ्यावर्त्तस्वेति † तस्मन्त्रः । पूर्वाहस्य निगदव्याख्यातत्वं माह— “यथैव यजुस्तथा बभ्रुरिति । यजुर्वीक्यं यथैव श्रूयते, तादृगेव तद्व्याख्यायकं ब्राह्मणवाक्यम् ; अतः स्पष्टार्थत्वाच्च पृथग् व्याख्यायत इत्यर्थः ।

उत्तरार्धे मनूय तत्र वपाशब्दस्यार्थं माह— “यद्वै किञ्चेति । अस्यां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद् वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सा एव ‘अस्ये’ ‘वपा’ विधेया । चेति नपुंसकलिङ्गार्थो निर्देशः ‡ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । अयं मर्थः— हे पृथिवि ! ‘यज्ञेन’ यागसाधनेन ‘पयसा’ पयोलक्षणेन ‘रवेन’ सह अस्मदभिमुखं मावर्त्तस्व । ‘इषितः’ प्रेरितो दीप्तोऽयं मग्निः त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपम् ‘आरोहति’ अधितिष्ठति । आहुतायास्तस्याः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—

\* पा० सू० ५. ३. ७ ।

† वा० खं १२. १०३ ।

‡ ‘चेति पुंलिङ्गनिर्देशः’— इति ज-पाठः ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० वा० ।

“ता माहृत्येति । ‘तां’ लोकेष्टकां दक्षिणदिग्भागाद् बह्विर्वेदेः  
 ‘आहृत्य’ पक्षसन्धि मन्तरेण’ दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः  
 सन्धिप्रदेशः , तस्याभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि  
 पूर्ववद्रसस्थापनं दिक्स्थापनञ्चात्र कृतं भवतीत्याह— “स यो  
 दक्षिणाया मिति ॥ २१ ॥

प्रतीक्षां दिशि समन्तकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—  
 “अथ पश्चादिति \* । ‘अथ’ अनन्तरं प्रतीक्षाः दिशः सकाशात्  
 स्फेान लोकेष्टका माहरतीति शेषः । तन्मन्त्रः— “अग्ने यस्त  
 इति † । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेव अग्नेदोपचारे-  
 णोच्यत इत्याह— “इयं वा अग्निरिति । ‘अस्यै’ पृथिव्यै ।  
 नादर्थ्यं चतुर्थी । पूर्वावर्त्तेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थं मित्यर्थः । तृतीय-  
 पादं मनूय देवशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “तदस्मै देवा-  
 येति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दस्यार्थः । चिति-  
 रूपप्रत्ययभेदापेक्षया बहुवचनं मित्यभिप्रायः ॥

‘अर्थस्तु— हे पृथिवि ! त्वदीयं यत् ‘शुक्रं’ रसद्रदङ्गम् , यच्च  
 ‘चन्द्रम्’ आह्लादकरम् , तथा ‘पूतं’ शुद्धम् , ‘यन्त्रियं’ यन्मार्हञ्च  
 यदस्ति , ‘तत्’ ‘अस्मै’ अग्न्याख्याय देवाय ‘कर्मणे’ आहराम  
 इति । ‘तां’ लोकेष्टकाम् ‘आहृत्य’ इत्यादि पूर्ववत् ‡ । “पुच्छ-  
 सन्धि मिति । पश्चात्कारस्य चित्वाग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः  
 सन्धिः , ‘तम्’ अन्तरेण’ तस्य मध्ये ‘आत्मन्’ आत्मनि । अन्यद्  
 गतार्थम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

† वा० सं० १२. १०४ ।

‡ एतत्पूर्वकङ्क्षीभाष्यं ( १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

साक्षात्पश्चादाहरणं निषेधति—“स न सम्प्रतीति । ‘सः’  
 अर्ह्युः, ‘सम्प्रति’ सुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशात्  
 ‘नाहरेत्’ । निषेधुरभिप्राय माह— “नेदन्नपथादिति ।  
 यज्ञस्य पत्न्याः यज्ञपथः, अग्नेः पाषाणो देशो हविर्दानादिः ; ततः सकाशात् नैव \* रस माहराणीति । यदि  
 खलु तादृग्विधात्साक्षात्पश्चाद्भागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्ब-  
 धिनो विस्त्रस्तारसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः  
 स्यादित्यभिप्रायः । कथं तर्हि तत्राहरणं मित्यत आह— “इत  
 इवेति । ‘इतः’ प्रतीच्या दिश ‘इव’, न तु साक्षात् प्रतीच्या दिशः,  
 उत्तरापरस्या दिश आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन—  
 “उत्तरापरस्याः पथादिति ॥ २२ ॥

उत्तरस्या दिश आहरणं विधत्ते— “अथोत्तरत इति ।  
 आहरतीति शेषः । “इष मूर्जं मित्याहरणमन्त्रः ‡ । ‘आदम्’  
 -इतिक्रियापदस्यार्थं माह— “आदद इत्येतदिति । मतसा  
 यथार्थं सङ्कल्पनम् ‘ऋतम्’, यथार्थभाषणं ‘सत्यम्’ । अत्र तु  
 “ऋतस्य योनिम्”—इति § मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित  
 इत्यभिप्रेत्याह— “सत्यं वा ऋत मिति । “महिषस्य धारा  
 मिति । महिषशब्दस्यार्थं माह— “अग्निर्वै महिष इति । कथं  
 मस्य महिषशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निवृत्ते—“स ह्रीदं जात इति ।  
 ‘सः’ खल्वग्निः ‘इदम्’ इदानीं ‘जातः’ जातमात्र एव ‘महान्’

\* ‘नेदृ’—इति च-पाठः ।

† का० औ० ख० १७. ३. १२ ।

‡ वा० सं० १२. १०५ ।

§ वा० सं० १२. १०५ ख ।

अतिरिक्तो\* भूत्वा 'सर्वं' जगत् 'ऐशात्' व्याप्नोत्, अतो महत्त्वा-  
 . देषिष्ठत्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्पन्न इत्यर्थः । "ऐशात्"—  
 इति "इष आभोऽश्वे"—इत्यस्मात्तद्ध १ । तृतीयं पादं मनूय तत्र  
 तनूशब्दस्यार्थं मभिधाय योजयति— "आ मेति । तनूष्विति  
 बहुवचनम् तेन बहुवचनोपेत आत्मा देह उच्यते । गतं मन्यत् ॥

मन्त्रार्थस्तु—'इषम्' इत्यमाण मन्त्रम् । 'जज्जं' बलकरं रसम् ।  
 'इतः' अस्या उदीच्या दिशः सकाशादइम् 'आददे' । किंविशि-  
 ष्टम् ? 'ऋतस्य' सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य 'योनिः' कारणम् ;  
 'महिषस्य' महतोऽग्नेः 'धारा' धाराप्रवाहभूता तद्वत्साधिताम् ।  
 ईदृशी च सा , मा मुद्दिश्य मदीयासु 'गोषु' 'तनूषु' शरीरेषु  
 'आविशतु'—इति चतुर्थेन पादेन सम्बन्धः ॥

तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते— "जहामीति ।  
 अत एवोक्तं कात्यायनेन— "उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि  
 सेदिमिति ‡ ।

मन्त्रस्यार्थं माह— "तद्यैवेति । 'तत्' तन्न 'यैव' खलु  
 'सेदिः' अवसादापरपर्याया हानिः , या च 'अनिरा' इरा  
 अन्नं तदभावरूपा पोडा , 'या' च 'अमोवा' रोगात्मिका ।  
 'ताम्' एतस्याम् उत्तरस्यां 'दिशि' एतन्मन्त्रकरणकेन सिकता-  
 प्रध्वंसनेन स्थापयति । इरादीनां तत आहतत्वादिति भावः ।  
 एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह— "तस्मादिति । यस्माद्  
 अवसादादीनि स्थापितानि , तस्मादेतस्या उत्तरस्यां दिशि

\* 'अविवेकी'—इति ङ , च ।

† क्र० प० ५३ धा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

सर्वाः 'प्रजाः' 'अशनायुकाः' अशनाया अशनेच्छा क्षुधा, तथा  
पीडिता अदृश्यन्त इत्यर्थः ॥

“ता माहृत्येत्यादि पूर्ववत् \* ॥ २३ ॥

अथैताः सभूय प्रशंसति— “ता एता दिश इति । ‘ताः’  
प्राच्यादिदिक्षु क्रमेणोपहिताः ‘एताः’ इष्टकाः ‘दिशः’ दिगा-  
त्मिकाः, ‘ताः’ सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आहृत्य ‘उपदधाति’ । तेन  
चोपधानेन ‘सर्वतः’ एव ‘दिशः’ ‘दधाति’ स्थापयति । ‘तस्मात्’  
एव कारणात् इदानीं सर्वतो दिशो दृश्यन्ते ।

धर्मविशेषं विधाय स्तौति— “सर्वतः समीचीरिति † ।  
सर्वासु दिक्षु ‘समीचीः’ सङ्गतदिगाभिमुख्यं गता उपदधाति,  
न तु तिर्यक्नेनेत्यर्थः । ‘तत्’ तेन ‘सर्वतः’ दिश एव ‘समीचीः’  
अनुचीनायाः स्थापयति । “तस्मादिति फलनिर्देशः । उप-  
धानादोनां पृथगनुष्ठानं विधत्ते— “ता नानोपदधातीति ।  
प्रतीष्टकं समन्त्रकं स्थापनं पृथगेव कर्तव्यम्, “तथा देवतयेति  
सादनं मपि पृथक्, “ता अस्थेति सूददोहसा मन्त्रेणाधिवदनं  
मपि पृथक् । तत्र कारणं साह— “नाना हीति । ‘हि’ यस्मात्  
‘दिशः’ परस्परं विभिन्नाः, अतो दिक्कंसुताना मय्यासां पृथ-  
गुपधानादिकं युक्तं मित्यर्थः । तस्मिन्नुपधाने स्थितिगुणं विधत्ते  
— “तिष्ठन्निति । ‘तिष्ठन्’, न तु आसीन इत्यर्थः । “तिष्ठन्तीव  
हि दिश इति । प्राच्याद्याः ‘दिशः’ अपि ‘हि’ ‘तिष्ठन्तीव’  
ऊर्ध्वाकारतया दृश्यमानाः स्थितियुक्ता इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः ।

\* २१-कण्ठीभाष्यं ( १७६ पृ०, १ पं० ) दृश्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १४ ।

‘अथो’ अपि च आसीनात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’ खलु ‘वीर्यवत्तरः’  
अधिकवीर्यवान् । इतोऽपि तिष्ठता उपधेया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथासां समन्वकत्व मनुष्य अग्निदेवस्यात्मभागे एवोपधानं  
प्रतिपादयति— “ता एता इति । “यजुश्चात् इति । करण-  
भूतेर्यजुर्मन्त्रैर्युक्ता इत्यर्थः । ‘ताः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि आत्मभागे  
एव ‘उपदधाति’ । अवधारणफल माह— “न पचेति । तत्र  
कारण माह— “आत्मन् ह्येवेति । आत्मभागे एव हि यजु-  
र्मन्त्रोपधेया वक्ष्यमाणा इष्टका उपधीयन्ते ; अत एवासा  
मुपधान मपि समन्वक मित्यात्मन्नेवेति नियमइय मुपपन्न  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथेतरैष्टकावदासां अपणाभावादशृतत्व माशङ्क्य निरस्यति  
— “तदाहुरिति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकेष्टकाः ‘कथं’ केन  
प्रकारेण ‘पक्वाः शृताः’ पाचनसंस्कारसंस्कृताः सुशृताः \* सत्य  
उपहिताः ‘भवन्ति’-इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । ‘रसो वा एताः’-  
इति अस्योत्तरम् । विघ्नस्तस्य प्रजापतिशरीरस्य रसरूपाः खल्वेता  
इष्टकाः ‘स्वयं शृताः’ खलु , अग्न्यादिपाकानपेक्षः खलु रसः ।  
परिहारान्तरं माह— “अथो इति । ‘अथो’-शब्दः पक्षान्तर-  
द्योतने । एव एव हि चित्तोऽग्निः जीव्यो † भूत्वा विश्वनरसम्बन्धी  
वर्त्तते , ‘यत्’ किञ्चिदव्यामद्रव्यम् ‘एत मग्निं वैश्वानरं’ प्राप्नोति ,  
‘तत एव’ तस्मादेव संसर्गात् ‘तत्’ सर्वं ‘पक्वं शृतं’ पाकेन  
संस्कृतं सुशृतं ‘तत्’ तत्र ‘उपहितं भवति’ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

\* पक्षमेतत् छ-पुस्तकमाने दृश्यते

† ‘आथो’-इति छ-पाठः ।

चोदकप्राप्तं सुत्तरवेदिनिवपनं यस्मिन् काले कर्त्तव्यं मिति विधत्ते— “अथेति । लोकेष्टकोपधानानन्तर्यं मथशब्दार्थः । एतदुपपादयति— “इयं वा इत्यादिना । ‘इयं’ भूमिरिव महावेदिः, उत्तरवेदिसु द्युलोकात्मिका, लोकेष्टकात्मिका दिशः । एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं द्यावापृथिव्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति । ‘तस्मात्’ कारणादिदानो मनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशोऽलक्ष्यन्त इत्यर्थः । उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते— “तां युगमात्रो मिति । षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम् ; उक्तं ह्यापस्तम्बेन— “अष्टाशीलिशत मीषातिर्यगच्चतुःशतम्, षडशीतिर्युगं वास्येति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रां सुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, ‘चत्वारिंशत्पदां वेति परिमाणान्तरम् । चत्वारिंशत्पदानि प्रमाणं मस्याः सा तथोक्ता । अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘कामयेत’ तथा कुर्यादित्यर्थः ॥

सिकतानिवपनं विधत्ते— “अथेति \* । उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः “अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः”—इत्यादिः † प्रागान्नात इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्य निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ता उत्तरवेदाविति । अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रौत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकतां निवपति । “योनिर्वा उत्तरवेदिरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ७ भा० ४८० ) दृश्यम् ।

निखिलयांगोत्पत्तिकारणाहवनीयस्थानत्वात् 'उत्तरवेदिः' अपि  
 'योनिः'; अत एवाग्निप्रणयनीयास्त्वान्नायते \*—“जर्णावन्त प्रथमः  
 सीद योनि, मिति † । 'तत्' तेन उत्तरवेदौ सिकतानां निवपनेन  
 'योनी' एव 'रितः' सिक्तं भवतीत्यर्थः । 'यत्' खलु 'योनी'  
 गर्भाशये रितः 'सिच्यते', 'तत्' 'प्रजनिष्णु' प्रजननशीलम्,  
 उत्पत्तिमद् 'भवति' ॥

अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिः सर्वं  
 मिति । 'तत्' तेन प्रच्छादनेन 'सर्वस्मिन्नेव' आत्मनि 'रितः'  
 'देधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एवं कारणात् 'सर्वस्मादेव'  
 हस्तपादादिसर्वावयवसहितात् 'आत्मनः' देहात् 'रितः' 'सम्भवति'  
 उत्पद्यते । अतएव मन्त्रवर्णः—

• “अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे”—इति ‡ ॥ २८ ॥

अस्मिन्निवपने “अग्ने तवेति. षडृचं सूक्तं § करणत्वेन विधत्ते—  
 “अग्ने तव अवो वय इतीति ॥ । तत्र अव इति पदस्याभिप्रेत मर्थ  
 माह—“धूमो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः 'अवः' अवणहेतुः  
 'वयः' स्वरूपं 'धूमो वै' धूमः खलु । एतदुपपादयति—“स ह्येन  
 मिति । 'एनम्' अग्निम् 'अमुष्मिन्' स्वर्गे 'लोके' 'सः' खलु धूमः  
 'आयदति' प्रस्थापयति ; आकाशि धूमं दृष्ट्वा यागार्थं मन्त्रय  
 आहिता इति द्युलोकावर्त्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः । अतोऽन्त-

\* ऐ० ब्रा० १. ५. २ ।

† ऋ० सं० ६. १५. १६ (ख) ।

‡ सा० वे० म० ब्रा० १५. ५ख. १६म ।

§ वा. सं० १२. ३०६—१११ ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ३. १५ ।



र्भावित्स्वर्यात् शृणोतिः आवयत्यनेनेति करणे अपि सति \* प्रत्यये  
अव इति रूपं भवति ।

द्वितीयं पादं मनूय तत्रत्यं पदद्वयं व्याचष्टे— “महि  
भ्राजन्त इति । महत्प्रातिपदिकस्य अच्छब्दलोपे सति महीति  
सप्तम्यन्तं पदम् । अत्र “सुपां सुलुक्”—इति † व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थो  
वर्तत इति व्याचष्टे— “महतो भ्राजन्त इति । ‘विभा’-  
शब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम् , अत्र तु भूयस्त्व मेव तेन शब्देन  
विवक्षित मित्याह— “प्रभूवसवित्येतदिति ।

तृतीयपादं मनूय श्वसेत्यस्य बलं मर्थः , ‘वाज’-शब्दस्य  
चात्र मर्थ इत्याह— “बलं वै श्व इति ।

चतुर्थपादं मनूय दाशुष इति पदस्यार्थं माह— “यजमानो  
वै दाश्वानिति । “दाशु दाने”—इत्यस्मात् ‡ कसौ “दाश्वान्  
साह्वान्”—इति § निपातनाद् दत्तवानित्यर्थो भवति । स चात्र  
प्रकरणाद् यजमान एवेत्यभिप्रायः ॥

ऋगर्थसु,— हे ‘अग्ने !’ ‘तव’ सम्बन्धो ‘श्वः’ धूमः आहुति-  
परिणामरूपत्वाद् ‘वयः’ देवाना मन्त्रम् । हे ‘विभावसो’ प्रभूत-  
धनाग्ने ! ‘महि’ महत्स्तव ‘अर्चयः’ अर्चोषि ‘भ्राजन्ते’ दीप्यन्ते ।  
किञ्च हे ‘बृहद्भानो’ महादीप्ते ! हे ‘कवे’ क्रान्तदर्शिन् !  
‘श्वसा’ बलेन सहितम् ‘उकथ्यम्’ उक्त्याहं प्रशस्यं ‘वाजम्’ अश्वं  
‘दाशुषे’ दत्तवते यजमानाय ‘दधासि’ प्रयच्छसीति ॥ २८ ॥

\* “ऋदोरप्”—पा० सू० ३. ३. ५७ ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ आ० उ० ८८२ धा० ।

§ पा० सू० ६. १. १९ ।

॥ वा० सं १९. १०६ ।

द्वितीया सृच मध्येव मेव \* पादशो व्याचष्टे— “पावकवर्चाः  
इति † । ‘एषः’ अग्निः ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’  
शुक्लवर्णतेजस्क इत्येतदुभयं प्रसिद्धम् ; अतो न पृथग् व्याख्येय  
मिति ‘हि’-शब्दार्थः । उदियर्षीत्यस्यार्थः माह— “उद्दीप्यस  
इति । अग्नेरुद्गमनं नामोद्बुज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यस्मि-  
न्मर्थे पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः । तृतीयपादार्थोऽपि प्रसिद्ध इति  
‘हि’-शब्देनैव व्याचष्टे— “पुत्रो ह्येष इति । चतुर्थपाद मनूय  
व्याचष्टे— “इमे वा इति । ‘इमे’ खलु ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘रोदसी’-  
शब्देन वाच्ये ‡ ‘एषः’ अग्निस्ते ‘उभे’ ‘पृणक्ति’ संयुक्ते करोति ।  
केन किं मिति तदाह— “धूमेनेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्त्त-  
मानोऽयं मग्निः ‘धूमेन’ उदगच्छता ‘अमूं’ दिवं पृणक्ति ; आहुति-  
द्वारा जनितया ‘वृद्ध्या’ च ‘इमां’ पृथिवीं संयोजयति ॥

मन्त्रार्थस्तु— ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’  
निर्मलदीप्तिः, ‘अनूवर्चाः’ न्यूनतारहिततेजस्कश्च सन्, हे अग्ने !  
त्वं ‘भानुना’ तेजसा ‘उदियर्षि’ उद्गच्छसि, उद्दीप्यसे, द्यावा-  
पृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः ‘पुत्रः’ भूत्वा ‘मातरौ’ सकल-  
भूतानां निर्मात्रगौ द्यावापृथिव्यौ ‘विचरन्’ उपावसि समीपगतो  
रक्षसि । यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति,  
तद्वत् । रक्षणप्रकारोऽभिधीयते— ‘उभे’ ‘रोदसी’ द्यावापृथिव्यौ  
क्रमात् धूमेन वृद्ध्या च ‘पृणक्षि’ संयोजयसि । “पृची सम्पर्के”—  
इति § धातुः ॥ ३० ॥

\* ‘नृच मनूय ता मेव’—इति ङ-पाठः ।

† वा० खं० १२. १०७ ।

‡ निघ० ३. ३०. ४ ।

§ ङ० प० २५ धा०

तृतीया सृचं व्याचष्टे—“जर्जोनिपादित्वादिना \* । सुशस्तिमि-  
रिति पदं व्याचष्टे— “सुष्टुतिभिरित्येतदिति । द्वितीयतृतीययोः  
पादयोः ‘मन्दस्व’-‘भूरि’-शब्दावनुवादेन व्याख्यातौ । चतुर्थ-  
पादसु निगदसिद्ध इत्याह— “यथैव यजुरिति ॥

ऋगर्थसु— हे ‘जातवेदः’ जातानां वेदितः ! हे ‘जर्जो-  
नपात्’ बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः ! , पौत्र ! वा ,  
‘सुशस्तिभिः’ सुष्टुतिभिः अस्मत्प्रयुक्ताभिः दृष्टो भूत्वा ‘हितः’  
निहितस्त्वं ‘धीतिभिः’ कर्मभिः , प्रभाभिर्वा ‘मन्दस्व’ दीप्यस्व ।  
‘त्वे’ त्वयि खलु ‘इषः’ द्रव्यमाणान्यन्नानि ‘सन्दधुः’ संहितानि  
बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते— ‘भूरिर्वर्षसः’-इति । “वर्षः”-इति  
रूपनाम † । बहुरूपाः , ‘चित्रोत्तयः’ विचित्ररक्षणोपेताः , ‘वाम-  
जाताः’ प्रशस्तजननोपेताः ॥ ३१ ॥

चतुर्थी सृच मनूय व्याचष्टे— “इरज्यन्नम् इति ‡ । “मनुष्या  
वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति  
जन्तवोऽत्र मनुष्याः ; न तु क्रिमिकीटादय इत्यर्थः । “इरज्यतिः §”  
कण्डूदिर्दीप्तिकर्मेत्यभिप्रेत्याह— “दीप्यमान इति । द्वितीयपादे  
‘रैः ॥’-शब्द-स्यार्थ माह— “रयिं दधदिति । तृतीयपादार्थः प्रसिद्ध  
इति ‘हि’-शब्देन व्याचष्टे— “दर्शतस्य ह्येष इति । चतुर्थपादे

\* वा० सं० १२. १०८ ।

† निघ० ३. ७. ३ ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ कण्डू० ६ घा० ।

॥ ‘रायः’-इति ङ-पाठः , ‘रयि’-इति क्-पाठः ।

‘सानसि’-शब्दः सनातनपर्याय इति \* च व्याचष्टे— “सनातनं  
• क्रतुं मित्येतदिति ॥

अगर्घसु — हे ‘अग्ने’ । ‘जन्तुभिः’ प्रशस्तजनेर्मनुष्यैर्ऋत्विग्भिः  
‘इरण्यन्’ दीप्यमानः सन् ‘प्रथयस्व’ । स्वार्थिको णिच् । प्रथयस्व ,  
विस्तीर्णी भव । हे ‘अमर्त्य’ मरणरहितान्ने ! त्वत्प्रसादात् ‘अग्ने’  
अमाकं ‘रायः’ धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु “अग्ने रयिं  
‘दधदित्यर्थतो व्याख्यानम् ॥’ । तथाविधः ‘सः’ त्वं ‘दर्शतस्य’ ‘दर्श-  
नीयस्य’ वपुषः’ ज्वालारूपस्य शरीरस्य शोभातिशयेन ‘विराजसि’  
विशेषेण ‘दीप्यसे’, तथा ‘सानसिं’ सनातनं नित्यफलविषयं ‘क्रतुं’  
यजमानसङ्कल्पं ‘पृणन्ति’ फलेन संयोजयसीति ॥ ३२ ॥

• पञ्चमी सूचं व्याचष्टे—“इष्कर्त्तार मिति ‡ । उपसर्गस्यादिलोप-  
• ऽहान्दसः । निष्कर्त्तारम् । तथैव तैत्तिरीयैरान्नायते § । ‘अध्वरस्य’  
यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्ता निष्कर्त्ता । तथैव यज्ञस्य प्रकल्पयिते-  
त्यर्थः सिद्धातीत्याह— “अध्वरो वा इति । द्वितीयपादे राधसो  
मह इति षष्ठ्यन्तयोः सप्तम्यर्थता माह— “राधसि महतीति ।  
तृतीयपादे ‘महि’-इतिशब्दस्य ‘महती’-शब्दपर्यायता माह—  
“महती मिष मित्येतदिति ॥

अथ मर्थः— ‘इष्कर्त्तारं’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्तारम् , अत  
एव प्रकष्टज्ञानवन्तम् । ‘राधः’-इति धननाम ॥ । ‘महति’ प्रभूते

\* उण० ४ पा० १०६ सू० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् १६१ ए० ७ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १२. ११० ।

§ तै० सं० ४. २. ७. १० द्रष्टव्यम् ।

॥ निघ० २. १० १७ ।

‘राधसि’ धने विषये ‘क्षयन्ते’ । “क्षयतिरैश्वर्यकर्मा” \* । ईश्वर-  
त्वेन सन्तम् , ममेति शेषः । स त्वं ‘वामस्य’ वननीयस्य धनस्य  
‘रातिं’ दानं ‘सुभगां’ शोभनां ‘महतीं’ महतीम् ‘इषम्’ इष्य-  
माणं मन्त्रं च ‘सानसि’ सनातनं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं ‘रयिं’  
च यजमानाय ‘दधासि’ धारयसीति ॥ ३३ ॥

षष्ठी मृच मनुष्य पादशो व्याचष्टे — “ऋतावान मिति † ।  
यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वाद्  
भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह — “सत्यावान  
मित्येतदिति । “अग्निर्वै महिष इति । “स ह्रीदं जातो महा-  
न्त्सर्वं मैष्णगदिति ‡ तन्नामनिर्वचनस्य प्रागान्नातत्वादिति भावः ।  
सर्वैर्दर्शनीयत्वं मस्य प्रसिद्धं मतो न पृथग् व्याख्यातव्यं मित्यभिप्रे-  
त्याह — “विश्वदर्शतो ह्येष इति । “यज्ञो वै सुक्न मिति ।  
यद्यपि सुखवाची ‘सुक्न’-शब्दः §, तथाप्यत्र प्रकरणात्तत्साधनो  
यज्ञ एव तस्यार्थः । उत्तरार्द्धे मनुष्य शुक्लर्णपदं व्याचष्टे —  
“आशृण्वन्त मिति । श्रवणशीलकर्णोपेतम् , आ समन्तात्  
शृण्वन्त मिति यावत् । ‘गिरा’-इतिविशिष्टसाधनश्रवणात्  
योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति — “मनुष्या हवामह इत्येत-  
दिति ॥

ऋतार्थसु — सत्यवन्तं , महान्तं , सर्वेषां दर्शनीयम् , एव-  
भूत मग्निम् , ऋत्विग्यजमानलक्षणाः ‘जनाः’ ‘सुक्नाय’ सुखसाध-

\* निघ० २. २१. ३ ।

† वा० सं० १२. १११ ।

‡ पुरस्तात् १५७ पृ० १२ प्र०, ततः १८० पृ० १७ पं० ।

§ निघ० ३. ६. १६ ।

नाय यज्ञाय 'पुरो दधिरे' पुरस्तुर्वन्ति, वय मपि 'शुक्लार्णम्'  
 'अमिमतफलप्रार्थनं सम्पक् शुक्लन्तं', 'सप्रथस्तमम्' अतिशयित-  
 कीर्तिवन्तं, 'दैव्यं' स्वार्थिकस्तद्धितः, देवं 'त्वा' त्वां 'गिरा'  
 सुतिरूपया वाचा 'हवामहे' आह्वयामः । कर्त्तारो विशे-  
 षन्ते— "मानुषेति । 'मानुषाणि' मनोः सम्बन्धीनि 'युगा'  
 युगानि, युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या  
 इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

इत्थं सिकतानिवपने करणभूतं षडृचं व्याख्याय तस्य वैश्वान-  
 नसम्बन्धात्मकतां प्रतिपादयन् स्तौति— "स एष इति । यत्  
 'एतत् षडृचं' सूक्तम्, 'एषः' साक्षात् 'वैश्वानरोऽग्निरेव', तथा-  
 धिदृष्ट्याग्नेः 'आरम्भाय' उत्पादनाय 'एव' हि 'इमाः सिकताः  
 न्युप्यन्ते'; तस्माद्वैश्वानरात्मकेन सूक्तेन तन्निवपनात् 'वैश्वानरं'  
 तम् अग्निं 'रेतोभूतं' रेतोरूपेणावस्थितम्, एतस्मिंश्चेष्टमाणि अग्नौ  
 'सिञ्चति' प्रक्षिपति । षडृचकरणकत्वं मनूय तत् सङ्ख्या-  
 हारेण स्तौति— "षडृचेति \* । न्युप्यत इति शेषः । "संवत्सरो  
 वैश्वानर इति । संवत्सरधारणेन जायमानत्वात् वैश्वानराग्नेः  
 संवत्सरात्मकतां ॥ ३५ ॥

सिकतानां रेतस्त्वे तत्साम्यं भवश्यं वर्णनीय मिति प्रश्न-  
 पूर्वकं तदाह— "तदाहुरिति । यदीमाः सिकता रेतःसंस्तुताः,  
 तत्रावश्यं तत्साधर्म्यं वक्तव्यम्,— 'किं' तदासां सिकतानां सम्बन्धि  
 'रेतोरूपं' रेतःसम्बन्धी धर्मविशेष इति प्रश्नार्थः । "शुक्ला इत्या-  
 द्युत्तरम् । शैल मासां रेतसश्च तादात्म्यहेतुः साधारणो धर्मः ;

अथ मेकस्तादात्म्यहेतुः । ‘अथो’ अपि च ‘पृथग्यः’ सूक्ष्मपरिमाण-  
विन्दुरूपा हि सिकताः, ‘रेतोऽपि हि’ ‘पृथग्वि’ सिकतोपमैः  
सूक्ष्मपरिमाणविन्दुभिर्युक्तं मिव भवति ; अथ मपरस्तादात्म्य-  
हेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वाद्वै रेतः, शुष्काः सिकताः, कथं मासा मार्द्रत्वलक्षणं  
रेतोऽर्थं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं तत् प्रतिपादयति— “तदाहुरिति ।  
“कथं मस्येता इति । ‘अस्य’ वैश्वानरस्याग्नेः ‘एताः’ सिकताः  
‘कथं मार्द्राः’ सत्यो ‘रेतोरूपं’ रेतसः सम्बन्धि चार्द्रत्वलक्षणं  
स्वरूपं ‘भवन्तीति’ प्रश्नः । “रसो वा इत्याद्युत्तरम् । गायत्र्या-  
दीनि हि ‘छन्दांसि’ ‘रसः’ ; सारवत्त्वात् । रसस्य चार्द्रत्वं मन्यन्  
प्रसिद्धं मित्याह— “चार्द्रं च वा इति । ततः किं मित्याह  
— “तदयदेना इति । अस्मिन् षड्रचे गायत्र्यादीनां सप्तानां  
छन्दसा मन्तर्भावोऽग्रे प्रतिपादयिष्यते \* ; ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’  
यस्माद् ‘एनाः’ † सिकताः शब्दरसात्मकैः ‘छन्दोभिर्निर्वपति’,  
ततः ‘एवम्’ अनेन प्रकारेण खलु ‘अस्य’ सम्बन्धिन्यः सिकताः  
‘चार्द्राः’ सत्यः रेतःस्वरूपं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सिकतानां शुक्ललक्षणरूपद्वयं स्तोतुं पृच्छति— “तदाहु-  
रिति । ननु चित्योऽग्निः संवत्सरात्मकः, संवत्सरस्याहोरात्रा-  
त्मकः, तत्समुदायरूपत्वात् ; अतः सिकतोपधानं मय्यहो-  
रात्राभ्यां करणभूताभ्यां निष्पादनीयम्, तत् कथं मुपपद्यत  
इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । “हे वा इति परिहारः । ‘हे’ एव हि

\* इहैव परस्तात् ४१ क खी ( मूलानु—१६४८० १५० )-द्रष्टव्यम् ।

† ‘एताः’—इति सर्वेटीकापुस्तकपाठः, मूलपुस्तके तु मद्दृष्टेयं  
सर्वेज्येव ‘एनाः’—इति ।

‘अहोरात्रे’ पर्यावर्त्तमाने ; तत्र ‘शुक्लम्’ अहः , ‘कृष्णं’ रात्रिः ; सिकता अपि शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधाः ; अतस्तद्वर्णयोगादेतासां सुपधानम् ‘अहोरात्राभ्याम्’ एव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थं वर्णतोऽहोरात्रसाम्यं सुक्तम् , अथ सङ्ग्रासम्पत्तिरपि कथं मित्याशङ्कापूर्वकं प्रतिपादयति— “तदाङ्कुरिति । संवत्सर-सम्बन्धिभिः ‘अहोरात्रैः’ समानसङ्ग्राकाः , न्यूनाधिकसङ्ग्राहरहिताः कथम् ‘उपहिता भवन्तीति’ प्रश्नः । “अनन्तानि वा”—इत्युत्तरम् । संवत्सराणां मानव्यात् तदवयवा अहोरात्रा अप्यनन्ताः । यद्यपि “रात्राङ्गाहाः पुंसि”—इति \* पुष्पिङ्गेन भवितव्यम् , तथापि “हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि”—इति † निपातनास्तिङ्गाद् बहुवचुनान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता । “एव सु हास्वेत्यादि स्पष्टम् ॥ . अथैतदुपधानकरणस्य षड्वचस्य यच्छन्दस्तस्य समुद्रिय मिति नाम कस्मान्निमित्तादिति पृच्छति— “अथ कस्मादिति । तन्निमित्तं भावः—“अनन्तो वा इति । ‘अनन्तः’ अन्तरहितः ; समाप्तिरहितः खल्वयम् समुद्रो जलनिधिः , सिकताश्चानन्ताः ; परिगणनानर्हत्वात् । अतस्तासां सुपधानमन्त्रसम्बन्धिनश्छन्दसोऽपि अन्तराहित्यात् समुद्रसाम्यात् समुद्रे भवं समुद्रिय मिति व्युत्पत्त्या तन्नामधेयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वनन्तानां सिकतानां सुपधानम् पृथक् पृथक् कथं समन्त्रकं स्यादिति पृच्छति— “तदाङ्कुरिति । “मनो वा इत्याद्युत्तरम् । मन एव हि सर्वासां सिकतानां साधारणं यजुः ; तदुच्चारणहेतुत्वात् मनसो यजुश्चम् । ‘तदिदं’ मनो-

\* पा० सू० २. ४. २६ ।

† पा० मू० २. ४. २८ ।



रूपं 'यजुः' सर्वाः सिकताः 'अनुः'-लक्ष्य 'विभवति' प्रत्येकं व्याप्तुं शक्नोति । अनेनैव हि प्रकारेण 'अस्य' चित्यस्याम्नेः 'एताः' सर्वाः सिकताः 'पृथक् नाना' 'यजुर्भिः' विभिन्नैः यजुर्मन्त्रैः 'उपहिता भवन्ति' ॥ ४० ॥

अपि एतस्मिन् षडृचे समानां छन्दसा मन्तर्भावप्रदर्शनाय स्तौति— "तदाहुरित्यादिना । 'एताः' सिकताः 'सर्वैः' गायत्र्यादिभिः सप्तभिः 'छन्दोभिः' 'कथं सुपहिता भवन्ति' । "अग्ने तव श्रवः"—इत्यादीनां षष्ठा मृचां \* प्रतिनियतैकच्छन्दोरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रश्नः । "यदेवैना इत्युत्तरम् । 'यत्' यत एव कारणात् 'एताः' 'एतेन' षडृचेन सूक्तेन 'निवपति', तेनैताः सर्वे छन्दोभिरुपहिता भवन्ति' ।

कथं मिति चेत्, उच्यते— गायत्र्यादीनां जगत्पन्थानां समानां छन्दसां यावन्त्यक्षराणि मिलित्वा सम्पद्यन्ते, तावन्त्येतस्य षडृचस्याक्षराणि भवन्ति । तथाहि,— गायत्री 'चतुर्विंशत्यक्षरा', उष्णिगष्टाविंशत्यक्षरा, अनुष्टुभो द्वात्रिंशदक्षराणि, बृहत्याः षड्विंशदक्षराणि, पङ्केषत्वार्विंशत्, चतुष्टत्वारिंशत् त्रिष्टुभः, अष्टाचत्वारिंशज्जगत्याः ; तानि च सम्भूय द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

अस्मिन् षडृचे प्रथमा चत्वारिंशदक्षरा, द्वितीया एकचत्वारिंशत्, तृतीया चतुर्थी च चत्वारिंशदक्षरा, पञ्चमी-षष्ठ्योः द्विचत्वारिंशदक्षराणि ; एवं पञ्चचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति । अन्यानि सप्ताक्षराणि क्षैप्रसंयोगविभागेन

द्रष्टव्यानि । एवं सप्तच्छन्दांस्यक्षरसङ्ख्याद्वारेणाग्निं षड्रुचे अन्तर्भवन्ति । “एव मु हास्येति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४१ ॥

उत्सन्नयज्ञभागस्य पुनराहरणार्थत्वेन सिकतानिवपनं स्तौति—  
“यद्देवेति । ‘एषः’ चित्योऽग्निः विराडात्मकः ‘प्रजापतिः’ । ‘सर्वं’  
निरवशेष मेव कृत्स्नं ‘ब्रह्म’ मन्त्रजातम् , स ‘प्रजापतिः’ । ‘तत्’  
तथा सति तस्य ब्रह्मणो यदेतत् ‘उत्सन्नं’ विशेषं स्वरूपम् ,  
तत् सिकतात्मना परिणतम् । ‘अथ ‘यत्’ तु ‘अनुत्सन्नम्’ अवि-  
नष्टं ब्रह्मणो रूपं चीयमानाग्निरूपम् । ‘तत्’ ततोऽनेन सिक-  
तानिवपनेन ‘ब्रह्मण उत्सन्नम्’ एव रूपं पुनः अग्निं प्रजापत्या-  
त्मकेऽग्नौ सन्धातीति ॥

• तूसा मपरिमितत्व मनूय स्तौति— “ता असङ्ख्याता इति ।  
‘तद्ब्रह्मण उत्सन्नं’ रूपम् , यत् परिमाणविशिष्ट मिति , तत् को  
नाम जानीयात् ? अनस्तासा मपरिमितत्वम् ; अपरिमित-  
स्त्रोत्सन्नरूपस्य प्राप्तौ सम्प्रदात इत्यर्थः ॥

विद्वदनुष्ठानं प्रशंसति— “स ह वा इति । ‘सर्वं’ निरवशेषम् ,  
‘कृत्स्नं’ सर्वावयवसहितम् । स्पष्ट मन्यत् ॥ ४२ ॥

अपरिमिताना मध्येनासां सङ्ख्याविशेषप्रदर्शनेन स्तुतिशिकी-  
र्षिता , तदर्थं पृच्छति — “तदाहुरिति । ‘असङ्ख्यातानाम्’  
अपरिमितानाम् ‘आसां’ सम्बन्धिनी सङ्ख्या कीदृशेति प्रश्नः ।  
चतुर्धा सङ्ख्यासङ्गावं प्रशंसति— “हे इत्यादिना । शुक्लकणात्मना  
हैराश्यादपरिमितानां सिकतानां हित्वम् । “सप्तविंशतिशतानीति ।  
सिकताना महोराचरूपता प्रागुक्ता \* । संवत्सरसम्बन्धिना

मङ्गां रात्रीणाञ्च परिगणने सति विंशत्यधिकानि सप्तशतानि भवन्ति ; अतस्तदात्मिकानां सिकताना मपि सैव सङ्ख्या भवतीत्यर्थः । “इं दापञ्चाशे शते इति । द्विपञ्चाशदधिकद्विशत-सङ्ख्याया सङ्खेयाः सिकता इति ब्रूयात् । तदुपधानमन्त्रस्य षड्वचस्य तावत्सङ्ख्याकाक्षरोपेतत्वात् तेषा मक्षराणां सिकतानाञ्च तादात्म्य मित्यर्थः ।

“अथो पञ्चविंशतिरिति । पञ्चविंशतिसङ्ख्याया सङ्खेयाः सिकताः कुत इत्यत आह — “पञ्चविंशं हीति । शरीरं हि प्रकृतिमहदादि-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकम् , तत उत्पन्नं ‘रेतः’ पञ्चविंशं पञ्चविंशति-सङ्ख्यापूरकम् \* , रेतःसंलुताश्च सिकताः ; अतः पञ्चविंशति-सङ्ख्याकत्वं तासां प्रतिपत्तव्य मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकेष्टकावत् सिकताना मध्यात्मभागे एवोपधानं विधत्ते — “ता एता इति । इदं मपि लोकेष्टकाप्रकरणस्थवाक्य-वद् व्याख्येयम् † । सिकताना मपीष्टकात्वादितरेष्टकास्त्रिव प्रसक्तं सादनं निषेधति — “न सादयतीति । “तया देवतयेति ‡ मन्त्रेण स्थापनं सादनम् , तन्न कर्त्तव्यम् । निषेधकारण माह — “नेद्रेत इति । प्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’ शुक्रम् , नैव कचिदेव ‘स्थाप-यानि’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण ; सादने हि तत् कचिदेव प्रतिष्ठितं स्यात् , न तु चलितं सत् गर्भाशये प्रविशेदिति भावः ॥ ४४ ॥

अथ समन्त्रक - मेतासा मभिमर्शनं विधत्ते — “अथैता

\* शरीरमित्याद्येतदन्तं नानाऽशुद्धपाठसमन्वित मिदं वाक्यं च-पुस्तके ।

† पुरस्तादिहैव २२-कण्ठीभाष्ये मारभ्य दृश्यम् ( १७६ पृ० ) । का० औ० सू० १७. ३. ११, १२ द्रष्टव्ये ।

‡ वा० सं० १२. २ । का० औ० सू० १७. १. १२ ।

इति । 'आप्यायनवतीभ्यां' आप्यायनक्रियाप्रतिपादकः शब्दः ,  
 आप्यायनम् , उपचारात् ; तद्वतीभ्यां "आप्यायस्व"—"सन्ते"—  
 इत्येताभ्यम् \* । "इद मेवैतदिति । 'इद मेवैतत्' सिकतात्मकं ,  
 रूपं 'सित्तं रेतः' 'आप्यायति' धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्श-  
 नेनाप्यायन्ति प्रवर्धयति । यत् एवम् यज्ञे , तस्मादेव स्त्रीणां  
 'योनौ' पुरुषैः 'सित्तं रेतः' 'आप्यायते' शरीराकारेण परिणतं  
 सद्ब्रूते । मन्त्रसम्बन्धिदेवतादारेण प्रशंसति— "सौमीभ्या मिति ।  
 सोमोऽनयोर्देवता "सास्य देवतेत्यर्थे सोमात् अण् † "टिङ्गाण-  
 जिति ‡ डीप् । ऋग्भ्या मभिमृशतौति शेषः § ॥

"प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम् ;  
 "अपोमयः प्राणः"—इति श्रुतेः॥ । तथाच सोमोऽपि अमृतमयरसा-  
 त्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । 'तत्' तेन सौमीभ्या मभि-  
 मर्शनेन सिकतात्मके सित्ते रेतसि सोमात्मकं प्राण मेव स्थापयति ।  
 "तस्मात्"—इत्यादिना लोकस्थितिनिरूपणम् । यस्माद्वैदिके कर्मणि  
 रेतसि प्राणः स्थापितः , तस्मादेव कारणात् प्राण मभिलक्ष्य  
 प्राणसहित मेव गर्भाशये 'सित्तं रेतः' 'सम्भवति' शरीराकारेण  
 परिणमते । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते , तत् पूयेदेव , न शरीरा-  
 कारेण सम्पद्यत इत्यर्थः । एव मेवैतरेयकैषास्मात्— "न ह वा

\* वा० ख० १२. ११२, ११३ ।

† पा० छ० ४. २. २४ ।

‡ का० श्रौ० छ० १७. ३. १६ ।

§ पा० छ० ४. १. १५ ।

॥ छा० उप० ६. ५. ४ ।

ऋते प्राणाद्रेतः सिच्यते , यदा ऋते प्राणाद्रेतः सिच्यते ,  
सम्भवेदिति ।

अस्वाभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदा-  
त्मकता माह— “एषो हैवात्रेति । यत् सोमोभ्या मभिमर्शनम् ,  
‘एषा’ वा ‘अत्र’ सिकतोपधाने ‘सूददोहाः’ “ता अस्य सूददोहस  
इति \* मन्त्रकरणक मधिवदनम् ॥

कथं मन्त्रस्यान्यात्मतेत्यत आह— “प्राणो वा इति । अभि-  
मर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसस्य प्राणात्मकत्वसाम्या-  
दित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रथमा सृच मनूयाप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे— “आप्याय-  
स्वेति । “रेतो वै वृष्ण्य मिति । वृषा सेचनसमर्थो युवा , तत्र भवं  
वृष्ण्य मिति व्युत्पत्तेः वृष्ण्यशब्देन रेतः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥

पदार्थं मुक्त्वा वाक्यार्थं योजयति— “सर्वतः सोम रेत इत्येत-  
दिति । “अन्नं वै वाज इति । वाजशब्दस्य “वज ब्रज गतौ” †  
—इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वात् अत्र च तत्प्रतिपादकत्वा-  
योगात् रुद्ध्वा वाजशब्देनान्नं मुच्यत इत्यर्थः । अत एव वाज-  
शब्दोऽन्ननामसु पठ्यते— “अन्नः वाजः पयः”—इति ‡ । हे सोम !  
त्वम् ‘आप्यायस्व’ वर्धस्व , अस्मान् वर्धय वा । त्वदीयं ‘वृष्ण्यं’  
वृषसम्बन्धि ‘रेतः’ इमं मग्निं ‘विश्वतः’ सर्वतः ‘समेतु’ प्राप्नोतु ।  
अन्नस्य सङ्गमनाय त्वं मस्माकं भवेति मन्त्रार्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५५ । का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† भा० प० २५२, २५३ धा० ।

‡ निघ० २. ७. २ ।

द्वितीया माध्यायनवती मनुद्याप्रसिद्धार्थानि पदानि व्याचष्टे—  
 “सन्ते पयांसोति \* । अत्र पयःशब्दो रसपरः , वाज्रशब्दोऽन्नपरः ,  
 तथा चायु मर्थ इत्याह— “सन्ते रसा इति । द्वितीयाहं ‘अभि-  
 माति’-शब्देन पाप्मोच्यत इत्याह— “पाप्मसह इत्येतदिति ।  
 तृतीयपादे ‘अमृता’-शब्दस्याभिप्राय माह— “प्रजात्या मिति ।  
 पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया  
 ‘अमृता’ , “माध्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन तस्यां प्रजा-  
 त्या ममृतत्वं स्थापयति । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘प्रजातिः’  
 प्रजोत्पत्तिः ‘अमृता’ मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी  
 वर्तते इत्यर्थः । चतुर्थपादे ‘अवः’-शब्दस्यार्थ माह— “चन्द्र-  
 मात्वा अस्य दिवि अव इति । ‘अस्य’ ( अधियज्ञं † ) लता-  
 रूपेण वर्तमानस्य सोमस्य ‘दिवि’ द्युलोके ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
 ‘अवः’ नाम चन्द्रमा एवोच्यते । कथं मस्य अवःशब्दाभिधेयमेतति  
 तत् प्रतिपादयति— “स ह्येन मिति । ‘अमुष्मिन्’ स्वर्गे लोके  
 ‘सः’ खलु ‘चन्द्रमाः’ ‘एनं’ सोमम् अमृतात्मना गीयमानः सन्  
 ‘आवयति’ प्रस्थापयति , अतः आवयितृत्वात् अवःशब्देन स  
 उच्यत इत्यर्थः ॥

मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषज्ञानूद्य ‘तस्य’ स्तावको वाक्यशेषः  
 प्रागान्नात इत्याह— “दाभ्या मिति । “द्विपाद्यजमान इत्यादि-  
 द्वित्वसङ्ख्यासुतिः ॥ ४६ ॥

लोकेष्टकादिसङ्ख्यां सम्भूय स्तीति—“अथातः सम्पदेवेति । स्यष्टो-

\* वा० खं १२. ११३ ।

† च-पुस्तके एषोऽधिकः पाठः ।

ऽर्थः । “यावानग्निरित्वादि । प्रागुक्तोऽर्थः \* ॥ ४७ ॥ ३ [३.१.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

आप्यानवतीभ्या मभिमृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन  
प्रचरत्यातिथ्येन प्रचर्य प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचरति  
प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचर्याथैतां चूर्मणि चितिं समवश-  
मयन्ति तद्यच्चूर्मणि चूर्म वै रूपं रूपाणा मुपाप्मा  
लोमतो लोम वै रूपं रूपाणा मुपाप्मा रोहिते  
रोहिते ह सर्व्वाणि रूपाणि सर्वेषां रूपाणा  
मुपाप्मा ऽमानडुहे ऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणा  
मुपाप्मा प्राचीनग्रीवे तद्धि देवता † ॥ १ ॥

तदुपेयं महर्हपत्यम् । अन्तर्व्वेद्युत्तरलोम प्रा-  
चीनग्रीव मुपस्तृणाति तदेतां चितिं समवशम-

\* पुरस्तात् ११८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† ‘देवता’—इति ग, च

यन्त्यथ प्रोक्षति तद्यत् प्रोक्षति शुद्धं मेवैतन्मेध्यं करो-  
 त्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यं मयो ऽभ्यनभ्यारोहाय न  
 हि किञ्चनान्यद्विराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीं मुनि-  
 रुक्तां वै तद्यत् तूष्णीं स्रुवं वा ऽभ्यनिरुक्तां स्रुवं-  
 यैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽभ्यनभ्यारोहाय न हि  
 किञ्चनान्यद्विस्तूष्णीं प्रोक्षन्ति ॥ २ ॥

यदेव प्रोक्षति । हविर्वा. ऽएतत् तदेतदभि-  
 धारयति यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिधारितं तज्जुष्टं  
 तन्मेध्यं माज्येनाज्येन हि हविरभिधारयन्ति तूष्णीं  
 तूष्णीं हि हविरभिधारयन्ति दर्भैस्ते हि शुद्धा  
 मेध्या अग्रेयं हि देवानाम् ॥ ३ ॥

तदाहुः । यत् प्रथमा मेव चित्तिं प्रोक्षति  
 कथं मुखैष स्रुर्वोऽग्निः प्रोक्षितो भवति कथं चर्मणि  
 प्रणीतः कथं मश्वप्रणीत इति यदेवात्र स्रुर्वासां  
 चित्तीना मिष्टकाः प्रोक्षत्येव सु हास्यैष स्रुर्वोऽग्निः  
 प्रोक्षितो भवत्येवं चर्मणि प्रणीत एव मश्वप्रणीत  
 उद्यच्छत्येतां चित्तिम् ॥ ४ ॥

अथाहान्निभ्यः प्रक्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति । एतद्वै



देवानुपप्रेष्यत् एतं यज्ञं तत्स्यमानान् रुक्षांसि  
नाष्टा अजिघांसन् \* यज्यध्वे न यज्ञं तत्स्यध्व  
ऽद्विति तेभ्य एतानग्नीनेता द्रष्टका व्यजान् चुर-  
पवीन् कृत्वा प्राहरंस्तैरेनानस्तृणवत तान्स्तृत्वाभये  
ऽनाष्ट एतं यज्ञं मतन्वत ॥ ५ ॥

तद्वा एतत् क्रियते । यदेवा अकुर्वन्निदं  
नु तानि रुक्षांसि देवैरेवोपहतानि † यत् त्वेतत्  
करोति यदेवा अकुर्वंस्तत् करवाणीत्यथो यदेव रुक्षो  
ऽः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता द्रष्टका व्यजान्  
चुरपवीन् कृत्वा प्रहरति तैरेनान्स्तृणते ता-  
न्स्तृत्वाभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं तनुते ॥ ६ ॥

तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदे-  
ताश्चितयोऽथ यत् प्रक्रियमाणेभ्य इति प्र हि  
हरति ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽन्वाहुः । पुरोष्यासो ऽश्मनयः प्राव-  
णेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्या-

\* 'अजिघांसन्'—इति क ।

† 'देवैरेवोपहतानि'—इति क, ख

दाम्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयाद् ता व्यत्सो  
मनो यमस्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाम्निः प्रियेषु धाम-  
स्त्रिति ॥ ८ ॥

आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणा मुपाप्ल्यै काम-  
वतीः कामाना मुपाप्ल्यै गायत्रीर्गायत्रीऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद्रेतो भूतः  
सिञ्चति तिस्रस्त्रिषुदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद्रेतो भूतः सिञ्चति ताः सप्त सम्प-  
द्यन्ते सह विरनूक्ताभ्याः सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-  
ऽर्त्तवः संवत्सुरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावत् तद् भवत्युपाः श्वन्वाह रेतो वा  
ऽश्वत्र यज्ञ उपाः श्व वै रेतः सिञ्चते पश्चादनु-  
ब्रुवन्नन्वेति कुन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति  
॥ ९ ॥

अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा  
अविभयुर्यद्वै न ब्रूह रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्यु-  
रिति त एतं व्यञ्ज मपश्यन्न मु मेवादित्य मसौ वा  
ऽर्त्तादित्य एषो ऽश्वस्त एतेन व्यञ्जेण पुरस्ताद्

रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समा-  
 श्रुवत तथैवैतद्यजमान एतेन व्युज्येण पुरस्ताद्-  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समश्रुत  
 ऽआगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चिति मुपनिद-  
 धत्युत्तरतोऽश्व माक्रमयन्ति ॥ १० ॥

तु मुत्तरार्द्धेनाग्नेः \* । अन्तरेण परिश्रितः प्राञ्चं  
 नयन्ति तत् प्राच्यै दिशः पाप्मानं मुपहन्ति तं  
 दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मानं मुपहन्ति तं  
 प्रत्यञ्चं तत् प्रतीच्यै दिशः पाप्मानं मुपहन्ति तं  
 मुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः पाप्मानं मुपहन्ति सर्वाभ्य  
 एवैतद्विगम्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेन मुदञ्चं  
 प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चितिं मवघ्रापयत्यसौ  
 वा ऽआदित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या  
 इमा इष्टकास्तद्यदवघ्रापयत्यसावेव तदादित्य इमाः  
 प्रजा अभिजिघ्रति तस्मादु हैतत् सर्वोऽस्मीति  
 मन्यते प्रजापतेर्वीर्येण तद्यत् प्रत्यञ्चं यन्तं मवघ्रा-

पयति प्रत्यङ् द्यैवैष युग्निमाः सर्वाः प्रजा अभि-  
जिघ्रति ॥ १२ ॥

यद्देवावग्रापयति । असौ वा ऽआदित्य एषो-  
ऽश्व इमं ऽउ लोका एताः स्वयमादत्तास्तद्यदव-  
ग्रापयत्यसावेव तदादित्य इमांलोकान्त्सूत्रे समाव-  
यते तद्यत् तत् सूत्र मुपरि तस्य बन्धुः ॥ १३ ॥

यद्देवावग्रापयति । अग्निर्देवेभ्य \* उदक्रामत्सो-  
ऽपः प्राविशत्तेदेवाः प्रजापति मब्रुवंस्त्वमिमं मन्विच्छ  
स तुभ्यः स्वाय पितृ ऽआविर्भविष्यतीति तमश्वः  
शुक्रो भूत्वान्वैच्छत् मङ्गा उपोदासम् पुष्करपर्णे  
विविद तं मभ्यवेक्ष्वाञ्चक्रे स हैनमुदवोष तस्मा-  
दश्वः शुक्र उदुष्ट मुख इवाथो ह दुरक्षो भावुकस्तु  
सु वा ऽकृत्वैव हिंसित्वैव मेने तं होवाच व्वरं  
ते ददामीति ॥ १४ ॥

स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छाद्विन्दा-  
देव त्वा स इति स यो हैन मेतेन रूपेणान्विच्छति  
व्विन्दति हैनं व्वित्त्वा हैवैनं चिनुते ॥ १५ ॥

स शुक्लः स्यात् । तद्योतस्य रूपं य एषं तपति  
यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादश्वस्त्वेव स्याद्य-  
द्यश्वं न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादाम्नेयो वा ऽअनङ्गा-  
नङ्गिरु सर्व्वेषां पाप्मना मपहन्ता \* ॥ १६ ॥

अथातोऽधिरोहणस्यैव † । त एवैके पुरस्तात्  
प्रत्यञ्च मधिरोहन्ति पश्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्  
पशुरेष यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मधि-  
रोहति विषाणाभ्यां त एव हन्यथ यः पश्चात् प्राञ्चं  
पद्भ्यां त मात्मनैवैन मारोहेद्यं वा ऽआत्मना पशु-  
मारोहन्ति स पारयति ‡ स न हिनस्त्युत्तरतो य ए  
हि कुञ्च पशुमारोहन्त्युत्तरत एवैन मारोहन्त्या-  
रुद्धाग्नि मौत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीत  
ऽआत्मन्नग्निं गृह्णीत्वा सत्य एव साम गायति पुष्कर-  
पर्णं मुपदधाति तस्यातः § ॥ १७ ॥

अथैत एव साये भतेऽश्वं परिणयन्ति । एतद्वै

\* 'मपहन्ता'—इति ग, घ ।

† 'अथातोऽधिरोहणस्यैव'—इति ग, घ ।

‡ 'मारयति'—इति क ।

§ 'तस्यातः'—इति क । 'तस्यातः'—इति ग, घ ।

देवा अबिभयुर्यद्वै न इमं मिह रुक्षाऽसि नाष्ट्रा  
न हन्युरिति तस्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं मकु-  
र्व्वन्नमु मेवादित्य मसौ वा ऽआदित्य एषोऽश्वस्तथै-  
वास्मा ऽअथ मेतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति ॥ १८ ॥

तं वा ऽउपास्तमय मादित्यस्य परिणयति । एष  
वा ऽअस्य प्रत्युच्चं दिवा गोप्ता भवति रात्रि सा  
च यान्यु वै रुक्षाऽसि रात्या एवास्मा ऽएतं वृच्च  
मभिगोप्तारं करोति सर्व्वतः परिणयति सर्व्वतः  
एवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्यः  
परिणयति त्रिवृत मेवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं  
कशेत्यथैन मुदच्चं प्राच्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुरथ  
स पुनर्व्विपुल्ययते तस्योपरि बन्धुः ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३. २.] ॥

एव माहवनीयदेशस्य संस्कारसमनन्तरं कर्त्तव्यं प्राक्तनं  
प्रयोगजातं मनुक्तामयितुं प्रागुक्तयोः \* आग्निकसौक्तिकयोः  
कर्मणोर्व्यतिषष्टं दर्शयति †— “आध्यानवतीभ्या मित्वादिना ।  
‘प्रत्येत्य’ उत्तरवेदिदेशात् प्राग्वंशम् प्रत्यागत्येत्यर्थः । अन्यत्

\* ‘प्रागुक्त’—इति ऊ, छ, ज ।

† ‘दर्शयितुं’—इति ऊ, छ, ज ।

निगदव्याख्यातम् । प्रथमं प्रवर्ग्योपसदन्तं कर्त्तव्यं मिति समुदायार्थः ॥

अनन्तरं मान्निकस्य कर्मणः प्रवेशं दर्शयति— “अथैता मिति । ‘अथ’-शब्दः प्रथमोपसदानन्तर्ये । आनडुहं लोहिते ‘चर्मणि’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचित्त्वर्थं मिष्टकासमूहं ‘समव-  
शमयन्ति’ सम्यग् घृतावोक्षणेन तप्ताना मिष्टकानां शमनं कुर्युरित्यर्थः । तस्य चर्माधिकरणतां स्तौति— “तद्यच्चर्मणि चर्मं वै रूप मिति । चर्मसम्बन्धिनां \* लोम्नां नानावर्णोपेतत्वाद् अष्टगादीना मान्तरधातूनां त्वचाच्छादने सति रूपकरणत्वेन चर्मणो रूपात्मकता, अतश्च तस्मिन्मिष्टकानिधानं सर्वेषां रूपाणां प्राप्तेः सम्पद्यत इत्यर्थः । तच्च लोमप्रदेशे कर्त्तव्य मिति विधाय स्तौति— “लोमत इति । ‘चितिं समवश-  
मयन्ति’-इत्यनुषङ्गः । लौहित्यगुणं चर्मणो विधाय स्तौति †— “रोहित इति । एतत् सर्वं कात्यायनेनापि सूत्रितम्— “आतिथ्यशेषमथोपसदः कृत्वा रोहिते चर्मस्थानडुहेऽन्तःपात्यस्य पुरस्तादिष्टकाः करोति प्रथमचित्तेरिति ‡ । लोहितवर्णेषु लोमसु मूलमध्यायभेदेन शुक्लादीनि सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्त इत्यर्थः ॥

चर्मणोऽनडुहिकारतां विधाय स्तौति— “आनडुह इति । अनो वह्नतोत्यनड्वान्, तथाविधस्य बलीवर्द्धस्याग्निरूपत्वं प्रागान्जातम्

\* ‘चर्मसम्बन्धिनां’-इति ड ।

† लोमत इत्यारभ्य स्तौतीत्येतदन्तः पाठो न दृश्यते ॥ पुस्तकादन्वयः ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १७ ।

—“अग्निदंश्च मिव वा अस्य वहं भवतीति \* । “अग्निरूपाणा  
मिति । चित्स्थान्नेः सम्बन्धीनि यानि रूपाणि , तेषां मध्येऽन-  
ड्वानप्येकं रूपम् ; अतस्तत्सम्बन्धिनश्चर्मण आस्तरणेन तेषां मग्नि-  
रूपाणां मुक्तवक्ष्यमाणानां कारत्वेन प्राप्त्यर्थं सम्प्रदात इत्यर्थः ।  
स्तरणे प्रकारविशेषं विधत्ते— “प्राचीनग्रीवे इति । प्राचीना  
प्रागायता ग्रीवा यस्य तत्तथोक्तम् , एतच्च विधेयविशेषणम् , चर्मणः  
प्राचीनग्रीवता यथा भवति तथा स्तृणीयादित्यर्थः । “तद्वि-  
देवत्वेति । ‘तद्वि’ प्राग्दिव्यसम्बन्धित्वं ‘देवत्वा’ देवेषु योग्यम् ;  
तस्याः दिशो देवैरात्मीयत्वेन स्वीकृतत्वात् । अत एव हि तैत्ति-  
रीयके श्रूयते—“देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा इति † ।  
देवत्वेति “देवमनुष्येत्यादिना ‡ सप्तम्यर्थे वा-प्रत्ययः ॥ १ ॥

• उदीरितलक्षणस्य चर्मणो देशविशेषे स्तरणं विधत्ते— “तदग्ने-  
णेति । ‘गार्हपत्य मग्नेण’ गार्हपत्यचितेरदूरेण पूर्वभागे महावेदि-  
मध्ये ‘तत्’ चर्म उदीरितविशेषणविशिष्टम् ‘उपस्तृणाति’ । ‘तत्’  
‘तत्र’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचितेः पर्याप्तमिष्टकासङ्गं § ‘समव-  
शमयन्ति’ संशान्तीणां ॥ कुर्युः । आज्येन प्रोक्षणं विधत्ते—  
“अथेति । औष्ण्यसंशमनानन्तरं तां चितिं माज्येन ‘प्रोक्षति’

\* पुरस्तात् ( ३६ पृ० ) १. १. २. ६ द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ६. १. १. १ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ५६ ।

§ ‘सङ्घातं’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘सौख्यं तौष्णीं’—इति छ-पाठः , वेबरदृष्टम् ।



प्रकर्षेण सिद्धति \* । तदेतदनूद्य स्वीति— “तद्यदिति । तस्मिन् प्रोक्षणे द्रव्यं विधत्ते— “आज्येनेति । प्रोक्षतीत्यनुपपन्नः । “तच्च शुद्ध मिति । ‘तत्’ खल्व्वाज्यं शुद्धम् ; “तेजो वै हृतं मित्वादि श्रुत्वा † तस्य तेजोरूपत्वप्रतिपादनात् पुरोडाशादिहविःशुद्धिहेतुत्वाच्च । अत एव ‘मेध्यं’ मेधार्हम् । ‘अथो’ अपि च ‘अनभ्यारोहय’ अभ्यारोहण मतिक्रमणम्, आज्येन प्रोक्षणे भवतिक्रमणाय श्रेष्ठाय सम्यद्यते । एतदेव दर्शयति— “न हीति । इष्टकाभ्योऽन्यत् चरपुरोडाशादिकं किं मपि हविर्न हि आज्यकरणकेन प्रोक्षणेन संस्क्रियते ; उदकेनैव हि तस्य प्रोक्षणम् ; अविलिखणेन तेजोरूपेणाज्येनेष्टकानां प्रोक्षणम्, चितेः पादसंस्पर्शविरहरूपानभ्यारोहणाय भवतीत्यर्थः । प्रोक्षणस्यामन्त्रकत्वं विधाय स्वीति— “तूष्णीं मिति । “अनिरुक्तं वद इत्यादि गतम् ‡ । न हि अन्यच्च तूष्णीं प्रोक्षणं मस्ति, अतस्तद्वैलक्षण्येनेष्टकाप्रोक्षणस्य सर्वात्मकानिरुक्तत्वसम्पादनं तस्य चिन्त्याग्नेरनतिक्रमणीयत्वाच्च कल्प्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथैनत् प्रोक्षणे मनूय हविष्टसम्पादनद्वारा स्वीति— “यद्देवेति । “हविर्वा इत्यादि यत्, तदिष्टकारूपं हविः खलु हविरिव देवानां ढसिकरम् ; अतस्तदेतदिष्टकारूपं हविः आज्यप्रोक्षणेन ‘अभिधारयति’ अभितो हृतधारया सिद्धति । तस्य प्रयोजनमाह— “यद्वा इति । ‘यत्’ खलु पुरोडाशादिकं ‘हविः’ अभितः सर्वतः

\* का० औ० सू० १७. ३. २० क ।

† ते० खं० २. २. ६. ७ ।

‡ पुरस्तात् १२४ पृ० ४ पं० ( ७. २. १. ३ ) द्रष्टव्यम् ।

आज्येन 'चंक्तं' सिक्तं 'यत्' च 'अभिधारितम्' उपरि द्रुतधारया  
 संस्कृतम्, 'तत्' 'लुष्टं' देवेः सेवितं योष्यम्, अत एव 'तत्' 'मेध्यम्'  
 यज्ञार्हम् । आज्यकरणकत्व मन्वस्य स्वीति—“आज्येनेति । इविषां  
 काकसमये सुशृतत्वे सति आज्येन खल्वभिघारणं क्रियते, अतो-  
 ऽकाप्याज्येन प्रोक्षणं युक्त मिति । अमन्वस्यत्वतः मन्वस्य स्वीति  
 —“तूष्णीं मिति । आज्यप्रोक्षणे करणविशेषं विधाय स्वीति—  
 “दभैरिति । दभैः करणभूतैराज्याभ्यक्तैस्तत् प्रोक्षणं कर्त्तव्य  
 मित्यर्थः । “ते हि शुद्धा इति । “ता हैता अनापूयिता आपो  
 यद्भर्मा इति \* श्रुतेस्तेषां शुद्धत्वम् । तत्राप्यग्नभागैः कर्त्तव्य मिति  
 विधायोपपादयति— “अग्नैरिति । “अयं हीति । दभैर्दु ह्यग्नभागो  
 देवानां सम्बन्धी ; अत एवान्यत्रान्नातम्— “यत् परपि दिवं  
 तद्देवानां, यदन्तरा तन्ननुष्णाणां, यत् समूहं तत् पितृणां  
 मिति † ॥ ३ ॥

प्रथमचितिप्रोक्षणसमये द्वितीयतृतीयादिचित्यर्धाना मिष्ट-  
 कानां प्रोक्षणं विधिस्तन् ‡ ब्रह्मवादिनां प्रश्न भवतारयति—  
 “तदाहु रिति । प्रथमा सेवेत्येवकारेण प्रोक्षणस्यान्ययोगव्यावृत्तिः  
 सूच्यते । एवं प्रथमचितेरेव प्रोक्षणात् सप्तचित्यात्मक एषो-  
 ऽग्निरस्य यजमानस्य कथं प्रोक्षितो भवति ? न ह्येकदेश-  
 प्रोक्षणे कृत्स्नोऽग्निः प्रोक्षणसंस्कारसंस्कृतो भवतीत्यर्थः ; तथा  
 प्रागुक्तानङ्गुष्मणि द्वितीयादिचित्तीनां प्रणयनं कथम् ? अस्त-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ( १भा० ६० पृ० ) द्रष्टव्यम्

† तै० ब्रा० १० ६० ८० ६० ७ ।

‡ 'विधित्युः'—इति च-पाठः ।

सहितं प्रणयनञ्च कथं सिध्यति ? इति त्रयः प्रश्नाः । अस्मिन्तर-  
माह— “यदैवात्रेति । ‘अत्र’ अस्मिन् समये ‘सर्वासां चितीनां’  
सम्बन्धिनीः ‘इष्टकाः’ आग्नेन दर्भाग्रैः ‘प्रोक्षति’ इति यदस्ति,  
‘एवम्’ एव अनेन प्रकारेणैव खलु ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एषः सर्वः’  
सप्तचितिकः ‘अग्निः’ ‘प्रोक्षितो भवति’ । एव मेव चर्माधि-  
करणकप्रणयनं मन्त्रसहितप्रणयनं चास्मादेव प्रोक्षणात् सिध्य-  
तीत्यर्थः । अथ चर्मण्यवस्थितानां प्रथमचित्यर्थानां मिष्टकानां  
मुदग्रहणं विधत्ते— “उदग्रच्छन्तीति । चर्मणः सकाशादिष्टका  
उदग्रद्वन्ति यजमानपरिचारकाः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयदेशं प्रति निनयनं विधिस्तुतदर्थं होतार  
मुद्दिश्याध्वर्योः सम्प्रैषवचनं विधत्ते— “अथाहेति । “अग्निभ्यः  
प्रक्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहि”—इति सम्प्रैष मध्वर्युर्ब्रूयात् । बहुवचनास्ते-  
नाग्निशब्देनाग्न्यवयवाक्षितयो विवक्षिताः \* । आहवनीयदेशं प्रति  
प्राचीनं क्रियमाणेभ्य इष्टकारूपेभ्योऽग्न्यवयवेभ्यः “हे होतरनु-  
ब्रूहि”—इति प्रैषार्थः † । तच्चानुवचनं होतुराश्वलायनेन दर्शि-  
तम्— “प्रेषितः पुरीषसञ्चितयेऽन्वाहेति प्रक्रम्य पुरीषासो  
अग्नय इति ‡ त्रिरूपांश्च सप्रणवा मिति । एतच्चाग्रे एकीय-  
मतत्वेनोपन्यस्य पञ्चान्तर मप्यान्नास्यते— “आग्नेयीरन्वाहेति § ।  
सम्प्रैषानन्तरम् प्रथमचित्यर्थानां मिष्टकानां पूर्वस्यां दिशि हरणं

\* का० औ० सू० १७. ३. २१ ।

† ‘सम्प्रैषार्थः’—इति च-पाठः ।

‡ वा० सं १२. ५० ।

§ पुरस्तादिहैव २०३ पृ० ४ पं० द्रष्टव्यम् ।

विधित्सुस्तदाख्यायिकया स्तौति— “एतद्दे देवानिति । ‘एतद्’  
 एतस्मिन् समये ‘रक्षांसि’ रक्षोरूपाः ‘नाष्टाः’ नाशकारिण्यः प्रजाः  
 ‘देवान्’ ‘प्रजिघांसन्’ हन्तुं मैच्छन् । कथञ्भूतान् ? ‘प्रैष्यतः’  
 प्राचीन माह्वनोयं देशं गन्तुं मुद्युक्तान् । ‘एतम्’ अग्निचयना-  
 त्मकं ‘यज्ञं’ ‘तंस्थमानान्’ विस्तारयिष्यमाणान् \* । जिघांसूना  
 भूमिप्राय माह — “न यज्यध्व इत्यादि । हे देवाः ! यूयं न  
 ‘यज्यध्वे’ यागं न करिष्यथ , तथा ‘यज्ञं’ ‘न तंस्थध्वे’ न विस्तार-  
 यिष्यथ † ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण एवं दृष्टाभिप्रायेभ्यः ‘तेभ्यः’  
 रक्षोभ्यः ‘एतान्’ चितिरूपान् ‘अग्नीन्’ ‘एताः’ तदवयवभूताः  
 ‘इष्टकाः’, द्वितीयावहुवचन मेतत् , ‘क्षुरपवीन्’ क्षुरवत्तीक्ष्णधारोपे-  
 तान् वज्रान् ‘कृत्वा’ ‘ग्राहणम्’ पूर्वादिदिगवस्थितानि तानि रक्षांसि  
 लक्ष्मीकृत्य प्रहृतवन्तः । ‘तैः’ इष्टकारूपैर्वज्रैः ‘एनान्’ असुरान्  
 ‘अस्तुष्वत’ अहिंसन् । ‘तान्’ ‘स्तृत्वा’ ‡ ‘अभये’ भयरहिते ‘अनादौ’  
 नाशरहिते § ‘एतं यज्ञम्’ ‘अतन्वत’ विस्तारितवन्तः ॥ ५ ॥

एव माख्यायिकया इष्टकाहरणस्य रक्षोन्निरसनहेतुता  
 मुक्ता प्रकृते योजयति— “तदा एतदिति । ‘तत्’ खलु ‘एतद्’  
 वैः कृत मिष्टकानां ग्रहणं मत्र ‘क्रियते’ यजमानैरनुष्ठीयते ।  
 किं पुनस्तदेतदित्याह— “यद्देवा इति । दैवैरेव रक्षसां  
 निरस्तत्वादिदानीन्तनयजमानकर्तृक मिष्टकानां ग्रहणं केवलं  
 तदनुकरणार्थं मित्याह— “इदं न्वित्यादिना । ‘इदं नु’ इदानीं

व ‘विस्तरिष्यमाणान्’—इति च-पाठः ।

† ‘विस्तारयथ’—इति च-पाठः ।

‡ ‘नाशकरहिते’—इति क-पाठः ।

खलु यज्ञविरोधौनि 'तानि रक्षांसि' 'देवैरेव' 'अपहृतानि' \*  
बाधितानि । अतो 'यद्' 'देवाः' 'पूर्वम् अकुर्वन्' 'तत्' इदानीं मह  
मपि 'करवाणीति' तदनुकरणं मेवेदानीन्तनेष्टकाप्रहरणस्य  
प्रयोजनं मित्यर्थः ॥

निरस्तसजातीनां रक्षसां पाप्मनाञ्च विद्यमानत्वात्तत्किरसन-  
हेतुत्वं मपि सम्भवतीति पक्षान्तरं माह— “अथो यदेवेति ।  
पक्षान्तरस्योक्तकोऽथोशब्दः । 'यदेव रक्षो यः पाप्मा' इति च  
जातावेकवचनम् ; “तेभ्य इति प्रतिनिर्देशबहुत्वस्य श्रुतत्वात् ।  
“तेभ्य एतानित्यादि , पूर्ववत् योज्यम् ।

अस्माच्चार्थवादादिष्टकाः पुरस्तादरेदिति विधिरुक्तेत्यर्थः † ॥ ६ ॥

स प्रैषं व्याचष्टे— “तद्यदग्निभ्य इति । ननु एक एव  
चित्योऽग्निः , कथं मस्य बहुत्व मित्याशङ्क्याह— “बहवो हीति ।  
सप्तचित्यभिप्रायेण बहुवचनम् । तासां मन्थेकदेशत्वादग्निशब्दा-  
भिधेयता ॥

“अथ यत् प्रक्रियमाणेभ्यः”—इति । पदं मनूय निर्वक्ति—  
“प्र हीति । 'हि' यस्मादध्वर्युरिमा इष्टकाः 'प्रहरति' पुरस्तादा-  
हवनीयदेशं प्रापयति , अतः प्राचीनं क्रियन्त इति प्रक्रिय-  
माणास्तेऽग्नय उच्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र होत्रानुवक्तव्या सृच मेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे— “त-  
च्चैक इति ‡ । 'तत्' तत्र खलु 'एके' केचन ऋक्शाखाध्यायिनः

\* 'अपहृतानि'—इति च बह्वैमूलपुस्तकपाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

“पुरीषासौ अग्नय इत्येता मृच मन्वाहुः \* , तत्र पुरीषशब्दस्य पशुपर्यायत्वात् पुरीषास इत्यस्य पशुशब्दास इति व्याख्यानम् ; पशुभ्यो हिता इत्यर्थः । “प्रावणेभिरिति । प्र शब्दोपेतं पदं सूचकं रूपं मित्यर्थः ॥

एतदेकीयं मतं प्रतिषिध्य स्वमतं माह— “न तथा कुर्या-  
दिति । ‘आग्नेयीः’ अग्निदेवताकाः , ‘कामवतीः’ कामशब्दो-  
पेताः , ‘गायत्रीः’ गायत्रीच्छन्दस्का एव ऋचः ‘अनुब्रूयात् †  
काः पुनस्ता इति ता आह— “आ ते वक्ष इत्यादिना ‡ ॥ ८ ॥

आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्वानूद्य स्तौति— “आग्नेयीरन्वा-  
हेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां रूपाणां  
मुपागमिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासां मृचां कामशब्दोपेत-  
त्वात् सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । “रेतोभूतं सिञ्चतीति ।  
अस्यां भवस्थायां रेतःसंस्तुतानां सिकतानां निवपन्नात्  
रेतोरूपापन्नः खल्वयं चित्योऽग्निस्तादृशं ‘सिञ्चति’ अङ्ग-  
प्रत्यङ्गयुक्तं संस्कारोतीत्यर्थः । ऋचां चित्त्वं मनूद्य स्तौति—  
“तिस्र इति । निगदसिद्धं मेतत् । “ताः सप्तेत्यादि ।  
‘ताः’ तिस्र ऋचः ‘सप्त’ सङ्ख्याकाः ‘सम्पद्यन्ते’ । सम्पत्तिप्रकार  
माह— “सहेति । ‘त्रिः’ त्रिवार मुक्ताभ्यां माद्योत्तसाभ्यां  
‘सह’ ‘सप्त’ सङ्ख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । “सप्तर्षवः संवत्सर इति ।  
वसन्ताद्याः षट् , संसर्प्याहस्यतिलक्षणः सप्तम ऋतुः ‡ ॥

\* ऋ० सं० ३. २२. ४ ; वा० सू० १२, ५० ।

† वा० सं० १२. ११५, ११६, ११७ ।

‡ “संसर्प्योऽस्यं हस्यत्याय त्वा” इति तै० सं० १. ४. १४. १ ।

अनुवचने उपांशुस्वरं विधाय स्तौति— “उपांशुन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृण्वन्ति, तथानुब्रूयादित्यर्थः । ‘अत्र’ अस्मिन् समये रेतोरूपः खलु ‘यज्ञः’, रेतःसेचनस्योपांशुत्वं परैरन्नायमानतया कत्तेश्चत्वं लोके प्रसिद्धम् ; तस्मादनुवचनमुपांशु कर्त्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— “अनुब्रुवन्वेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयं मपीष्टकाः ‘अन्वेति’ अनुगच्छति । सर्वेषु छन्दःसु गायत्र्या अन्तर्भावात्तदन्तर्भूतैः ‘छन्दोभिरेव’ ‘एतत्’ एतेनानुगमनेन ‘यज्ञं’ ‘पश्चात्’ पृष्ठतः ‘अभिरचन्’ अभितः ‘पश्चात्’ सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् ‘एति’ ॥ ८ ॥

इष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते— “अथाश्व मिति \* । अश्वस्यादित्यरूपवज्रात्मकत्वं कथयन् तस्य पुरस्तान्नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिर्हरणहेतुत्वेन स्तौति— “एतद् वा इत्यादिना । “यद्वै न इति । ‘नः’ अस्मानित्यर्थः । “असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विङ् रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रधूर्यो हि चक्षुषी, पश्वश्च तदीयाश्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते— “प्रजापतेरश्वश्चयत् तत्परापतत् ततोऽश्वः समभवदिति † । अत एव तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते— “अमु मादित्य मश्वं श्वेतं भूतं

“संसर्पोऽस्य हस्यव्याय त्वेव्याहस्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः”—इति तद्ब्राह्मणम् । ते० खं ६. ५. ३. १० । ऋ० खं १. २५. ८ । य० वा० खं २२. ३०, ३१ । “असङ्क्रान्ति-दिसङ्क्रान्ती संसर्पाहस्यती समौ”—इति च नाहदसंहितायाम् (ज्यो०) ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ख ।

† ते० खं ५. ३. १२. १ ।

दक्षिणा 'मनयन्निति । "स्वस्ति समान्नवतेति । 'स्वस्ति'  
 • अविनाशरूपं क्षेमं सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः \* । अन्यद् व्याख्यात-  
 प्रायम् । अग्निचेचसमीपगमनं विधत्ते — "आगच्छन्त्यग्नि मिति ।  
 अश्वप्रसुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीप  
 मागच्छेयुः, आगत्य च अग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा-  
 हृतां 'चितिम्' 'उपनिदधति' चित्यर्थं मानोता इष्टकाः स्थाप-  
 यन्तीत्यर्थः † ॥ १० ॥

"तं मुंत्तरार्द्धेनेति । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागेन परिश्रिताः  
 शर्कराः 'अन्तरेण' परिश्रिता मग्नेश्च मध्यप्रदेशे 'प्राञ्चं' प्राङ्मुखं  
 'नयन्ति' । 'तत्' तेन 'प्राञ्चै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । प्राचीदिकम्बन्धि  
 'पाप्मानम्' आदित्यात्मकाश्चलक्षणेन वज्रेण 'अपहन्ति' हिनस्ति ।  
 पुनः 'तम्' अश्वं पूर्वस्यां दिशि अग्नेः परिश्रितां च मध्ये 'दक्षिणा'  
 दक्षिणतो निहितमुख मित्यर्थः । "दक्षिणादाच्" ‡ । गतं मन्यत् ।  
 "तं प्रत्यक्ष मित्यादावेवं योज्यम् । एवं चतसृषु दिक्षाक्रामणेन  
 'सर्वाभ्य एव दिग्भ्यः' 'रक्षांसि' विनाशानन्तरम् 'एनम्' अश्वम्  
 'उदधन्माच्च' प्रागुदङ्मुख मित्यर्थः । 'प्रसृजति' विमुञ्चति ।  
 'तस्य' प्रागुदङ्गस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागान्नात इत्यति-  
 दिशति — "तस्योक्त इति । एवं हि प्रागान्नातम् — "एषा  
 होभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची-प्राचीत्यादि § ॥ ११ ॥

तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चितेरवघ्रापणं विधत्ते — "तं

\* 'सम्यगाप्नुवन्तीत्यर्थः' — इति च व्याख्येयः ।

† का० श्री० सू० १७. ३. २२ ।

‡ पा० मू० ५. ३. ३६ ।

§ इका० ४प्र० ४ब्रा० ३क० ।



प्रत्यक्ष मिति\* । पुच्छस्य दक्षिणतो निहिताम् 'एतां चितिं' 'प्रत्यक्षं'  
 प्रत्यक्षुखं 'यन्तं' गच्छन्तं 'तम्' अश्नन् 'अवघ्रापयति' यथा सोऽम्भ-  
 क्षिति मवजिघ्रति, तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । "ब्रा गन्धोपादाने" †  
 -इत्यस्माच्छिचि "अतिङ्गीत्यादिना ‡ पुक् । तदेतदिष्टकाना  
 मादित्येवघ्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्वीति—  
 "असौ वा आदित्य इत्यादिना । अश्नन्त्यादित्यात्मकत्वं युक्तम् § ।  
 'इमाः' परिदृश्यमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः 'सर्वाः प्रजाः'  
 ईदृक्प्रजारूपाः 'इष्टकाः' बहुत्वसाम्यात् । "असावेवेत्यादि ।  
 'तत्' तेनाश्नकर्तृकोष्टकावघ्रापणेन 'असौ' शुलोकस्य आदित्यः  
 'एव' 'इमाः प्रजाः' प्राणात्मकैः स्वरश्मिभिः 'अवजिघ्रति' ॥  
 अवघ्राणं करोति । तस्मादेव कारणात् 'एतद्' इदानीं 'सर्वः'  
 जनः 'अस्मिन्' सत्त्वात्मको भवामि 'इति' 'मन्यते' स्वात्मसत्ता  
 मवगच्छति । "प्रत्यङ् छेवेष इति । प्रत्यक्षुख एव 'एषः'  
 सूर्यो 'यन्' गच्छन् 'इमाः सर्वाः प्रजाः' स्वरश्मिभिः 'अभिजिघ्रति'  
 'हि' यस्मादेवं प्रत्यक्षुखेन गच्छता अश्नेन चितेरवघ्रापणं  
 युक्तं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथैतदवघ्रापणं लोकत्रयसमावयने हेतुत्वेन स्वीति—"यद्दे-  
 वेत्यादिना । याः 'एताः' उपधास्यमानास्तिस्रः स्वयमाद-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २६ ।

† धा० भा० प० ६२६ ।

‡ पा० सू० ७. ३. २६ ।

§ पुरस्तादिहेतुव २१६ पृ० १३ पं० दृश्यम् ।

॥ 'अभिजिघ्रति'—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ।

आख्याः 'शर्कराः' शुद्धपाषाणाः पृथिव्यादिलोकत्रयात्मिकाः ।  
 'तत्' तथा सति अस्मिन् 'अवव्रापयति' इति 'यद्' अस्ति ; 'तत्'  
 तेन 'असावुदिय एव' 'इमान्' पृथिव्यादीन् 'लोकान्' खरन्ध्या-  
 त्मके \* 'सूत्रे' मणिवत् 'समावयते' सम्यक् प्रीतान् करोति ।  
 "वेज् तन्तुसन्ताने"—इति † धातुः । यदेतत् सूत्रं , 'तस्य' प्रति-  
 पादको वाक्येष उपरिष्ठादान्नास्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथैतदेवाश्वकर्तृक मवव्रापय मनुष्य अश्वलक्षणेनैव प्रजा-  
 पतिना रूपेण निलोयमानस्याग्नेश्चेतस्यस्य पुत्रलाभो नान्येनेत्या-  
 ख्यायिकया स्तौति— "यद्वेवेत्यादिना ‡ । "स्त्राय पित्र इति ।  
 ज्ञात्याख्यायां वर्त्तमानत्वादस्य स्व-शब्दस्य सर्वनामसञ्ज्ञा पर्यु-  
 दस्ता "स्व मन्नातिधनाख्याया मिति § ; अतः सर्वनामकार्यं न  
 क्रियते । "त मश्वः शुक्ल इत्यादि । इत्थं देवैरभ्यर्थितः प्रजा-  
 पतिः 'शुक्लः' शुक्लवर्णः 'अश्वो भूत्वा' स्वपुत्रं अश्वं निलीनं तम्  
 अग्निम् 'अन्वेच्छत्' अन्विष्टवान् । अन्विष्टं 'तम्' अग्निम्  
 'अग्नयः' सकाशात् 'उपोदासृजतम्' उपनिष्क्रान्तम् पश्चिमीपत्रे स्थितं  
 'विवेद' लेभे । 'तम्' 'अग्नि'-गम्य 'अवेद्याश्वके' ईक्षितवान् । 'सः'  
 खल्वग्निः 'एनम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उदुवोष' उत्पत्य  
 ददाह । "ऊष दाहे ॥"—इत्यस्मादिति । एवं यस्मादुवोष , 'तस्मात्'

\* इह 'खरन्ध्यात्मके'—इति च-पाठः , 'खरन्ध्यात्मके'—इति  
 -पाठः । अन्यत्र यस्याभावः ।

† धा० भ्वा० उ० १००७ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २६ ।

§ पा०. सू० १. १ ३५ ।

॥ धा० भ्वा० प० ६८३ ।

कारणात् शुक्लवर्णः 'अश्वः' 'उदुष्ट मुख इव' उत्तिष्ठसमुख इव लोके दृश्यते । 'अथो' खलु तस्मादेवाग्निदाहात् सोऽश्वो 'दुरक्षो भावुकः' दुष्टे अक्षिणी यस्यासौ दुरक्षः । "बहुव्रीहैः सक्थ्यक्ष्णो रिति \* षच्-समासान्तः । दुष्टाक्षिभ्यां युक्तो भवितुं शीलवान् भवतीत्यर्थः । 'तम्' अश्वरूपिण मेव प्रजापतिं 'ऋत्वेव' अर्त्ति† गमयिष्वेव, 'हिंसित्वेव' हिंसनं कृत्वेव । 'इव'-शब्दो वाक्यालङ्कारे, अर्त्तिहिंसयोरपारमार्थ्यद्योतको वा ; न अश्व-सम्बन्धिहिंसादिना परमार्थतः प्रजापतेर्हिंसा भवतीत्यभिप्रायः । एवं मश्वं दाहेन हिंसित्वा पश्चात्तदीयः प्रजापतिरेवाय मश्व-रूपेण स्थित इति 'मेने' ज्ञातवान् । अथ च भीतः सन् 'तम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उवाच' हे प्रजापते ! 'तुभ्यं वरम्' अभिलषितं मर्थं 'ददामि' प्रयच्छामीति ॥ १४ ॥

"स होवाचेति । 'सः' खलु 'उवाच' प्रजापतिः । 'अनेन' अश्वेन मदीयरूपेण 'यः' यजमानः 'त्वा' त्वाम् 'अन्विच्छात्' । लोट आडागमः‡ । 'सः' यजमानस्त्वां 'विन्दादेव' लभेतैव । एतं वरं महं वृषे इत्यर्थः । "स यो हैन मित्यादिना आख्यायिकासिद्धस्यार्थस्य प्रकृते योजनम् । 'एनम्' अग्निम् 'एतेन' अश्वेन 'रूपेण' 'विस्त्वा' लब्ध्वेत्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥ १५ ॥

तस्याश्वस्य वर्णनियमं विधाय स्तौति—“स शुक्लः स्यादिति § ।

\* पा० सू० ५. ४. ११३ ।

† 'अर्त्ति'—इति जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु पाठः

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

‘तत्’ खलु शौक्ताम् ‘एतस्य’ सूर्यस्य ‘रूपम्’, ‘य एषः’ परिदृश्य-  
मानः सन् अन्तरिक्षे रश्मिभिः ‘तपति’, अतस्तत्कारूप्याय शुक्ल-  
वर्ण एवाश्रो नेतव्य इत्यर्थः । तदसम्भवे वर्णान्तरविशिष्टोऽपि,  
स्यादित्याह— “यदि शुक्ल मिति । शुक्लाभावे लोहितश्यामा-  
दिवर्णविशिष्टो भवेत्, स च तादृशोऽश्वस्त्वैव कर्त्तव्यः ।

अश्वासम्भवे पक्षान्तर मप्याह— “यद्यश्व मिति \* ।  
ननु अनडुहः सूर्यात्मकवप्यरूपत्वाभावात् पापहननरूपाश्वकार्य-  
करत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह— “आग्नेयो वा इति । अग्नि-  
समीपे निर्वापार्थं स्थितस्थानसो वह्नादनडुहानग्निदेवताकः,  
‘अग्निः’ अपि ‘सर्वेषां पाप्मनां’ रक्षसाञ्च ‘अपहन्ता’ बाधकः,  
अतस्तथाविधाग्निदेवताकत्वादनडुहानप्यश्ववत् रक्षांसि पाप्मनश्च  
विनाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अग्निक्षेत्रस्याधिरोहणे प्रकारविशेषं विधिष्णुः प्रस्तौति—  
“अथात इति † । यतोऽध्वर्युणा आहुतिप्रदानसमयेऽग्निक्षेत्र-  
स्याधिरोहण मपेक्षितम्, अतः कारणात् ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अधि-  
रोहणस्यैव’ । अधिरूपपर्यर्थः ‡ । अग्निक्षेत्रस्योपरि पादनिधान-  
लक्षणं क्रमण मधिरोहणम्, तस्यैव विचारः क्रियत इति  
शेषः । तत्रैकीयं मत मुपन्यस्य निरस्यति— “तं द्वैक इति ।  
“पुरस्तात् प्रत्यञ्च मिति । पूर्वभागे प्रतिमुख मच्चन्त मात्मा-  
भिमुख्येन स्थित मग्निं मुखप्रदेशे ‘अधिरोहन्ति’-इत्येकः पक्षः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ निरु० १. १. ५ ।

“पश्चादेति, पश्चान्तरम् । ‘पश्चाद्’ भागे पुच्छभागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाश्चन्तम् अनभिमुखं मग्निं मारोहन्तीत्यर्थः \* । “न तथा कुर्यादिति । एतस्य पक्षद्वयस्य निषेधः । पक्षद्वयेऽपि दोषमाह— “पशुरेव इति । अग्निरिति यदस्ति पशुरूपः †, ‘यः’ खलु ‘पशुं’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे ‘प्रत्यञ्चं’ प्रतिमुखं मञ्चन्तम् ‘अधिरोहति’ ‘तं’ पशुं ‘विषाणाभ्यां’ शृङ्गाभ्यां ‘हन्ति’ ॥

‘अथ’ एतद्दोषपरिहाराय ‘पश्चाद्’ भागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाश्चन्तं ‘तम्’ अनभिमुखं सन्तं पशुं मारोहति, ‘तम्’ आरोहन्तं पुरुषं स पशुः ‘पद्मां’ पाशात्यपादाभ्यां माहन्ति । यद्येवं पूर्वपश्चिम-भागयोरुभयत्राप्यारोहणे दोषः, कथं तर्हि तदारोहणं कर्त्तव्यमित्यत्राह— “आत्मनैवेति । शिरःप्रदेशं पादप्रदेशञ्च विहाय ‘आत्मना’ आत्मभागेन मध्यप्रदेशेन ‘एवं’ ‘एनम्’ अर्धयुः ‘आरोहेत्’ । लौकिकस्यापि पशोर्मध्यदेहेनैवारोहणं यतो दृश्यत इत्याह— “यं वा इति । ‘यं’ खलु ‘पशुम्’ अश्वादिकम् ‘आत्मना’ शिरःपुच्छदेशौ विहाय मध्यदेशेन ‘आरोहन्ति’, ‘सः’ पशुः तान् ‘पारयति’ पारं गन्तव्यावधिम् प्रापयति ; ‘न’ च ‘हिनस्ति’ आरूढं पुरुषं न व्यथयति । एव मन्त्रेरप्यधिरोहणमात्मभागे कर्त्तव्यमिति विहितम् । तत्राप्युत्तरतः कर्त्तव्यमिति विधत्ते— “उत्तरत इति । पुच्छस्योत्तरभागे उत्तरपक्षस्य च सम्यो तदधिरोहणं कर्त्तव्यम् । लोकप्रसिद्धिरप्येवमेवेत्याह— “यं हि कश्चेति । ‘यं’ कम् अपि अश्वादिलक्षणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

† ‘सम्यग्रूपः’—इति च-पाठः ।

‘पशु मारोहन्ति’ लौकिकाः, ‘उत्तरतः’ वामभागत ‘एवेन मारोहन्ति ॥

आरोहणान्तरं प्राकृतवैकृतपदार्थानां मनुष्ठाने क्रमविशेषं मनुकामति— “आहन्नाग्नि मिति । आरोहणान्तरम् ‘औत्तर-वेदिकम्’ उत्तरवेदिसंस्काररूपं यत् कर्मजातं भस्ति, तत् कृत्वेत्यर्थः ॥ तच्च कात्यायनेन विशदं मुक्तम्— “पशुवदुत्तरवेदि-प्रोक्षणाद्यां सभारनिवपनात् कृत्वेति ॥” तदनन्तरम् ‘आत्मन्’ अर्धव्युः स्वात्मनि स्वकीयम् ‘अग्निं’ ‘गृह्णीते’, यथा बहि-धित्वाग्निप्रदेशे न निष्कामति, तथा “मयि गृह्णामि”—इति ॥ मन्त्रजपेन § स्वात्मनि धारयेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरवेदि मन्तरेण ॥ ०—० मयि गृह्णामीति जपतीति ॥ । अग्निग्रहणान्तरं यत् सत्यसामेति प्रसिद्धं सामवेदे \*\*\* तद्यज-मानो गायेत् ॥” ॥

‘पुष्करपर्णस्योपधानं विधत्ते— “पुष्करपर्णं मुपदधातीति ॥ ॥ । “तस्यात इति । ‘तस्य’ पुष्करपर्णीपधानस्य ‘अतः’ अस्माद् ब्राह्मणादुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे (३प्र० १ब्रा० ७क०) “योनिर्वै पुष्कर-पर्णं मित्वाद्विना वाक्यशेषेण स्तुतिः करिष्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* ‘उत्तरवेदिसंस्काररूपं कर्म कृत्वेत्यर्थः’—इति ज-पाठः ।

† का० औ० सू० १७. ३. २६, २७ ।

‡ वा० सं १३. १ ।

§ ‘मन्त्रजपेन’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘मन्तरेण’—इति का० औ० सू० वाल्मीकि-सुद्रित-पाठः ।

¶ का० औ० सू० १७. ३. २७ ।

\*\* सा० वि० ब्रा० १. १. २ ।

†† का० औ० सू० १७. ३. २८ ।

‡‡ का० औ० सू० १७. ४. १ ।

सायङ्काले कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथैत मिति । ‘अथ’ पुष्करपर्णापधानानन्तरम् ‘एत मश्वं’ ‘साये भूते’ अङ्गोऽवसाने जाते ‘परिणयन्ति’ अग्निचेचं परित आवर्त्तयन्ति \* । “षो अन्त-  
कर्मणि †”—इत्यस्मात् जातः सायशब्दः । अथैतदश्वस्य परितो नयनं यज्ञविघातकरचोनिमित्ताद् भयाद्रक्षणहेतुत्वेन स्तौति—  
“एतद्वै देवा इति । “एतं वज्र मिति । अश्वात्मकं वज्र मित्यर्थः । ‘अभिगोप्तां’ अभितः सर्वासु दिक्षु रक्षितारम् ।  
“अमु मेवादित्य मिति । अमुषिष्वाकाशे दृश्यमानम् ‘आदित्यम्’ आदित्यात्मक मश्वम् । अश्वस्य चादित्यात्मकता प्रागेवोक्ता ‡ ,  
इदानी मप्याह— “असौ वा आदित्य इति । “तथैवास्मा इति ।  
यथा सूर्यो रात्रिसाद्यज्ञस्याभिगोप्ता , तेनैव प्रकारेण ‘अयम्’ अश्वर्युः ‘अस्मै’ चेष्यमाणायाग्नये ‘एतम्’ अश्वात्मकं वज्रम् ।  
सिद्ध मन्यत् ॥ १८ ॥

सायङ्कालेऽप्यस्तमयात् प्रागेवाश्वपरिणयनस्य कर्त्तव्यता माह— “तं वा इति । ‘आदित्यस्य’ ‘अस्तमय सुप’ अस्त-  
मयस्य समीपे आदित्ये विद्यमाने सत्येवेति यावत् । “एष वा अखेत्यादि । ‘एषः’ खलु आदित्यः ‘अस्य’ चीयमान-  
स्याग्नेः ‘दिवा’ अङ्गि ‘प्रत्यक्षं गोप्ता भवति’ । रात्रिं सचन्ते समवयन्ति इति ‘रात्रिसाचयानि’ रात्रौ सञ्चरणशीलानि खलु ‘रक्षांसि’ तादृश्या ‘रात्र्या एव’ सकाशात् ‘अस्मै’ चित्वा-

\* का० श्रौ० सू० १७: ३. २५ ।

† धा० दि० प० ४१ ।

‡ पुरस्तादिहैव २०३ ए० १७ पं० द्रष्टव्यम्

नये 'एतम्' अष्टात्मकं 'बन्धं' परोक्षमादित्यात्मकम् 'अभि-  
 गोप्तारम्' अभितो रक्षितारं करोति । 'परिणयति'—इति परि-  
 शब्देन सूचितं मयं स्तोतुमाविष्करोति— "सर्वत इति ।  
 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु । परिणयनक्रियायाः त्रिराहृतिं विधाय  
 स्तोति— "त्रिष्कृत्व इति । "त्रिहृत्त मेवास्मा इति । 'त्रिहृत्तं'  
 त्रिगुणितम् । "अथैनमुदञ्च भित्वादि । 'अथ' त्रिष्कृत्वः  
 परिणयनानन्तरम् 'एनम्' अश्वं प्रागुदञ्चं विस्मृजेत् । तस्य च  
 स्तावको वाक्यशेषः प्राक्प्रमाणात् इत्यर्थः । तस्याश्वस्य पुनः  
 प्रयोगं विधत्ते— "अथ स पुनरिति । 'सः' अश्वः पुनर् 'विपल्ययते'  
 विपरिवर्त्तते, उपधानकाले \* कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।  
 "अथ पय गतौ †"—इत्यस्मात् लट्, "उपसर्गस्यायतौ"—इति  
 लत्वम् ‡ । 'तस्य' अश्वपर्यावर्त्तनस्योपरिष्ठात् प्रयोजनमभिधास्यत  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ ४ [३. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ३ ॥

\* 'उपचारकाले'—इति च-पाठः ।

† धा० भा० आ० ४७४ ।

‡ पा० सू० द. २. १८ ।



ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतत्त्वताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
 रत्नोद्भवां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
 व्यश्राणीद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
 शान्धोत्यं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्धौ रत्नरूपं गिरि मज्जत सुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक—

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथत्वादीप्यन्तः पञ्चमकाण्डोद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः ।

† एतस्मात्प्रपाठकसमाप्तिवचनादनन्तरम्— “कण्डिकाः १०५”—

इति क, ख, “कण्डिकाखण्डा १०५”—इति ग, घ । तत्र, १ ब्रा० ६ क०,  
 २ ब्रा० ३० क०, ३ ब्रा० ४७ क०, ४ ब्रा० १६ क० ; सङ्कलनघात द्वितीय-  
 प्रपाठकौयचतुर्षु ब्राह्मणेषु १०५ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्ट्यन् । आत्मनो वा  
 ऽएतं मुधिजनयति यादृशाहै जायते तादृङ्छेव  
 भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयान् मनुष्या-  
 देव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यं मनपहतपाप्मनोऽनप-  
 हतपाप्मन मथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति  
 तद्गनेरेवाध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतं मपहतपाप्मनो-  
 ऽपहतपाप्मानम् ॥ १ ॥

सु गृह्णाति । मुयि गृह्णाम्यग्रे ऽग्नि मिति ।  
 तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते \* रायस्योषाय सुप्रजा-

स्त्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्वा आशिष आत्मन्  
 गृह्णीते मा मु देवताः सचन्ता मिति तदु सर्वान्  
 देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत् किञ्चात्मनोऽधि जन-  
 यिष्यन् भवति तत् सर्व मात्मन् गृह्णीते स वै  
 तिष्ठान्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानूपविश्य चिनोति पशु-  
 रेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूप-  
 विश्य विजायते \* ॥ २ ॥

अथ सत्यं साम गायति । एतद्वै देवा  
 अभवन्सत्य मस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः  
 सत्यं नोऽनुवर्त्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति  
 यत् कामा एतत् करिष्यामह ऽद्विति ॥ ३ ॥

तु ऽएतत् सत्यं साम पुरस्तादगायन् । तदस्य  
 सत्यं मुखं मकुर्वन्स्ते सत्यं मभवन्स्तस्य मेनानन्व-  
 वर्त्तत सत्यं एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतद्-  
 कुर्वन्त ॥ ४ ॥

तथैवैतद्यजमानः । यत् सत्यं साम पुरस्ताद्

गायतिं तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति  
सत्य मेन मनुवर्त्तते सत्योऽस्य स कामो भवति यत्-  
काम एतत् कुरुते \* ॥ ५ ॥

तद्यत् तत् सत्यम् † । आप एव तदापो हि  
वै सत्यं तस्माद्येनापो यन्ति तत् सत्यस्य रूप  
मित्याहुरप एव तस्य ‡ सर्वस्याय मकुर्वन्तस्मा-  
द्यदेवापो यन्त्यथेदं सर्वं जायते यदिदं  
किञ्च § ॥ ६ ॥

अथ पुष्करपर्णं मुपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनि मेवैतदुपदधाति ॥ ७ ॥

यद्वै पुष्करपर्णं मुपदधाति । आपो वै  
पुष्करं तासा मियं पर्णं यथा ह वा ऽद्भुतं पुष्कर-  
पर्णं मण्ड्वध्याहित मेवमिय मण्ड्वध्याहिता सेयं योनि-  
रग्नेरियं ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निस्वीयत ऽद्भुमा

\* 'कुरुते'—इति ग, घ

† 'सत्यम्'—इति क ।

‡ 'तदस्य'—इति क, ख ।

§ 'किञ्च'—इति ग, घ ।

मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः सत्यादुप-  
दधातीमां तत् सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्मादियं  
सत्ये प्रतिष्ठिता तस्माद्वियमेव सत्यं मियं चैवैषां  
लोकानां मद्वातमाम् ॥ ८ ॥

अपाम्पृष्ठं मसि योनिरग्नेरिति । अपाः  
हीयं पृष्ठं योनिर्हीयं मग्नेः समुद्रं मभितः पिन्व-  
मान मिति समुद्रो हीमा मभितः पिन्वते वर्द्ध-  
मानो महा २॥७ ऽथा च पुष्कर ऽद्विति वर्द्धमानो  
महीयस्व पुष्कर ऽद्वत्येतद्विवो मात्रया व्वरिम्णा  
प्रथस्तेत्यनुविमार्ष्टसौ वा ऽथादित्य एषोऽग्निर्नो  
हैतं मन्यो दिवो व्वरिमा यन्तु मर्हति द्यौर्भूत्वैनं  
यच्छेत्वेवैतदाह स्वराजोपदधाति स्वाराज्यं चपाः  
सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ९ ॥

अथ रुक्मं मुपदधाति । असौ वा ऽथादित्य  
एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते  
रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोऽक्षं परो-  
ऽक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यं मुपदधाति

सु हिरण्यमयो भवति परिमण्डल एकविंशति-  
निर्बाधस्तस्योक्तो बभ्रुरधस्तान्निर्बाधः मुपदधाति  
रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधा अवस्तादु वा ऽएतस्य  
रश्मयः ॥ १० ॥

तं पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं- योनावेवैन मेतत् प्रतिष्ठापयति ॥ ११ ॥

यदेव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै  
पुष्करपर्णं मियं वै पुष्करपर्णं मियं मु वै प्रतिष्ठा यो  
वा ऽअस्या मप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव  
सु रश्मिभिर्वा ऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्या मेवैन  
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

यदेव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति \* । इन्द्रो वृक्षं  
हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्र-  
वीद्विभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपां रस  
आसीत्त मूर्ध्नि समुदौहंस्ता मसौ पुरं मकुर्वंस्तद्यदसौ  
पुरं मकुर्वंस्तस्मात् पूष्करं पूष्करं † इ वै तत् पुष्करं

\* 'उपदधाति'—इति क, ख ।

† 'पूष्करं, पुष्करं'—इति घ-पुस्तकपाठः, इह च डा० वेबरमहोदयेनापि ।

मित्वाचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्त-  
द्यत् पुष्करपर्णं ऽउपदधाति य मेवास्थैत मायो रसः  
संसृद्दौहत्या मस्यै पुर मकुर्व्वस्तस्मिन्नेवैन मेतत् प्रति-  
ष्ठापयति ॥ १३ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वा  
ऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः  
सुरुचो ब्वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः  
सुरुचो ऽसावादित्यो ब्वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणो  
ऽवेनत्तस्मादेनस्तानेष सीमतो मध्यतो विवृण्वन्नु-  
देति स बुध्ना उपमा अस्य विष्ठा इति दिशो  
वा ऽअस्य बुध्ना उपमा विष्ठास्ता ह्येष उपवि-  
तिष्ठते सतश्च योनि मसतश्च विवरितीमे वै  
लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न  
तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते तिष्ठभोपदधाति  
त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्यो-  
क्तो बन्धुः ॥ १४ ॥

अथ पुरुष मुपदधाति । स प्रजापतिः सो-  
ऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योति-

वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः  
पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

यद्वेधं पुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्विस्तृप्ता-  
द्रम्या तनुर्मध्यतोऽदक्रामत्तस्या मेनमुत्क्रान्तायां  
देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्तुदस्मिन्नेतां  
रम्यां-तनुं मध्यतोऽदधुस्तस्या मस्य देवा अरमन्त  
तद्यदस्यैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त  
तस्माद्दिरम्यं हिरम्यं ह वै तद्दिरण्यमित्या-  
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मि-  
न्नयमेतां रम्यां तनुं मध्यतो दधाति तस्या  
मस्य देवा रमन्ते प्राणो वा अस्य स रम्या  
तनुः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥ १६ ॥

तं रुक्मं उपदधाति । असौ वा अपादित्व  
एष रुक्मोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स  
एष तमेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

उत्तानमुपदधाति । एतद्देवा अब्रुवन् यदि  
वा ऽद्वमावर्त्वाञ्चा उपधास्यामः सर्व्वं मेवेदं प्रध-  
क्ष्यतो यद्यु पराञ्चौ पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्यु



सम्यञ्चावन्तुरैवैतावितज्जोतिर्भविष्यत्यथो ऽपन्योऽन्यः  
 हि ऽसिष्यत ऽइति तेऽर्वाञ्च मन्य सुपादधुः  
 पराञ्च मन्यः स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः  
 प्राक्षेरेष जङ्घः पुरुषः प्राञ्च सुपदधाति प्राङ्  
 ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥ १८ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताम ऽइति । हिरण्य-  
 गर्भो ह्येष समवर्त्ततामे भूतस्य जातः पतिरेक  
 आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पति-  
 रेक आसीत् दाधार पृथिवीं द्या मुतेमा मित्येष  
 वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय  
 हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा  
 विधेमेत्येतत् ॥ १९ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी मनु द्या मिति । असौ  
 वा ऽआदित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च  
 स्कन्दतीत्यमू मित्तीमा मिमं च योनि मनु यश्च पूर्व  
 इतीमं च लोक ममं चेत्येतद्यो यच्चेद मेतर्हि  
 चीयते यच्चादः पूर्व मचीयतेति समानं योनि  
 मनु सञ्चरन्त मिति समानं ह्येष एतं योनि मनु

सञ्चरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यसौ वा  
ऽप्यादित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं  
दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥ २० ॥

द्वाभ्यामुपदधाति । द्विपाद्युजमानो यजमानो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैनमेतदुप-  
दधाति । त्रिष्टुब्धां त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभूवुः ॥ २१ ॥

अथ साम गायति । एतद्वै देवा ऽएतं  
पुरुषं सुपधाय \* तमेतादृशमेवापश्यन्त्यथैतच्छुष्कं  
फलकम् † ॥ २२ ॥

तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चिति  
मिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति ॥ २३ ॥

ते चेतयमानाः । एतत्सामापश्यंस्तदगाय-

\* 'सुपदधाय'—इति क ।

† 'फलकम्'—इति ग, 'फलकम्'—इति घ ।

स्तदस्मिन् वीर्यं मदधुस्तथैवास्मिन्नयं मेतद्बुधाति पुरुषे  
गायति पुरुषे तद्दीर्यं दधमति चित्रे गायति सर्व्वान्नि  
हि चित्राण्यग्निस्तु मुपधाय न पुरस्तात् पुरी-  
यान्नेन्माय मग्निर्हि न सदिति \* ॥ २४ ॥

अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत † । ऽद्वमे वै लोकाः  
सर्पास्ते हानेन सर्व्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्व्वेषां  
मु ह्येष देवानां मात्मा यदग्निस्ते देवा एत मात्मान  
मुपधायाविभयुर्यदै न द्वमे लोका अनेनात्मना न  
सर्पेयुरिति ॥ २५ ॥

तु ऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपतिष्ठन्त  
तैरस्मा ऽद्वमाँल्लोका ‡ नस्थापयन्तैरनमयन्त्यदुनमयं-  
स्तस्मात् सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत् सर्प-  
नामैरुपतिष्ठत ऽद्वमानेवास्मा ऽएतल्लोकान्स्थापयती-  
माँल्लोकान्नमयति तथो हास्यैतु ऽएतेनात्मना न  
सर्पन्ति ॥ २६ ॥

\* '०र्हि न सदिति'—इति ग, घ ।

† '०रुपतिष्ठते'—इति क, ख ।

‡ 'ऽद्वमाँल्लोका'—इति ग, घ ।

यद्येव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽहमे वै लोकाः  
 सर्पा यच्च किञ्च सर्पल्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति  
 तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवेषु लोकेषु नाष्टा यो  
 व्यहरो या शिमिदा तदैवैतत् सर्वं शमयति  
 ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो \* ये के च पृथिवी मनु ।  
 ये ऽचन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति  
 ये ऽण्वेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति  
 ॥ २८ ॥

या इषवो यातुधानाना मिति । यातुधान-  
 प्रेषिता हैके दशन्ति ये वा व्वनस्पतीर॥१॥ २९ ॥ ये  
 व्यावटेषु शिरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव  
 व्वनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शिरते तेभ्य एतन्नम-  
 स्करोति ॥ २९ ॥

ये व्वामो रोचने दिवो । ये वा सूर्यस्य

\* 'सर्पेभ्यः । ये'—इति क, ख ।

† 'व्वनस्पतीर॥१॥ २९'—इति ख । 'व्वनस्पतीरनु'—इति ग, घ । व्वन-  
 स्पतीरुनु'—इति च इत्यो डा०-वेचरेण ।

रश्मिषु येषा मप्सु सदस्कातं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम  
 इति यत्र-यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो  
 नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवेनामेतन्नमस्का-  
 रेण नमस्यति तस्मादु ह नायन्नियं ब्रूयान्न-  
 मस्त ऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्त ऽइति तादृक्  
 तत् ॥ ३० ॥

विभिरुपतिष्ठते । त्वय इमे लोका अथो विवृ-  
 दन्निर्यावानन्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मा ऽएत-  
 दिमांस्त्रोक्तानस्थापयत्यथो तावतैवैतदिदं सर्वं  
 शमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वा ऽइमे लोका  
 अथो तिष्ठन्वै व्यीर्यवत्तरः \* ॥ ३१ ॥

अथैन मुपविश्याभिजुहोति † । आज्येन पञ्च-  
 गृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्व्वतः परिसर्पं सर्व्वाम्भ्य  
 एवैन मेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥ ३२ ॥

यदेवैन मभिजुहोति । एतद्वै देवा एत मा-

\* 'व्यीर्यवत्तरः' - इति क

† 'अभिजुहोति' - इति क ।

त्मानं सुपधायाविभयुर्यद्वा न इमं मिह रुचांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त एतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरा-  
 नपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथी मिति  
 राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो  
 दिग्भ्यो रुचांसि नाष्टा अपहृत्याभये ऽनाष्ट एत  
 मात्मनः समस्कुर्वन् तथैवैतद्यजमान एतैः प्रति-  
 सरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रुचांसि नाष्टा अपहृत्या-  
 भयेऽनाष्ट एत मात्मनः संस्क्रुते ॥ ३३ ॥

आज्येन जुहोति । वृज्यो वा ऽआज्यं वृज्य-  
 नैवैतद्रुचांसि नाष्टा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन  
 पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरो-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैतद्रुचांसि  
 नाष्टा अपहृत्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती रक्षोहाग्नि-  
 नैवैतद्रुचांसि नाष्टा अपहन्ति त्रिष्टुग्भिर्वृज्यो  
 वै त्रिष्टुब् वृज्येनैवैतद्रुचांसि नाष्टा अपहन्ति सञ्ज्ञतः  
 परिसर्पः सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रुचांसि नाष्टा  
 अपहन्ति ॥ ३४ ॥

प्रसदग्नेः प्राङ्मासीनः । अथोत्तरतो \* दक्षि-  
णाय पुरस्तात् प्रत्यङ्मुख्यं जघनेन परीत्य दक्षि-  
णत उदङ्मासीनस्तद्वक्षिणावृत्तश्चि देवव्यानुपरीत्य  
पश्चात् प्राङ्मासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं  
भवति † ॥ ३५ ॥

अथ सुचा उपदधाति । बाहू वै सुचौ बाहू  
ऽएवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति ते यत् सुचौ भवतः  
सुचौ हि बाहू ऽद्भु मेव कपुच्छल ‡ मयं दण्डो ह्ये  
भवतो द्वौ हीमौ बाहू पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो  
हीमौ बाहू ॥ ३६ ॥

कार्पूर्यमयी दक्षिणत उपदधाति । एतदे  
देवा अविभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रुचांस्ति  
नाष्टा न हन्युरिति त एतत् रुचोऽङ्गं व्यनस्पति  
मपश्यन् कार्पूर्यं त एतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो

\* 'प्राङ्मासीनोऽथोत्तरतो'—इति ग ।

† 'भवति'—इति क ।

‡ 'कपुच्छल'—इति क, ख । 'कपुच्छल'—इति, 'कपुच्छल'—  
इति च पाठौ सा०-सम्मतौ दृश्येताम् ।

रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं मत-  
 न्वत तथैवैतद्यजमान एतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं  
 तनुत ऽप्राज्येन पूर्णा भवति व्यञ्जो वा ऽप्राज्यं  
 व्यञ्जेणैवैतदक्षिणतो रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति  
 ॥ ३७ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । जग्म्वै रुस  
 उदुम्बर जज्म्वै मेवास्मिन्नेतद्रुसं दधाति दध्ना पूर्णा  
 भवति रुसो वै दधि रुस मेवास्मिन्नेतद्वधाति ॥ ३८ ॥

यदेव सुचा ऽउपदधाति । प्रजापतेर्विस्वस्त-  
 स्यामिस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽद्वोदर मद्यत्  
 कृष्टोदरमत्तस्मात् कार्ष्ण्योऽथास्येन्द्र ओजं आदायो-  
 दङ्ङुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् ॥ ३९ ॥

तावब्रवीत् । उप मेतं प्रति म ऽएतद्वत्तं येन  
 मे युव मुदक्रमिष्ट मिति ताभ्यां वै नौ सर्व्वं मुन्नं  
 प्रायच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथा मिति  
 तथेति ताभ्यां वै सर्व्वं मुन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू  
 भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्या मेवान्नं क्रियते



बाहुभ्या मयते बाहुभ्याऽ हि स सर्वं सन्नं  
प्रायच्छत् ॥ ४० ॥

स कार्पयमयीं दक्षिणत उपदधाति ।\* अग्नेष्ट्वा  
तेजसा सादयामीति † यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय  
दक्षिणाकर्षत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः  
ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्या गायत्रोऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुपदधाति  
घृतेन पूर्णा भवत्याग्नेयं वै घृतं स्वेनैवैन † मेतद्  
भागेन स्वेन रुसेन प्रीणाति ॥ ४१ ॥

अथौदुम्बरौ मुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य  
त्वौजसा सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र भोज  
आदायोदङ्ङुदुक्रामत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति भुवो  
यज्ञस्य रुजसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदग्ने-  
य्यग्निकर्म ह्यथ यत्तिष्ठुप् त्रैष्टुभो ह्येन्द्र ऐन्द्राग्नो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुप-

\* 'तेजसादयामीति'—इति ख

† 'स्वेनैव'—इति ख ।

दधातीन्द्राग्नी वै सर्व्वे देवाः सर्व्वदेवत्वोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतेवैना मेतदुप-  
 दधाति दध्ना पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवैन  
 मेतद्वागेन स्वेन रुसेन प्रीणाति ॥ ४२ ॥

तावस्यैताविन्द्राग्नी ऽएव बाहू \* । तावेनं तेजसा  
 च व्वीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुष †  
 माकाशय यत्राभ्याप्नोति तदालिख्यैने ऽउपदधात्येव  
 हैतयोर्लोकः ‡ ॥ ४३ ॥

ते हैके तिरश्चा ऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वा  
 ऽइमौ बाहू § ऽइति न तथा कुर्यात् प्राच्यावेवो-  
 पदध्यात् प्राङ् छेषोऽग्निश्चीयतेऽथो ऽएवं वै बाहू  
 व्वीर्यवत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति  
 नाना सूददोऽसाधिवदति नाना हीमौ बाहू ॥  
 ॥ ४४ ॥

\* , ॥ 'बाहू'—इति क , 'बाहू'—इति म , घ ।

† 'पुर एव'—इति ख ।

‡ 'हैतयोर्लोकः'—इति ग , घ ।

§ 'बाहू'—इति ख ।

तदाहुः \* । नैतस्य पुरुषस्य बाहू कुर्यादेतौ  
 वा ऽअस्य बाहू ये ऽएते सुचौ नेदतिरेचयानीति  
 स वै कुर्यादेवैतौ वा ऽअस्य बाहू ऽअन्वते सुचा-  
 वथो ऽएतौ पक्षावथो यान्येतस्मिन्नग्नौ रूपाय्युप-  
 धास्यन् भवति यान्स्तोमान् यानि पृष्ठानि यानि  
 कुन्दास्येतयोरेव सा संस्क्रतिरेतयोर्वृद्धिस्तस्मादु  
 कुर्यादेवैतस्य पुरुषस्य बाहू † ॥ ४५ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अग्निग्रहण-सत्यसामगान-पुष्करपर्णीपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे  
 सङ्ग्रहेण विहितानि , इदानीं तानि क्रमेण प्रपञ्चयति— “आत्म-  
 अग्निं गृह्णीते चेष्टन्नित्यादिना ‡ । ‘चेष्टन्’ चयनं करिष्यन्  
 अध्वर्युः ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अग्निं’ ‘गृह्णीते’ मन्त्रेण धारयेत् ।

\* ‘तदाहुः’—इति ख , ‘तदाहुः’—इति ग , घ ।

† ‘बाहू’—इति ख ।

‡ का० श्री० सू० १७. ३. २७ क ।

“आत्मनो वा इत्यादि । अध्वर्युः ‘आत्मनोऽधि’ अधिः पञ्च-  
म्यर्थानुवादी ; “अधिपरो अनर्थकौ”—इति \* पाणिनिस्मरणात् ।  
आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः ‘एतं’ चित्वाग्निं ‘जनयति’ ।  
तथा सति लोकस्थितिरीदृशी , ‘यादृशात्’ यादृक्स्वरूपात् खलु  
मनुष्यादिशरीरात् गर्भे ‘जायते’, ‘सः’ ‘तादृक्’ तत्सदृश एव निष्प-  
द्यते ; सति ह्यग्निग्रहणे अध्वर्युरग्न्यात्मको भवति , तादृशादध्व-  
र्योर्जायमानश्चित्वाग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति । तस्मादात्म-  
न्यग्निग्रहणं कर्त्तव्य मित्यर्थः ॥

अगृहीत्वा चयने दोष मुपन्यस्यति—“स यदात्मन्निति । ‘सः’  
अध्वर्युः ‘यत्’ यदि आत्मन्यग्निग्रहणं मकृत्वा ‘अग्निं चिनु-  
यात्’, तदा देवरूपानापन्नामनुष्यशरीरमात्रात् मनुष्यात्मकं मेव  
‘जनयेत्’ ; कारणानुरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । कारणं हि  
शरीरं मनुष्यजातीयम् , अत एव ‘मर्त्यं’ मरणशीलम् अनपहत-  
पापकं मरणादिहेतुभूतपापसहितम् , तथाविधाज्जायमानोऽग्नि-  
रपि तादृग्रूपो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

सति त्वग्निग्रहणेऽभिहितदोषवैपरीत्यं माह— “अथ यदेति ।  
“तदग्नेरेवेत्यादि । अग्निरूपादात्मनः सकाशाज्जनयन् ‘अग्निम्’  
एव ‘जनयति’ । असृतरूपस्याग्नेर्धारणादध्वर्युरप्यसृतात्मकः । शिष्टं  
स्पष्टम् ॥ १ ॥

इत्थं मग्निग्रहणस्यावश्यकर्त्तव्यता मुपपाद्य समन्त्रकं तद्  
विधत्ते— “स गृह्णातीति । “मयि, गृह्णामीति † ग्रहण-

मन्त्रः । तत्र मयोत्पन्नश्चन्द्रश्चवशादामन्त्रमग्नेर्ग्रहणं निगदक्षिण  
मित्याह— “तदात्मन्नेवेति । ‘अग्ने’ चयनात् प्राक्काले । द्वितीय-  
भाग मन्त्रस्य, तस्य तात्पर्यं माह— “रायस्योषायेति । राय-  
स्योषो धनसमृद्धिः, सुप्रजास्यं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्, शोभन-  
वीर्ययोगः सुवीर्यम्, ‘तत्’ तेन मन्त्रभागेनोक्तलक्षणाः ‘सर्वाः’  
‘आशिषः’ फलानि आत्मनि स्वीकरोति । तृतीयभाग मन्त्रस्य  
व्याचष्टे— “मा सु देवता इति । यस्यामायदेवताः ‘मा सु’ मा  
मेव ‘सचन्ता’ मदीययज्ञं सेवन्ता मिति । एतेन मन्त्रभागेन देव-  
ताना मय्यात्मनि ग्रहणं कृतं भवति । “तद्यत्किञ्चेत्त्यादि ।  
‘तत्’ प्राशुक्तं ‘यत्’ किं मपि मन्त्रप्रतिपाद्यं रायस्योषादिक  
मात्मनो जनयितव्यं मस्ति, तत् सर्वं मनेन मन्त्रेणात्मनि गृहीतं  
मेव भवतीति ॥

अग्निग्रहणञ्च तिष्ठता कर्त्तव्यं मिति स्थितिलक्षणं गुणं  
विधत्ते— “स वै तिष्ठन्निति \* । चयनसमये तु उपवेशनम् †  
तस्य विधत्ते— “अनूपविश्य चिनोतीति । यत्र यत्रेष्टका सुप-  
दधाति, तं तं देशं गत्वा तत्समीपे ‡ उपविश्य, चिनुयादित्यर्थः ।  
एतदुभयं स्तीति— “पशुरेष इति । पशुरूपो हि ‘एषः’ अग्निः,  
‘तस्मात्’ एव हि कारणात् गवादिलक्षणः ‘पशुः’ तिष्ठन्नेव गर्भं  
धत्ते, ‘अनूपविश्य’ ‘विजायते’ प्रसूते । अतोऽग्निग्रहणं गर्भधारण-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २७ ख ।

† ‘चयनसमयेऽनूपवेशनम्’—इति ज-पाठः

‡ ‘समीपे’—इति ज-पाठः ।

भूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्, अयनन्तु प्रसवरूपत्वादुपविष्टेनेति  
तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अथ प्राग्विहितं सत्यसाजो गान मनूय स्तीति— “अथ  
सत्य मिति \* । ‘एतत्’ एतस्मिन्नन्तरे खलु ‘देवा अभुवन्’, ‘अस्य’  
अग्नेः ‘सत्यं’ सत्यफलसाधनं साम ‘मुखं करवाम’, तथाकर-  
णाच्च वयं ‘सत्यं भविष्यामः’ सत्यभूताः सर्वदा बाधरहिताः  
स्याम । ‘नः’ अस्मान् ‘सत्यं’ सत्याभिमानिदेवता ‘अनुवर्त्सति’  
अनुवर्त्तनं करिष्यति । तथा च ‘नः’ अस्माकं ‘सः’ तादृशः  
‘कामः’ यज्ञफलरूपः ‘सत्यः’ यद्यर्थो भविष्यति, ‘यत्’ फलं  
कामयमाना ‘एतद्’ अग्निचयनात्मकं कर्म करिष्यामहे । ‘इति’—  
‘शब्दो देवानां कामपरिसमाप्तौ ॥ ३ ॥

“त एतदिति । एवं विचार्यते— ‘ते’ देवाः ‘एतत् सत्यं साम’  
‘पुरस्तात् अगाधन्’ ‘तत्’ तेन सत्यसाजो गानेन ‘अस्य’ अग्नेः  
‘मुखं’ ‘सत्यं मकुर्वन्’ ततः ‘ते’ देवाः ‘सत्यं मभवन्’ नित्यत्वं  
प्राप्ता इत्यर्थः । व्याख्यातप्राय मन्यत् ॥ ४ ॥

इत्थं परकृति सुपत्न्यस्य प्रकृते योजयति— “तथैवेति । यथा  
देवाः, ‘तथैव’ ‘एतद्’ एतर्हि ‘यजमानः’ ‘सत्यं साम’ ‘पुरस्तात्’  
पूर्वस्थां दिशि ‘गायति’ ‘इति’ ‘यत्’ अस्ति, ‘तत्’ तेन ‘अस्य’  
चित्वाग्नेः मुखं ‘सत्यं’ सर्वदा विद्यमानं ‘करोति’ । ‘सः’  
यजमानः स्वयं मपि तथाकरणात् ‘सत्यं’ सत्यात्मको ‘भवति’ ।  
गत मन्यत् ॥ ५ ॥

सत्यपदस्याभिप्रेतं मर्थं भाविष्कुर्वन् प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
‘तत्’ तच्च तदुक्तविधं ‘यत् सत्यम्’, ‘आप एव तत्’ अत्र मेव \*  
सत्यपदेनोक्तं मित्यर्थः । अपां सत्यरूपता सुपपादयति—  
“आपो हीति । ‘हि’ यस्मात् प्रथमसृष्टत्वादायः सत्याभिकाः,  
‘तस्मात्’ येन भूप्रदेशेन ताः ‘आपः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति, ‘तत्’ स्थानं  
‘सत्यस्य’ उदकात्मकस्य ब्रह्मणो ‘रूप मिति’ ‘आहुः’ कथयन्ति  
ब्रह्मवादिनः । अपां प्रथमसर्गश्च स्मर्यते— “अप एव ससर्जादौ  
तासु वीर्यं मवाकिरत्”—इति † । “अप एव तस्येत्यादि ।” अपां  
सत्यरूपत्वात् ‘तत्’ तेन सत्यसाम्नोऽप्यतोगानेन ‘अस्य’ सर्वस्य जगतः  
अप एव ‘अयं’ सुखम् ‘अकुर्वन्’ देवा इत्यर्थः । अपा मयकरणस्य  
फलमाह—“तस्मादिति । ‘तस्मात्’ उक्तहेतोः ‘यदैव’ खलु ‘आपः’  
दृश्युत्यक्ताः ‘यन्ति’ प्रवहन्ति, ‘अथ’ अनन्तरमेव ‘इदं’ दृश्यमानं  
मोषधिवनस्यत्यादिरूपं ‘सर्वं’ जगदुत्पद्यते । सर्वशब्दस्य सद्बुच-  
दृष्टितां निराचष्टे— “यदिद मिति ॥ ६ ॥

पुष्करपर्णोपधानं विधाय स्तौति— “अथ पुष्करपर्णं  
मिति ‡ । ‘अथ’-शब्दः सत्यसामगानानन्तर्यार्थः । “तं मङ्ग  
उपोदासृतं पुष्करपर्णं विवेदेति § अग्न्युपलब्धाधिकरणत्वस्य  
श्रुतत्वात् पुष्करपर्णस्याग्नियोनित्वम् ॥ ७ ॥

\* ‘आप्तत्वं मेव’—इति च, छ ।

† म० सं० १७० दृष्टो० । तच्च ‘वीर्यं मवाक्यत्’—इति पाठः ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. १ ।

§ पुरस्ताद् गतम् ( ७. ३. २. १४—२०५ पृ० १० पं० ) ।

॥ ‘पुष्करपर्णस्य योनित्वम्’—इति च, छ ।

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णस्याग्नियोनित्वं मनुवाद्पूर्वकं प्रति-  
पादयति— “यद्देवेति । “आपो वै पुष्कर मित्यादि । “पुष्करं  
सर्वतो मुखं मित्यादि निगदप्रसिद्धिद्योतको \* ‘वै’-शब्दः । ‘तासाम्’  
अपां प्रथमस्यष्टानाम् ‘इयं’ पृथिवी ‘पर्णं’ पर्णस्थानीया ।  
एतदेव विशदयति — “यथा ह वा इति । ‘इदं’ ‘पुष्करपर्णं’  
पञ्चपत्रं ‘यथा’ खलु ‘अप्सु’ ‘अध्याहितम्’ उपर्याश्रितं सत् दृश्यते ,  
‘एवम्’ ‘इयं’ पृथिवी ‘अप्सु’ उदकेषु ‘अध्याहिता’ उपर्याश्रिता  
वर्त्तते । अत एवोपरिष्ठात् “तद्यपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा  
पृथिव्यभवदित्यान्नास्यते † । अतः पुष्करपर्णसाम्यात् पृथिव्याः  
पुष्करपर्णत्वम् । “स्येयं योनिरित्यादि । यदिदं पृथिव्यात्मकं पुष्कर-  
पर्णं ‘स्येयं मग्नेर्योनिः’ उत्पत्तिकारणम् ; अत एव हि ‘इयं’  
पृथिवी कार्यकारणयोरभेदादग्नित्वाग्निरूपेण वर्त्तते । एतत् तादात्म्य  
मुपपादयति— “अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत इति । “षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी” ‡ । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनीभिः § मृग्यीभिरिष्ट-  
काभिः कृत्स्नोऽग्निर्यतश्चीयते ॥ , अतः पृथिव्या अग्नेश्च तादात्म्य  
मुक्तं मित्यर्थः । उदीरितरीत्या यतः पुष्करपर्णं पृथिवी , अत-  
स्तदुपधानेन ‘इमा मेव’ पृथिवी मुपहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथैतस्योपधानस्य सत्यसामानन्तर्यं मनुष्यं स्वीति— “ता

\* ‘निगदप्रसिद्धिद्योतको’—इति च, ह ।

† का० १०, प्र० ४, ब्रा० ८, क० २ द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० २, ३, ६२ छ० १ वा० ।

§ ‘सकाशात्’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘कृत्स्नोऽग्निर्यतश्चीयते’—इति ज-पाठः ।



मनन्तर्हिता मिति । 'सत्यात्' सत्यसामगानात् 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां 'तां' पुष्करपर्णेष्टका सुपदध्यात्, 'तत्' तेनानन्तर्हितत्वेन 'इमां' पृथिवीं 'सत्ये' प्रतिष्ठापयति । 'तस्मात्' एव खलु 'इयं' पृथिवी 'सत्ये' ब्रह्मणि अप्त्वोपाधिके 'प्रतिष्ठिता' दृश्यते । "तस्माद्विद्य मिति । 'उ'-शब्दोऽवधारणे । यस्मात् सत्ये प्रतिष्ठिता, 'तस्मात्' एव कारणात् अधिकरणाधिकसर्वव्ययोरभेदोपचारेण 'इय मेव' पृथिवी 'सत्यम्' । सत्यरूपता सुपपादयति— "इयं हीति । 'इयां' पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां मध्येऽपि 'इय मेव' खलु पृथिवी 'अद्वातमाम्' प्रत्यक्षतमाम्, अपारोक्ष्येणावभासमाना \* दृश्यते, तस्मादस्याः सत्यरूपत्वं बोद्धव्यम् । "किमेत्तिष्ठत्ययघादिति † आभ्यत्ययः

अथ तस्मिन् पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं ‡ विधाय पदशो व्याचष्टे— "अपामृष्ट मसीति § । "अपाः हीय मिति । 'इयं' पृथिवी उपर्यवस्थानात् 'अपां' पृष्ठवत् 'पृष्ठम्' अतो हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अपाम्' उदकानां 'पृष्ठ मसि' पृष्ठभागो भवसि । "योनिर्हीय मिति । चित्यस्याग्नेः 'योनिः' पृथिवी ; इष्टकोपादानत्वात् । हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अग्नेः' तादृशी 'योनिः'

\* आपरोक्ष्येण वर्तमाना—इति ज-पाठः ।

† पा० सू० ५. ४. ११ ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. २. २३ ।

§ "अपामृष्ट मसि योनिरये; समुद्र मभितः पिब्यमानम् । वर्द्धमानो मद्वाꣳ आ च पुष्करे दिवो मातया वरिष्मणा प्रथस्व"—इति वा० सं० ११. २६ ।

अस्येति प्रथमपादार्थः । “समुद्रो हीमा मिति । ‘इमां’ पृथि-  
 वोम् ‘अभितः’ सर्वतः , पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पिन्वते’  
 सिञ्चति । “पिपि सेचने”—इति \* धातुः । महच्छन्दस्य व्याख्यानं  
 ‘महीयस्व’—इति । “महोङ् वृद्धौ”—इति † धातुः , कण्ठादिः ।  
 “अनुविमाष्टीति । चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णं सुपदधानः तस्या-  
 नुलोम्येन विमार्जनं कुर्यात् । “असौ वा आदित्य इत्यादि , चतुर्थ-  
 पादव्याख्यानम् । “नो हैत मन्य इति । ‘दिवोऽन्य’ द्युलोकव्यति-  
 रिक्तोऽन्यः ‘वरिमा’ भाववाचिना तद्वान् लक्ष्यते , उरुतरः पदार्थः ।  
 ‘एनम्’ अग्निं ‘नो’ खलु ‘यन्तु मर्हति’ । तथाच “दिवो मात्रया  
 वरिण्या”—इति “इत्यभावे तृतीया”—इति‡ व्याख्यातं भवति ; अतो-  
 ऽयं मर्थः सम्पद्यत इत्याह—“द्यौर्भूत्वेति । हे पुष्करपर्ण ! त्वं ‘द्यौः’  
 द्युलोको ‘भूत्वा’ ‘एनम्’ अग्निं ‘यच्छ’ यमय ‘इति’ तात्पर्यार्थः ॥

छन्दोद्वारेणैतत् प्रशंसति— “स्वराजोपदधातीति । उत्तरार्धे  
 वैराजपादाभ्यां हे अक्षरे अधिके, तदाधिक्यं स्वराडाख्यस्य छन्दसो  
 लक्षणम् ; “द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ”—इति-§-स्मरणम् । स्वायत्तं  
 राजते ईष्टे इति स्वराट् , स्वतन्त्रेश्वरः , तस्य कर्म ‘स्वाराज्यम्’ ;  
 ‘अपां’ सम्बन्धिं यत् स्वाराज्यं तदेव पुष्करपर्णम् ; अतस्तस्य  
 स्वराजोपधानं युक्तं मिति भावः । “सादयित्वेत्यादिकं प्रागु-  
 क्तार्थम् ॥ ८

\* धा० भ्वा० प० ५८८ ।

† “महोङ् पूजायाम्”—इति क० व्या०. ३६ धा०

‡ पा० सू० २. ३. २१ ।

§ पि० छ० सू० १३० ४ख० द्रष्टव्यम् ।

आकाशात्मना सुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डला-  
 त्मना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते— “अथ रुक्म मिति \* ।  
 ‘अथ’-शब्दः पुष्करपर्णीप्रधानानन्तर्यार्थः । रुक्मस्यादित्यात्म-  
 कत्वं सुपपादयति— “एष होमा इति । ‘एषः’ एव परिदृश्य-  
 मानः , ‘हि’ ‘असौ’ ‘आदित्यः’ ‘इमाः सर्वा प्रजाः’ ‘अतिरोचते’ ।  
 अतो रोचत इति व्युत्पत्त्या रुच-धातोः पचाद्यचि रोच इति तस्य  
 नामधेयं सम्पद्यते , तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इति ब्रुवते ; परोक्ष-  
 प्रियत्वाद्देवानां मित्वर्थः । रुक्मस्य प्रकृतिद्रव्य माकृतिविशे-  
 षञ्च दर्शयति— “स हिरण्यमय इति । ‘सः’ रुक्मः सुवर्णमयः  
 कार्यः । दाण्डिनायनादिसूत्रे † निपातनाश्रयटि हिरण्यशब्द-  
 स्यान्त्ययकारलोपः । ‘परिमण्डलः’ वर्तुलाकृतिः । ‘एकविंशति-  
 निर्बाधः’ एकविंशतिसङ्ख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः । “तस्योक्त  
 इति । ‘तस्य’ एकविंशतिसङ्ख्यायोगस्य “द्वादशमासाः पञ्चर्त्तव  
 इत्यादिना सुतिः प्रागान्नातेत्वर्थः ‡ । उपधानसमये निर्बाधाना  
 मधोभागेऽवस्थानं यथा भवति तथा कर्त्तव्य मिति विधत्ते—  
 “अधस्तान्निर्बाध मिति § । तस्य कारणं माह— “रश्मयो वा  
 एतस्येति । सूर्यमण्डलस्याधस्ताद् भागे हि रश्मयो निः-  
 सरन्ति , अतो रश्म्यात्मकानां निर्बाधानां मधस्ताद् भागे करणं  
 युक्तं मिति ॥ १० ॥

\* का० श्री० सू० १७. ४. २ ।

† पा० सू० ६. ४. १०४ ।

‡ इका० २. १. ३ (इभा० ८६८०) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्री० सू० १७. ४. २ ख ।

तस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—“तं पुष्करपर्णे इति \* ।

पुष्करपर्णस्य योनिरूपत्वं प्रागुक्तम् † ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रुक्मोपधानं स्तौति—“यद्देवेति । ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयम् । तद्रूपतां पुष्करपर्णस्योपपादयति—“इयं वै पुष्करपर्ण मिति । ‘यो वा अस्या मित्यादि । ‘यः’ खलु ‘अस्यां’ पृथिव्याम् ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठितो न भवति , ‘सः’ दूर-देशे ‘सन्’ वर्त्तमानः ‘अपि’ ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठारहितो निरा-लम्बनः ‘एव’ भवति । यदेव माकाशे वर्त्तमानस्य सूर्यस्य पृथिव्या मनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णे उपधानेन ‘एनं’ रुक्मरूपमादित्यम् ‘एतम्’ ‘अस्यां’ पृथिवीरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’ ‘प्रतिष्ठापयति’ ॥ १२ ॥

एतदेव रुक्मोपधानस्य पुष्करपर्णाधिकरणत्वं मात्स्यायिकया पुष्करनामनिर्वचनेन प्रतिष्ठारूपतां ब्रुवन् स्तौति—“यदेव पुष्करपर्ण इत्यादिना । ‘नास्तृषि’ न खल्वह मद्यापि हव मंहिसिष मिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः । सः ‘इन्द्रः’ अनन्तरम् ‘अपः प्राविशत्’ । ‘ताः अब्रवीत्’ अहं हवाद् ‘विभेमि’ विभ्यतो मम ‘पुरम्’ भयरहित मावासस्थानं हे ‘आपः ! यूयं ‘कुरुत’ । आपश्चेतद्वचः श्रुत्वा ‘यः’ स्वकीयो ‘रसः’ प्रातिस्विकः ‘आसोत्’, ‘त मूर्ध्नि समुदौहन्’ उदक्षिपन् । त मेव रसं पुष्करपर्णात्मना परिणतं निवासस्थानं मकुर्वन् । यस्मादेवं पूः अक्रियत , ‘तस्मात्’ तस्य ‘पूष्करम्’-इति नाम सम्पन्नम् । पूः क्रियते

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

† इहेव सप्तमकाण्डीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( २४८ पृ० ) ।

अनेनेतिव्युत्पत्तेः पुष्कर मिति प्रयोक्तव्ये पुष्कर मिति प्रयो-  
गतु पारोक्ष्यकरणायेति सङ्गहेषार्थः । एवं पुष्करनामनिर्वचनं  
कृत्वा प्रकृते योजयति— “तद्यत् पुष्करपणं इति । ‘अस्य’  
अस्मै इन्द्राय ‘य मेव’ ‘एतं’ रसम् ‘आपः’ पुरा ‘समुदौहन्’ समुत्-  
क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरम् ‘अस्मै’ एवेन्द्राय यां ‘पुरं’ पुष्करपर्णाकि-  
काम् ‘अकुर्वन्’, ‘तस्मिन्नेव’ उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थितः  
मिन्द्रशब्दाभिधेयम् ‘एनं’ सूर्यम् ‘एतत्’ एतेन ‘प्रतिष्ठापयति’  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति— “ब्रह्मजज्ञान-  
मिति \* । ननु षड्भावविकाररहित मोपनिषदं ब्रह्म †, तत्  
कथं तस्य जनिक्रियायोगो मन्त्रपदेन प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे— “असौ वा आदित्य इति । अत्र प्रादुर्भावः  
एव जनैरर्थो न, तूत्पत्तिः । अयं मर्थः । तदुक्तविधं ‘ब्रह्म’  
सगुणं सत् ‘असौ’ व्युलोकस्थः ‘आदित्यः’ भूत्वा प्राथम्यं  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थां दिशि ‘जायते’ उदेति । जज्ञान मिति  
जनेर्लिटः कानजादेशे रूपम् । द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह—  
“मध्यं वा इति । सोमस इति पदे यत् सीमेति प्राति-  
पदिकम्, तन्मध्यं माचष्टे । सुष्ठु रोचन्ते सविद्वप्रकाशेन  
दीप्यन्त इति ‘सुरुचः’ पृथिव्यादिलोकाः । “असावादित्यो  
वेन इति । यद्वेनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति—

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ।

† “षड्भावविकारा भवन्तीति वार्थ्यायणिः । जायतेऽस्ति विप-  
रिक्तामते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति”—इति निरु० १. १. ३ ।

“यद्वा इति । यस्मात् कारणात् ‘प्रजिजनिषमाणः’ प्रज-  
नितुं प्रादुर्भवितुं मुदेतुं मिच्छन्, ‘अवेनत्’ क्कान्तिरुक्तोऽभ-  
वत्, ‘तस्मात्’ वेनति दीप्यत इति ‘वेनः’ इति सूर्यस्य नाम सम्य-  
ञम् । अत एव यास्कोऽप्याह स्म— “वेनो वेनतेः कान्ति-  
कर्मणः”—इति \* ।

इत्थं पदार्थानुक्ता वाक्यार्थं माह— “तानिष इति ।  
‘तान्’ सुबुच्-शब्दाभिधेयान् पृथिव्यादिलोकान् ‘एषः’ सूर्यः  
‘सौमतः’ मध्यतो ‘व्यावः’ व्यावृणोत्, उदयेन प्रकाशितवान् ।  
वृणोतेर्लुङि “मन्त्रे घसेत्यादिना च्चेर्लुक् †, “छन्दस्यपि दृश्यते”—  
इत्याडागमः ‡ । एतस्य पदस्योक्तार्थपरतां व्याचष्टे— “विह-  
न्वमुदेतीति । तृतीयपादं मनूद्य व्याचष्टे— “स बुध्ना इति ।  
• बुध्नो मूलम्, तत्र भवाः ‘बुभ्याः’ पादाः । ते च ‘अस्य’ सूर्यस्य  
‘दिगात्मकाः; रश्मिप्रसरणहेतुत्वात् । ‘ताः’ बुभ्यशब्दाभिधेया दिशः  
‘उप’ समीपे स्वगतिभेदेन निर्मिमोत इति, ‘उपमाः’ सूर्यः । तथा  
‘ताः’ दिशोऽनुलक्ष्य ‘वितिष्ठते’ विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतु-  
त्वेनावितिष्ठत इति । ‘विष्ठाः’ तिष्ठतेः, “आतो मनिजिति §  
विच् । एवम्भूतः सूर्यः ‘सतः’ लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य,  
‘असतः’ अभावात्मकस्य ‘च’ योनिम् उत्पत्तिस्थानं ‘विवः’ विह-

\* निर० १०. ४. १ ।

† पा० सू० २. ४. ८० ।

‡ पा० सू० ६. ४. ७३ ।

§ पा० सू० ३. २. ७४ ।

योति । सदसच्छब्दयोर्भावाभावपरतां व्याचष्टे— “यच्च अस्ति यच्च नेति \* ।

हृद्दोहारिणं प्रशंसति— “त्रिष्टुमेति । “त्रैष्टुभो ह्येष इति । “गायत्री वै पृथिवी , त्रैष्टुभ मन्तरिक्ष मित्यादि-  
श्रुतेः । द्वितीयस्थानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः । तत्र सञ्चरन् । त्रिष्टुप् हृद्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेः † इन्द्रात्मक एष सूर्योऽपि त्रैष्टुभः । “सादयित्वेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

रुक्ममध्ये हिरण्यमयपुरुषस्योपधानं विधत्ते— “अथ पुरुष मिति ‡ । “स प्रजापतिरित्यादि । ‘सः’ उपधेयः पुरुषः ‘प्रजापतिः’ स्थूलप्रपञ्चाभिमानिविराडात्मकः , स एवाग्निः सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिहिरण्यगर्भात्मकः , यजमानस्य तद्रूपगामेः यजमानात्मकोऽपि § स इत्यर्थः । तस्य हिरण्यविक्रतित्वं विधाय स्तौति— “स हिरण्यमय इति । “ज्योतिर्वा इति । भास्वरूपोपेतत्वात् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम् । तथा अन्तः-  
न्त्याग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्तिविरहात् ‘अमृतं’ अमरणस्वभावं ‘हिरण्यम्’ । चीयमानोऽग्निरपि एतदुभयात्मक इति ( तस्य ) हिरण्यमयत्वं युक्तमित्यर्थः । पुरुषरूपता मनूष्य प्रतिपादयति—  
“पुरुषो भवतीति । ‘हि’ यस्माच्चित्वाग्निरूपेण संस्कर्त्तव्यः प्रजा-

\* वा० सं० १३. ३ ।

† तै० सं० १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

§ यजमानोऽपि—इति ज-पाठः ।

पतिः सुखश्रियः, तत्प्रतिरूपत्वाच्चिरस्थायस्योपशेयस्य पुरुषाकति-  
र्युक्तित्यर्थः ॥ १५ ॥

एतदेव पुरुषोपधात् मन्व्य मन्त्रः प्रस्थादात्मकसूक्ष्मशरीर-  
स्थापनरूपेण स्वीति — “यदेवेति । “प्रजापतेर्विस्त्रस्तादित्यादि ।  
प्रजापतिर्हि पुरा विस्त्रस्ताशरीरोऽभूत्, तन्माविधात् तस्मात्  
‘रम्या’ रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा ‘तनूः’ ‘मध्यतः’  
शरीरमभ्यात् ‘उदक्रामत्’ उर्ध्वं निरगमत् । ‘तस्मान्’ जघ्नीं  
निष्क्रान्तायां सत्याम् ‘एनं’ प्रजापतिं चक्षुराद्यभिमानिनः ‘देवाः’  
आदित्यादयः ‘अजहुः’ अत्यजन् । “ओ हाक् त्वागे”—इति \*  
धातुः । ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ तत्पुत्राः ‘यत्र’ यस्मिन्  
प्रदेशे ‘समस्कुर्वन्’ चित्वाग्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवा-  
येऽपीति † क्तात् पूर्वः सुट् । ‘तत्’ तत्र ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतां’  
निष्क्रान्तां रम्यां तनूं ‘मध्यतः’ ‘अदधुः’ स्थापय्याचक्रुः । ‘अस्य’  
‘प्रजापतेः’ ‘तस्यां’ तस्यां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवताः ‘अरमन्त’  
पुनः प्रविश्यातिष्ठन्नित्यर्थः ॥

उक्तार्थोपजीवनेन हिरण्यनामनिर्वचनं करोति— हितयां  
स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां यस्माद् ‘देवा अर-  
मन्त’, ‘तस्मात्’ हितेऽस्मिन् रमत इति व्युत्पत्त्या हिरण्य मिति  
नाम सम्यक्, तदेव पारोक्ष्येण हिरण्यमित्युच्यते । पृषोदरा-  
दित्वात्तद्रूपसिद्धिः । अत एव “हिरण्यं कस्मादिति प्रक्रम्योक्तं  
यास्केन— “हितरमणं भवतीति वा”—इति ‡ ॥

\* धा० जु० प० ८ ।

† पा० ६. ३. १४० सू० वा० १ ।

‡ निब० ३. ३. १ ।



एवं पुराकल्प मभिधाय प्रकृते योजयति— “तथैवास्मिन्नि-  
त्यादिना । ‘अयं’ यजमानः । शिष्टं स्पष्टम् । का पुनरसौ रम्या  
तनू रिति ता माह— “प्राणो वा अस्येति । प्राणापानादिपञ्च-  
हृत्वात्मकः क्रियाशक्त्यात्मकः ‘प्राणः’, ‘अस्’ प्रजापतेरेव ‘रम्या  
तनूः’ अतस्तत्स्थापन मेव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्तौति— “तं  
रुक्म इति । यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितः \* , तस्य मध्ये ‘तं’  
हिरण्यं पुरुष सुपदध्यात् । आदित्यमण्डलात्मको हि ‘एष  
रुक्मः’ आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्यः पुरुष आस्ते ।  
अत एव श्रूयते— “य एष अन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषो  
दृश्यते , हिरण्यश्चतुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात् सर्व, एवं  
सुवर्णः”—इति † । एष एवोपधीयमानो हिरण्यः पुरुषः ;  
रुक्मरूपे आदित्यमण्डले ‘त मेव’ पुरुष सुपहितवान् भव-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिसुखत्वं विधत्ते— “उत्तान सुप-  
दधातीति । एतदेवोपरिष्ठात् सुखत्वं मास्थायिकया प्रति-  
पादयति— “एतदे देवा इत्यादिना । ‘यदि’ खलु ‘इमौ’  
रुक्मपुरुषौ ‘अर्वाञ्चौ’ अधोमुखौ ‘उपधास्यामः’, उभयोस्तेजसोः  
संसृष्टत्वेन प्रवक्षतरौ अधोमुखं ‘सर्व मेवेदं’ जगत् ‘प्रधक्षतः’  
प्रदग्धं करिष्यतः ॥

\* “रुक्मश्च यः कण्ठे प्राग् धृतः”—इति कर्काचार्यः । का० श्रौ०  
सू० १६. ५. १ द्रष्टव्यम् । इहापि षष्ठकण्ठे ५. १. २ ( इभा० ३७१८० ) ।

† छान्दोग्य-ब्रा० ३. ६. ६ ।

एतद्दोषपरिहारार्थं 'यदि' स्वस्वेतौ 'पराक्षौ' पराक्षुखौ  
 उपधास्यामः, तथा सति 'पराक्षावेव' पराक्षुखावेव सन्तौ  
 'तस्मतः' सूर्यमण्डलात् ये उपरितना लोकाः, तत्रैव सूर्यप्रकाशः  
 स्यात्, न त्वक्षस्त्रनेकु लोकेष्वित्यर्थः । 'प्रक्षयतः'—इति प्रपूर्वाद्  
 दहतेर्लटः सचादेशः \* । 'तस्मात्'—इति "तप सन्नापे"—इत्य-  
 क्षात् † । यदि तर्हि 'सम्यक्षौ' परस्परभिमुखौ तौ रुक्मपुरुषौ  
 उपदध्यात्, तदा एतौ 'अन्तरैव' एतयोर्मध्ये एव तदीयं  
 'ज्योतिर्भविष्यति', तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तानां च लो-  
 कान् न प्रकाशयेताम् ‡ । 'अथो' अपि च 'अन्योन्यं हिंसिष्यतः'  
 रुक्मस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत । तेन च रुक्म-  
 ज्योतिरिति परस्परं हिंसेदित्यर्थः । कथं तर्हि तावुपधेया-  
 विति, तत्राह— "तेऽर्वाच्च मिति । 'ते' देवाः 'अन्य मेकं' सूर्य-  
 मण्डलात्मकं रुक्मम् 'अर्वाच्चम्' अधस्तात्त्रिर्बाधम् 'उपादधुः' ।  
 'अन्यं' पुरुषं 'पराक्षम्' पराक्षुखं उत्तानम् 'उपादधु' इत्यनुषङ्गः ।  
 यस्मादेवं तस्मात् 'एषः' मण्डलात्मकः सूर्यो 'रश्मिभिः' किरणैः  
 अर्वाङ् अधोमुखः 'तपति' । स 'एवः' रुक्मात्मकः । 'एषः'  
 प्राणात्मको मण्डलान्तर्वर्त्ती 'पुरुषः' प्राणिनां 'प्राणैः' सह 'ऊर्ध्वः'  
 वर्त्तते । अत एवान्यत्राज्जातम्— "योऽक्षौ तपन्नुदेति, स सर्वेषां  
 भूतानां प्राणानादायोदेतीति ॥

तस्य प्राप्नुखत्वं विधाय स्वीति— "प्राक्ष मिति । त

\* "दह भस्त्रौकरणे"—इति भ्वा० प० ६६१ धा० ।

† भ्वा० प० ६८५ धा० ।

‡ 'प्रकाशयेत्' इति ज ।

मुत्तानं पुरुषं 'प्राञ्चं' प्राञ्चुखं मुपदध्वात् । 'हि' यस्मात् 'एषः' प्राञ्चुखः प्राक्शिरस्कः 'चीयते' तस्माद्विरण्मयपुरुषस्यापि तद्यत्नं युक्तम् । पुष्करपर्णीपधानं प्रसुत्य , एतत् सर्वं कात्यायनोऽप्यसूचयत्— "तस्मिन् रक्ता मधःपिण्डं ब्रह्म जज्ञान मित्युत्तानं प्राञ्चं हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भं इति"—इति \* । हिरण्यगर्भो द्रव्यवस्तुन्देति द्वाभ्यां मृग्यां हिरण्यमयपुरुष मुपदध्वादिति सूचार्थः ॥ १८ ॥

प्रथमां पादशोऽनूद्य व्याचष्टे— "हिरण्यगर्भं इत्यादिवा † । हिरण्यगर्भो ह्येष इति । 'एषः' हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्ती 'हिरण्यगर्भः' । अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरी हि हिरण्यगर्भः । स च हिरण्यमण्डलमध्ये गर्भवदवस्थानाद्विरण्यगर्भं इत्युच्यते ॥

अयं मर्थः—, 'अग्रे' सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः, प्रथमं 'प्रावर्त्तत', प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः । अत एवान्यत्र श्रूयते (?)— "स वै शरीरी प्रथमः , स वै पुरुष उच्यते इति ‡ । "एष ह्यस्येत्यादि । 'एषः' खलु हिरण्यगर्भः 'अस्य सर्वस्य' भूतभौतिकाल्मकस्य कृत्स्नस्य जगतः 'जातः' जातावस्य एव सन् 'एकः' असाधारणः 'पतिः' नियन्ता 'आसीत्' । "एष वै दिवश्चेत्यादि । 'एषः' खल्वेत्यादित्यात्मको हिरण्यगर्भो 'दिव' दुर्लोकं 'पृथिवी' भूमिं 'च' प्रकाशनवर्षणादिध्यापारेण 'दाधार' धृतवान् । "कस्मै

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २, ३ ।

† वा० सं० १३. ४ ।

‡ मार्क० पु० ६५. ६४ ।

देवायति । किंशब्दादिह निरुक्तानिरुक्तकृत्स्नजगदात्मकत्वाद्  
ईदृशेषु इति निर्वक्तुं मशक्यः । प्रजापतिरेवोच्यते इत्याह—  
“प्रजापतिर्वैक इति ॥ १८ ॥

द्वितीया नृच मन्वथ व्याचष्टे— “द्रष्टव्यस्कन्देति \* । “असौ वा  
इत्यादि । द्रवानुदविन्दून् किरणैः स्नाति भक्षयतीति ‘द्रष्टोऽसावा-  
दित्यः’ । ‘स दिवश्च पृथिवीं च’ ‘स्कन्दति’ गच्छति शोषयति वा ।  
“स्कन्दिर् गतिशोषणयोः”—इति † धातुः । स्कन्दनप्रकारविशेष  
मभिनयेन दर्शयति— “इत्यमू मितिमा मिति । ‘इति’ अनेन  
उर्द्धगमनप्रकारेण ‘अमु’ दिवं व्याप्नोति । ‘इति’ अनेन प्रका-  
रेण अधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेन ‘इमां’ पृथिवीं व्याप्नो-  
तीत्यर्थः । द्वितीयपाद मन्वथ व्याचष्टे— “इमं च योनि  
मिति । ‘इमञ्च’ आहवनीयाख्यं योनिम्, ‘यश्च पूर्वः’ चित्तो  
गार्हपत्याख्यः, तदुभयं व्यावापृथिव्यात्मक मसावादित्यो व्याप्नोति  
‘इति’ ‘एतत्’ अर्थपरतां व्याचष्टे । “लोकद्वयरूपता मुक्ता  
चित्तिद्वयरूपता माह— “अथो इति । अपि च ‘एतर्हि’  
एतस्मिन् समये ‘यदिदं चीयते’ आहवनीयाख्यं ‡ स्थानम्,  
‘यच्चादः’ विप्रकष्टं § गार्हपत्याख्यं स्थानं ‘पूर्वं मचीयत’,  
एतदुभयं हिरण्ययपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः । तृतीय-  
पाद मन्वथ व्याचष्टे— “समानं योनि मिति । “समानं

\* वा० सं० १३. ५ ।

† भा० प० ६७६ धा० ।

‡ ‘आहवनीयस्य’—इति ज-पाठः ।

§ काश्यपेन पदं ज-पुस्तके ।

ह्येष इति । ‘एषः’ सूर्यः ‘समानम्’ एकविधम् ‘एतं’  
 ‘योनिं’ स्थानम् ‘अनु’-लक्ष्य ‘सञ्चरति’, प्राच्यां दिशि उद्यत्  
 एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः । चतुर्थपाद मनुष्य  
 व्याचष्टे— “द्रुप्तं जुहोमीति । तं सञ्चरन्तं ‘द्रुप्तं’ प्राच्यां  
 दिश्युद्यन्तम्, तद्वतिरित्तासु सप्तसु दिक्षु ‘जुहोमि’ प्रतिष्ठाप-  
 यामि । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनोपपत्त्यम् \* , “कर्मप्रवचनीययुक्ते”,  
 -इति † ‘होचा’-शब्दात् द्वितीया ॥ २० ॥

मन्त्रद्वित्व मनुष्य स्तौति— “हाभ्यां मिति ‡ । व्याख्यातचर  
 मेतत् ॥

मन्त्रगतच्छन्दोद्वारेण स्तौति— “त्रिष्टुभ्या मिति । आदि-  
 त्यस्य त्रैष्टुभत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । सादयित्वेत्यादिकं आगु-  
 ञ्कार्यम् ॥ २१ ॥

पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानं विधत्ते— “अथ साम-  
 गायतीति § । ‘अथ’-शब्दो हिरण्यमयपुरुषोपधानानन्तर्ये ।  
 तस्य सामगानस्य पुरुषगतवीर्योपादानहेतुत्वं मास्थायिकया  
 प्रतिपादयति— “एतद्वा इत्यादिना । एतस्मिन् खलु समवे  
 ‘देवाः’ ‘पुरुषं’ हिरण्यमयम् ‘उपधाय’ ‘तम्’ पुरुषम् ‘एतादृशम्’  
 एवंपुरुषम् ‘एव’ ‘अपश्यत्’ । कौटुश मिति तदाह— “यथै-  
 तदिति । ‘यथा’ खलु ‘एतत्’ ‘शुष्कं’ नीरसं ‘फलकम्’ काष्ठ-  
 मयम्, तद्वन्निर्वीर्यं मेवापश्यन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

\* पा० सू० १. ४. ६० ।

† पा० सू० २. ३. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ४, ५ ।

§ का० औ० सू० १७. ४. ४ ।

“तेऽब्रुवन्निति । ‘ते’ देवाः अन्योऽन्यम् ‘अब्रुवन्’—  
 ‘यथास्मिन्’ पुरुषे ‘वीर्यं’ प्राणादिलक्षणं ‘दधाम’ स्थापयाम,  
 तत्प्रकारं हे देवाः ! यूपम् ‘उपजानोत’ । ‘एव मालोच्य ‘ते’  
 देवाः पुनः ‘अब्रुवन्’ उपज्ञाहेतुत्वेन ‘चेतयध्व मिति’ । एतद्  
 वाक्यं श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेति । चितिः  
 अत्र ज्ञानविशेषः । किमर्थं चेतयध्व मिति प्रार्थ्यते ? इत्या-  
 शङ्क्य तस्य प्रयोजनं मुक्तम्— “तदिच्छतेति । यथा खलु  
 अस्मिन् शुष्कफलकवन्नीरसे पुरुषे वीर्यं स्थापयाम, तं मुपाय  
 मिच्छतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

“ते चेतयमाना इति । एवं परस्परं मालोच्य ‘चेतयमानाः’  
 ‘मीमांसमानाः’ ‘ते’ देवाः वीर्याधानार्थम् ‘एतत् सामापश्यन्’,  
 दृष्ट्वा च ‘तत्’ साम ‘अगायन्’, तेन च ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे  
 ‘वीर्यम्’ अस्थापयन् ॥

‘इत्थं सामगानस्य वीर्याधानहेतुता । माख्यायिकया प्रति-  
 पाप्य, तद्वृत्तान्तेनेदानीं मपि पुरुषे सामगानस्य तद्देतुता  
 माह— “तथैवास्मिन्निति । यथा देवास्तथैव ‘अयं’ यजमानः ।  
 सिद्धं मन्यत् ॥

“पुरुषे गायतोति । ‘पुरुषे’ अन्वारब्धे सति तत् साम-  
 गातव्यम् । ‘तत्’ तथा सति तस्मिन् हिरण्यपुरुषे सामलक्षणं  
 ‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति । “चित्रे गायतोति । चित्रलिङ्गके  
 मन्त्रे “चित्रं देवानां मित्वादिके \* । तदुक्तं कर्कभाष्ये— “पुरुषे

चित्रे साम गायतीति कात्वयमीन पुरुष इति सप्तमोनिर्देशा-  
दाशब्दे पुरुषे चित्रे चित्रलिङ्गके \* मन्त्रे साम गायति—इति † ।  
“सर्वाणि होत्यादि । लोके यावन्ति हि ‘चित्राणि’ विचित्र-  
रूपाणि सन्ति , तत् सर्वसमुदायरूपः चित्त्वः ‘अग्निः’ ; अत-  
श्चित्रे गानं युक्त मिति । “त सुपधायेत्यादि । ‘तं’ हिरण्य-  
पुरुषम् ‘उपधाय’ ‘न पुरस्तात् परीयात्’ पूर्वस्थां दिशि नाति-  
क्रमेत् ‡ । परिगमने हि ‘अयम्’ अग्निः ‘मा’ मां ‘नेत्’ नैव  
‘हिनसत्’ हिंस्यात् , बाधेत । हिनस्तेल्लेष्टि अडागसः § ॥ २४ ॥

अथ यजमानकर्तृकं पुरुषस्योपस्थानं विधत्ते— “अथ  
सर्पनामैरिति । “नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामाख्या  
मन्त्राः ॥ । सूत्रितं हि— “उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्वि-  
तोति ¶ । अथैतत् सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्थापनहेतुत्वेना-  
ख्यायिकया प्रतिपादयति— “इमे वै लोका इत्यादिना ।  
‘यदिदं’ लोकत्रयवर्त्ति किं मपि प्राणिजात मस्ति , ‘अनेन  
सर्वेण’ सह पृथिव्यादयः ‘ते लोकाः सर्पन्ति’ । तस्मात् सर्पण-  
निमितात् सर्पणशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः । तथा चित्वाग्नि-

\* ‘चित्रलिङ्गके “कयानश्चित्रः”—इत्यस्याम्—इति च तत्र वृत्तिः ।

स च मन्त्रः वा० सं० २७. ३६ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. ४ आख्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ५ ।

§ पा० सू० ३. ४. ७, ३. १. ३४, ३. ४. १७, ३. ४. २४ ।

॥ वा० सं० १३. ६—८ ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. ४. ६ ।

रिति 'यत्' अस्ति , 'एषः' एव खलु सर्वेषां 'देवानाम्' 'आत्मा' ;  
 . अतः 'ते देवाः' 'एत मात्मान्' हिरण्यपुरुष मुपधाय 'अवि-  
 भयुः' भवं प्राप्ताः । "यद्देन इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम् ।  
 यदि खलु 'नः' अस्माकम् 'अनेनात्मना' सह 'इमे लोका न सपैयुः'  
 (॥२५॥), तर्ह्यस्मदीयस्मात्मानो लोकसम्बन्धविरहादाश्रयो न स्यादि-  
 त्वेवं भोताः 'ते' देवाः 'एतानि' नमोऽस्त्वित्यादीनि 'सर्पनामानि'  
 'अपश्यन्' । इहा च 'तैः' उपस्थानं कृतवन्तः । तेन चोपस्थानेन  
 'अस्मै' हिरण्यपुरुषरूपायाम्नये 'इमान्' पृथिवीत्यादि-'लोकान्'  
 'अस्थापयन्', 'तैः' लोकैरेनम् 'अनमयन्' वशीकृतवन्तः । "यद-  
 नमयन्निति , सर्पनामास्थानिर्वचनम् । सर्गाणां नमनहेतुत्वाच्च  
 सर्पनामानौत्तर्यः । "तथैवेतदित्यादिना आख्यायिकया सिद्धा-  
 र्थस्य दार्ष्टान्तिके योजनम् , तच्च व्याख्यातप्रायम् । "तथो  
 हास्येति । सर्पनामभिरुपस्थाने सति 'अस्य' यजमानस्य 'एते'  
 लोकाः 'एतेन' चित्वाग्निरूपेण आत्मना 'न सर्पन्ति', किन्त्वव-  
 तिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ २५ , २६ ॥

सर्पनामभिरुपस्थान मनुष्य प्रकारान्तरेण स्तौति— "यद्दे-  
 वेति । यदिदं किञ्च स्यावरजङ्गमात्मकं प्राणिजात मस्ति , 'तत्'  
 सर्वम् 'एषेव लोकेषु' 'सर्पन्ति' चलति । सर्पणाधिकरणत्वात्  
 सर्पा लोकाः । 'तत्' तथा सति सर्पनामास्थैर्मन्त्रैः 'उपतिष्ठते'  
 इति यदस्ति , 'तत्' तेन 'एषेव लोकेषु' वर्तमानं नाष्टादिकं  
 शमयति । 'नाष्टा' नाशकारिणी आसुरी प्रजा , 'व्यहरः' व्यधन-  
 शीलो दन्दशूकादिः, 'शिमिदा' विषहेतुर्लूतावृश्चिकादिः ॥ २७ ॥

तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्र मनुष्य तात्पर्यं व्याचष्टे—



“नमोऽस्त्वित्यादिना \* । “य एवैष्विति । ‘एषु एव त्रिषु लोकेषु’ ‘ये’ सर्पणशीला दन्दशूकाद्याः प्राणिनः, ‘तेभ्य एतत् नमस्कारोति’ इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । “पृथिवी मन्विति । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनोपत्वम् । मन्त्रार्थो निगदसिद्धः ॥ २८ ॥

द्वितीयं मन्त्र मनूय व्याचष्टे — “या इषव इति । “यातुधान-प्रेषिता इति । यातुधानैः राक्षसैः प्रेषिताः खलु ‘एके’ सर्पाः ‘दंशन्ति’ खादन्ति । “दंश दंशने” †, “दंशसञ्जसञ्जां शयीति ‡ नलोपः । अतस्ते ‘यातुधानानाम्’ ‘इषवः’ बाणाः, ईदृग्विधाश्च ‘ये’ सर्पाः, ‘ये वा ववस्यतोरनु’ अनुलस्य वनस्पतिषु वर्तन्ते, ‘अवटेषु’ विलेपु शेरते ये सर्पाः, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः’—इत्यनेन मन्त्रेण नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तृतीयं सर्पनाम मन्त्र मनूय मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे — “ये वामीति । सर्वत्र ‘वा’-शब्दस्यार्थे । ‘दिवः’ द्युलोकस्य सम्बन्धिनि ‘रोचने’ रोचमाने स्थाने, ‘ये’ वामी सर्पाः ‘सूर्यस्य रश्मिषु’ च वर्तन्ते, ‘येषां’ सर्पाणाम् ‘असु’ उदकमध्ये ‘सदः’ सदनं स्थानं ‘जतम्’ अस्ति, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति’ ।

“यत्र-यत्रेत्यादि, मन्त्रत्रयतात्पर्यकथनम् § । ‘यत्र यत्र’ देशे ‘एते’ सर्पन्ति वर्तन्ते, ‘तत्’ तत्रैव ‘एभ्यः’ सर्पेभ्यो नम इति । त्रिष्वपि मन्त्रेषु पठितानां नमः-शब्दानां सङ्गृह्यार्था पुनरुक्तिः— ‘नमो

\* वा० सं० १३. ६ ।

† ‘न-लोपे’ सञ्जिसाहचर्याद् भादेरेव ग्रहणम्—इत्यादिह दूषितः ।

‡ पा० सू० ६. ४. २५ ।

§ वा० सं० १३. ६—८ ।

नम इति'—इति । पुनःपुनर्नमःशब्दप्रयोगेण 'एतन्नमस्कारोति' । नमस्कारं स्तौति— “यज्ञो वै नम इति । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो 'यज्ञः' । स यथा देवानां प्रीतिकरः, तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यज्ञात्मकता । तथा च यज्ञात्मकेनैव नमस्कारेण 'एनान् सर्पान् नमस्यति' पूजयति । नमसः पूजाया मर्थे “नमो वरिव इति \* क्वच् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह— “तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि यज्ञात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणात् ‘अयन्नियं यज्ञानहं हे देवदत्त ! नमस्तुभ्यमित्येवं 'न ब्रूयात्' । तस्य वचनस्य यन्नित्यत्वमाविष्करोति— “यथा हैनमिति । 'यथा' खलु 'एनम्' अंतिमि 'ब्रूयात्' “यज्ञस्ते” कल्पितः 'इति', 'तादृक् तत्' सदृशमेव तत् नमस्त इति वचनम् ॥ ३० ॥

मन्त्रस्य त्रिसङ्ख्या मुपजीव्य † स्तौति— “त्रिभिर्मुपतिष्ठत इति ‡ । ‘त्रय इमे लोकाः’ पृथिव्यादयः, अतस्तत्तद्व्याया मन्त्रचित्त्वमित्यर्थः । “अथो त्रिददग्निरित्यादिना मन्त्रचित्त्वस्य प्रयोजनान्तरप्रतिपादनम् । § “त्रिददग्निरित्यादि, प्राग्व्याख्यातम् । “तावतैवास्मा इति । ‘अस्मै’ हिरण्यमुखाय ‘तावता’ तस्याग्नेः परिमाणेनैव ‘इमान् लोकान्’ ‘एतत्’ एतेनोपस्थानेन ‘स्थापयति’ । ‘अथो’ अपि च ‘तावता’ तत्परिमाणेनैव ‘इदं’ ‘सर्वं’ जगत् तेनोपस्थानेन ‘शमयति’ ॥

\* पा० सू० ३. १. १६ ।

† वा० सं० १३. ६—८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ६ ।

तच्चोपस्थानं तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिगुणं विधाय स्वीति—  
 “तिष्ठन्नुपतिष्ठत इति । अर्द्धाकारेणावस्थानात् ‘तिष्ठन्तीव’ खलु  
 ‘इमे लोकाः’, ‘अथो’ अपि च उपविष्टात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’  
 खलु पुरुषो ‘वोर्यतत्तरः’ अतिशयितवोर्यवान् । तस्मादुपस्थानस्य  
 तिष्ठत्कर्तृकता युक्तेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मिति । उपस्थानानन्तर्यम्  
 ‘अथ’-शब्दार्थः । ‘एनं’ हिरण्यपुरुषम् ‘अभिजुहोति’  
 अभितः सर्वासु दिक्षु उपरि होमेन संस्क्रुर्यात् । तद्व्यं  
 विधत्ते— “आज्येनेति । आहुतिपञ्चकार्यं पञ्चगृहोत माध्यं  
 ‘सुचि’ गृहीत्वा, तेनाभिजुहुयादित्यर्थः \* । “तस्योक्त इति ।  
 ‘तस्य’ पञ्चसङ्ख्यायुक्तत्वस्य स्तावको वाक्यशेषः प्राग्वज्ज्ञात  
 इत्यर्थः ॥

“सर्वतः परिसर्प मिति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘परिसर्प’  
 परिसृज्य तां तां दिशं परिक्रम्य । “आभीक्ष्ण्यं यमुल् च” † । “परि-  
 सर्पणस्य प्रयोजन माह— “सर्वाभ्य इति । ‘सर्वाभ्यो दिग्भ्यः’  
 सकाशात् ‘एनं’ पुरुषम् । गत मन्थत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रविध्यर्थं मनुवदति— “यदेवैन मिति । “कण्व  
 पाज इत्याद्यान् ‡ राक्षोघ्नान् पञ्च मन्त्रान् विधातु माख्या-  
 यिका माह— “एतद्वै देवा इति । “यद्वै न इम मिति । ‘नः’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ७ ।

† पा० सू० ३. ४. २२ ।

‡ वा० खं० १३. ६-१३ ।

अस्माकम् 'इमम्' आत्मानम् 'इह' अस्मिन्नवसरे 'नाष्टाः रक्षांसि'  
 'यत्' येनोपायेन न हन्युः', स उपायः क इति विचारितवन्त  
 इत्यर्थः । "राक्षोघ्नान् प्रतिसरानिति । राक्षसान् प्रति अस्त्र-  
 रूपेण सरन्ति गच्छन्ति इति 'प्रतिसराः' कृष्ण्य पाञ्च इत्याद्या  
 मन्त्राः \* । अत एव रक्षोहननसम्बन्धात् 'राक्षोघ्नाः' ; 'वै'-शब्दः  
 प्रसिद्धौ । सा च "अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैरित्यादिमन्त्रवर्णा-  
 दवसेया † । "तथैवेतदित्यादिना । उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहितो-  
 मन्त्रविधिः । मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखे-  
 नापि तत् प्रतिपादयति— "वज्रो वा इति । "घृतं खलु  
 वै देवा वज्रं कृत्वा सोम मघ्नन्ति ‡ ; तैत्तिरीयके प्रसिद्धं  
 'घृतस्य वज्ररूपत्व मत्र 'वै'-शब्दो द्योतयति । यद्वा आन्य-  
 स्यान्निज्वालाहेतुत्वात् वज्रत्वम् । "पञ्चर्त्तवः संवत्सर इति ।  
 हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण § । "तावतैवैतद्रक्षांसोति ।  
 यत्परिमाणविशिष्टचित्त्वोऽग्निः , तावत्परिमाणेन 'एतद्' एतेन  
 कर्मणा 'नाष्टा रक्षांसि' नाशयति । मन्त्रदेवताद्वारेण प्रशंसति—  
 "आग्नेयीभिरिति । अग्निदेवता यासां ता आग्नेय्यः , "अग्ने-  
 र्ढक्" ॥ , "टिड्ढाणञ्"-इति ¶ डीप् ॥

\* वा० सं० १३. ६—१३ ।

† ऋ० सं० ४. ४. १ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ दृश्यम्

॥ पा० सू० ४. २. ३३ ।

¶ पा० सू० ४. १. १५ ।

इन्द्रोदारेण स्तौति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वक्षो वै त्रिष्टु-  
बिति । इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् कौर्योपेतात्, प्रजापत्यवयवा-  
दुत्पत्तेश्च त्रिष्टुभो वक्षत्वम् ॥

परिसर्पणप्रकारं विधिक्षुर्विहितं परिसर्पणं मनूय स्तौति—  
“सर्वतः सरिसर्पं मिति । उक्तार्थं मेतत् \* ॥ ३४ ॥

“पश्चादग्नेरित्यादिना परिसर्पणं प्रकारो निरूप्यते । ‘अग्नेः’  
प्रथमं ‘पश्चात्’ प्रतोच्यां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन्, प्रथमेन  
मन्त्रेण पुरुषं मभिजुहोति । अयोत्तरभागे दक्षिणामुख उप-  
विष्टः सन्, द्वितीयेन मन्त्रेणाभिजुहोति । ‘अथ पुरस्तात्’  
प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टः सन्, तृतीयेन मन्त्रेण ।  
‘अथ’ यथेतं प्रतिनिवृत्त्य ‘जघनेन परीत्य’, पुरुषस्य पश्चाद्-  
भागेन परिक्रम्य, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां दिशि उदङ्मुख  
उपविष्टः, चतुर्थेन मन्त्रेणाभिजुहोति । “तद्दक्षिणावृद्धिति † ।  
एवं क्रियमाणे सति होमस्य प्रादक्षिण्येन वृत्तिरूपपञ्चा  
भवति । ‘तत्’ खलु प्रादक्षिण्यं ‘देवत्रा’ देवसम्बन्धिनि  
कर्मणि योग्यम्, ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अनुपरीत्य’ दक्षिणदिक्का-  
शात् प्रतीचीं दिशं गत्वा, तत्र ‘प्राडासौनः’ पञ्चमेन मन्त्रे-  
णाभिजुहुयात् ‡ । तथैव सति हि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एतत्’  
अभिहोमाख्यं ‘कर्म’ प्रागपवर्गं ‘कृतं’ ‘भवति’-इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

\* इहेव पुरस्तात् ( ३६८ ए० १३ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ६. १० ।

सुचोरुपधानं विधत्ते— “अथ सुचाविति \* । तत् प्रशंसति  
— “बाह्व वा इति । “सुहृदक्षिणो हस्तः , उपभृत् ‘सव्यः’  
— इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धे † सुचोर्बाहुरुपता । तथा सति  
‘एतत्’ सुगुपधानेन , ‘अस्मिन्’ द्विरस्यपुरुषे ‘बाह्व एव’  
‘प्रतिदधाति’ सन्दधाति । सुचोर्बाहुरुपताप्रसिद्धिं मभिनयेन  
दर्शयति— “इद मेवेति । ‘इद मेव’ हस्ताय प्रसृतिरूपेण ‡  
दृश्यमानं ‘कपुल्लजम्’ § सुगन्धस्थानीयम् । ‘अयम्’ एव बाहुः  
‘दण्डः’ सुक्दण्डः ; अतः सुगुपता अनयोः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः ।  
इदित्वमनूय स्वीति— “इमे भवत इति । दक्षिणोत्तरपार्श्वयो-  
स्तदुपधानं विधत्ते— “पार्श्वत इति । तत्र हेतु माह—  
“पार्श्वतो ह्येति ॥ ३६ ॥

तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः सुचो वृक्षविशेषं विधत्ते—  
“कार्श्र्मर्यमयी मिति ॥ । कार्श्र्मर्यवृक्षेण निर्मिता सुक् कार्श्र्मर्य-  
मयी । सुचस्तत्पञ्जतिता माख्यायिकया प्रतिपादयति— “एतद्वा  
इत्यादिना । “वनस्पति मपश्यन्निति । कार्श्र्मर्याख्यं वनस्पति  
मिति सम्बन्धः । सिद्धमन्यत् । सुच आज्येन पूरणं विधाय  
स्वीति— “आज्येन पूर्णा भवतीति ॥ ३७ ॥

उत्तरपार्श्वे उदुम्बरवृक्षजतायाः सुच उपधानं विधत्ते—

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ११ ।

† ते० ब्रा० ३. ३. १ ।

‡ ‘सुष्टिरूपेण’—इति ज-पाठः ।

§ ‘कपुल्लजं’—इति क-पाठः ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १२ ।

“अधौदुम्बरी सुत्तरत इति \* । “अग्नी इत्यादि , प्रागुक्तार्थम् । उपधानसमये दध्ना तस्याः पूरणं विधाय स्वीति — “दध्ना पूर्णा भवतीति । “रसो वे दधीति । पयस ओषधिसाररसात्मकत्वाद् दध्नोऽपि रसात्मकत्वम् ॥ ३८ ॥

सुचोऽपधान मन्ूय तयोर्वाङ्मूपातां वक्तुं तावत् तदुपादानयोर्वाङ्मूपात्यसि माह — “यदेवेत्यादिना । विस्मिष्टावयवस्य ‘प्रजापतेस्तेजः’ ‘आदाय’ गृहीत्वा ‘अग्निः’ दक्षिणतः ‘अकर्षत्’ अनेषोत् । ‘सः’ अग्निः अत्र अस्मिन् कार्पय्यवृत्ते ‘उदरमत्’ उत्कृष्ट मरमत् , सुख मवाप्नोदित्यर्थः । “यत् कृष्टेत्यादिना कार्पय्य-नामनिवृत्तिः । कषेर्धातोः रमेष कार्पय्यशब्दनिष्पत्तिर्वर्ण-विकारेण द्रष्टव्या । ‘अथ’ अग्निगमनानन्तरम् , ‘अस्य’ विस्मि-स्तावयवस्य प्रजापतेः सम्बन्धि ‘ओजः’ आन्तरं वीर्यं ‘इन्द्रः’ ‘आदाय’ स्वीकृत्य ‘उदङ्’ उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे ‘उद-क्रामत्’ । उत्क्राम्य ‘सः’ ‘उदुम्बरः’ वृक्षो जातः ॥ ३९ ॥

“ताम्रवोदिति । ततः ‘तौ’ अग्नीन्द्रो प्रजापतिः ‘अम्रवोत्’ । ‘मा उपेतं’ मा सुपगच्छतम् , ‘एतत्’ मदीय मङ्गं ‘प्रतिधत्तं’ पुनःसन्धानेन संस्क्रुतम् । ‘येन’ कारणेन ‘मे’ मदीयशरोरात् ‘युव मुदक्रामि-ष्टम्’ । ‘इति’-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्ती । “ताभ्यामित्यादि, तयोरग्नीन्द्रयोर्वाक्यम् । “युवदक्षदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाख्ययोः” —इति † चतुर्थ्यन्तस्याच ‘नौ’-भावः । हे प्रजापते ! ‘ताभ्यां’ खलु

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ।

† पा० सू० ८. १. २० ।

आवाभ्यां 'सर्वं मन्त्रं प्रवच्छे', तद्वाचां त्वा मुपगच्छावेति । पुनः प्रजापतिरब्रवीत्— हे अग्नीन्द्रौ ! युवां 'बाहू भूत्वा' मां 'प्रपद्येथां' प्रविशतम् 'इति' । 'तौ' अपि 'तथा' अस्तु 'इति' ब्रूताम् । एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण 'सर्वं मन्त्रं 'ताभ्यां' प्रजापतिः 'प्रायच्छत्' । 'तौ' अप्यग्नीन्द्रौ 'बाहू' हस्तौ 'भूत्वा', 'एनं' प्रजापतिं 'प्रापयेतां' प्राप्तवन्तौ । 'हि' यस्मात् प्रजापतिरुत्क्रमेण 'सर्वं मन्त्रम् प्रायच्छत्', तस्मादेव कारणादन्ननिष्पादन मन्त्रादनञ्च बाहुकरणकं लोके दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

• इत्थं कार्श्रयौदुम्बरयोरुत्पत्तिम्, अग्नेरिन्द्रस्य च बाहु-रूपताञ्च प्रतिपाद्य, तदुपजीवनेन आग्नेयमन्त्रेण कार्श्रय-मय्या उपधानं विधत्ते— “स कार्श्रयमयो मिति । यत् तेज आदाय अग्निर्निरगात्, ते अग्नेः सम्बन्धिना प्रजापति-शरीरतेजसा त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः \* । “तदस्मिन्नेतदिति । 'तत्' तेन मन्त्रेण 'एतत्' तेजः 'अस्मिन्' चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ 'प्रतिदधाति' सन्धधाति । अथ तस्मिन्नेव 'कार्श्रयमय्य-पधाने मन्त्रान्तर मपि दर्शयति— “अग्निर्भूतेति † । 'एष उ सोऽग्निरिति । 'सः' प्रतिपादो यः 'अग्निः', 'एषः' चित्वाग्नि-रेवेत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रस्य हृन्दोऽनूद्य स्तौति— “गायत्रेति । उप-दध्यादिति शेषः । “गायत्रोऽग्निरित्यादि गतम् । छतेन पूरणं मनूय स्तौति—“छतेन पूर्येति । छतस्याग्नेयत्वं प्रागुक्तम् ॥ ४१ ॥

\* वा० सं० १३. १३. २ । ।

† वा० सं० १३. १४ ।



एवं दक्षिणभागे कार्श्र्यमथ्युपधानं मुक्ता तथैवोत्तर-  
भागे औदुम्बर्युपधानं मिन्द्रदेवत्येन यजुषा कर्त्तव्यं मित्वाह—  
“अधौदुम्बरी मिति \* । निगदसिद्धोऽर्थः । ‘अग्निन्’ औदु-  
म्बर्युपधाने मन्त्रान्तरं विधत्ते— “मुवो यज्ञस्येति † । “एष  
उ स इन्द्र इति । ‘एषः’ खलु चित्योऽग्निः ‘सः’ प्रसिद्धो  
मन्त्रप्रतिपाद्यः ‘इन्द्रः’ । “सा यदित्यादि । ‘सा’ मुवो यज्ञ-  
स्येति ऋक्, यस्मात् ‘आत्येयी’ अग्निदेवताका, तस्मादिदम्  
अग्निकर्म ‡ सम्पन्नम् । कथं तर्हि तस्या ऐन्द्रे औदुम्बरीसुगु-  
पधाने विनियोग इत्यत्राह— “अथ यत् त्रिष्टुबिति । यस्मात्  
सा ऋक् त्रिष्टुप्छन्दस्का, तस्मादैद्रे कर्मणि विनियोक्तु  
मर्हति । यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुप्छन्दसा सहोत्पन्नः §, अग्निधया  
वृत्त्या छन्दोद्वारेण च मन्त्रस्योपाधिसिद्धं मिन्द्राग्निदेवता-  
कत्वं प्रशंसति— “ऐन्द्राग्नोऽग्निरिति । एतदेव विवृणोति—  
“इन्द्राग्नी वै सर्वे देवा इति । इन्द्रस्याधिपतित्वात् ‘सर्व-  
देवतात्मत्वम्’; अग्नेरपि सर्वान् देवान् प्रति हविषो वहनात्  
सर्वदेवतात्मकता । यद्वा, इन्द्रस्य प्रायस्यादग्नेस्वरमभावित्वात्  
तदन्तवर्त्तिनः सर्वे देवा इति इन्द्राग्न्योः सर्वदेवतात्मकत्वम् ।  
“अग्निर्वै देवानां भवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या  
देवताः”—इत्यनेन § समानन्यायात् । चित्याग्निश्च सर्वदेवत्यः,  
सर्वदेवताप्रीतिकरः । “यावानग्निरित्यादि, गतम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ।

† वा० खं० १३. १५ ।

‡ ते० खं० ७. १. १. ४ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १

दध्ना पूरणं मनूय स्तौति— “दध्ना पूर्येति \* । “ऐन्द्रं वा इत्यादि । ‘ऐन्द्रम्’ इन्द्रदेवत्वं खलु ‘दधि’; दर्शयागे इन्द्रं प्रति दध्ना हविष्टेन दीयमानत्वात् । अत एव दर्शयाग-विधिः श्रूयते— “ऐन्द्रं दध्यमावास्याया मिति † । “स्वेन रक्षे-नेति । इन्द्रस्य स्वकीयो रसः साम्राज्यम् । वृत्रवधानन्तरं शरी-राभिर्गतस्य, पृथिव्या मोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य, पशुभि-र्भक्षणेनात्मन्याहृतस्य, इन्द्रसम्बन्धिनो वीर्यस्यैव पयोरूपेण परि-णामासङ्गिकतिभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः । एतत् श्रुत्यन्तरे— “इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं मित्यादिना प्रपञ्चितम् ‡ । ‘प्रीणाति’ तर्पयति । ‘प्रीञ् तर्पणे’—इति § धातुः ॥ ४२ ॥

• “तावस्यैतावित्यादि । ‘तो’ तथाविधौ ‘एतो’ ‘इन्द्राग्नी’ एव ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘बाह्व’ अभूताम् । भूत्वा च ‘तौ’ तेजसा अग्निसम्बन्धिना प्रकाशेन, इन्द्रसम्बन्धिना ‘वीर्येण’ ‘च’ ‘सह’ ‘प्रपद्येते’ प्राप्तुः । सुचौरूपधाने च स्थानविशेषः माह— “स सम्प्रतीति ॥ । ‘सः’ अध्वर्युः उपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य ‘उरः सम्प्रति’ उरःप्रदेशेन समानं सुचौ उपदध्यात् । तत् कथं मिति चेत् उच्यते— तं ‘पुरुषम्’ ‘आकाशम्’ अभिप्राप्य ‘यत्र’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ख ।

†, ‡ तै० सं० २. ५. ३. ३, ५ ।

§ का० उ० २ धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १० क ।

यस्मिन् स्थाने उपहितं सुगन्धयम् , तदुरःप्रदेशम् 'अभ्याप्नोति' ;  
'तत्' तत्र 'आलिख्य' चिह्नं कृत्वा , 'एने' सुचौ उपदध्यात् \* ।  
'एषः' य उरोदेशः स खलु 'एतयोः' बाहुसंस्तृतयोः 'लोकः' स्थान  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तयोस्तिर्यग्यतयोपधानं पूर्वपक्षयति— "ते द्वौ इति ।  
'तिरश्चौ' तिर्यग्रे , 'तिर्यश्चौ वा' इति † ; तत्रोपपत्तिं कथनम् ।  
तदेतत् प्रतिषिध्य प्रागग्रत्वं सिद्धान्तयति— "न तथा कुर्या-  
दित्यादिना । तत्रोपपत्तिं कथयति— "प्राङ् श्लेष इति ।  
प्राक्शिरस्कः खलु 'एषोऽग्निश्चीयते' तदवयवयोर्बाहुसंस्तृतयोः सुचो-  
रपि प्रागग्रतैव युक्तेति भावः । 'अथो' अपि च 'एवं' प्रागग्रौ  
प्रसारितावेव खलु 'बाह्व' 'वीर्यवत्तरौ' अतिशयेन वीर्यवन्तौ ‡ ।  
स्थापनसादनाधिवदनानां पृथक् विधाय स्तौति— "ते मानोप-  
दधातौति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ४४ ॥

एतस्योपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य सुगन्धतिरिक्तबाहुकरणं  
पूर्वपक्षयति— "तदाहुर्नैतस्येति । 'एतस्य' उपहितस्य हिर-  
ण्यपुरुषस्य । "एतौ वा अस्येति । 'ये एते सुचौ' उपहिते,  
ते च खलु 'अस्य बाह्व' सुगन्धतिरिक्तबाह्वोरपि करणे अधि-  
काङ्गता स्यात् ; 'नेत् अतिरेचयानि' नैवातिरिक्तं करवाणीति  
पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । "स वै कुर्यादेवेत्यादिः , सिद्धान्तः । 'सः'  
खलु अध्वर्युः सुगन्धतिरिक्तावपि पुरुषस्य बाह्व 'कुर्यादेव' । तत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १० ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १४ ।

‡ 'अतिशयितवीर्यवन्तौ'—इति च-पाठः

हेतु माह— “एतौ वा अस्येति । ‘अस्य’ पुरुषस्य सम्बन्धिनी  
‘बाहू’ अनुलक्ष्य ‘एतौ’ \* सुचौ उपधातये ; अतो न तत्प्रति-  
निधिरिति तयोरनिवृत्तिः ॥

बाह्वोः सङ्गावं प्रकारान्तरेणोपपादयति— “अथो एताविति ।  
‘अथो’ अपि च ‘एतौ’ बाहू ‘पक्षौ’ पक्ष्यात्मनश्चित्याग्नेः  
पक्षस्थानीयौ । संस्कारस्य संस्कार्य मन्तरेणानुपपत्तेः संस्कार्यौ  
बाहू अवश्यं कर्त्तव्यावित्याह— “अथो यान्येतस्मिन्नित्या-  
दिना । ‘रूपाणि’ अग्निरूपाणि पशुशीर्षादीनि , ‘स्तोमाः’  
‘निहन्त्यश्चदशादयः’ †, बृहद्रथन्तरादीनि पृष्ठानि ‡, ‘छन्दांसि’  
गायत्र्यादीनि । एते च स्तोमादयः स्वस्वलिङ्गैर्मन्त्रैरिष्टका-  
‘रूपेणोपधेयाः । यान्येतानि पशुशीर्षादीनि , तानि सर्वाण्यध्वर्युः  
‘उपधास्यन् भवति’ । ‘एतयोरेव’ पक्षसंस्तुतयोः बाह्वोः ‘सा’  
‘संस्कृतिः’ गुणोत्कर्षहेतुः संस्कारः , ‘एतयोः’ ‘वृद्धिः’ अभिवृद्धि-  
हेतुः । “तस्मादित्यादि , स्पष्टम् ॥ ४५ ॥ १ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अनुलक्ष्येते’—इति ज-पाठः ।

† ते च सा० ता० ब्रा० तृतीयप्रपाठकारम्भतो द्रष्टव्याः

‡ तानि सामानि ऊह्यगानारम्भतो द्रष्टव्यानि ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

स्वयमात्मन्ना मुपदधाति । इयं वै स्वय-  
मात्मन्नेमा मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषा-  
दुपदधात्यन्नं वै स्वयमात्मन्नेयं वै स्वयमात्मन्नेय  
मु वा ऽन्नं मस्यां हि सर्वं मन्नं पच्यते ऽनन्त-  
र्हित मेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरा मुत्तर मेवास्मादे-  
तदन्नं दधाति ॥ १ ॥

यदेव स्वयमात्मन्ना मुपदधाति । प्राणो वै  
स्वयमात्मन्ना प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आत्मन्ते  
प्राण मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषादुप-  
दधाति प्राणो वै स्वयमात्मन्नेयं वै स्वयमात्मन्नेय  
मु वै प्राणो यद्धि किञ्च प्राणीयं तत् सर्वं  
विभर्त्यनन्तर्हित मेवास्मादेतत् प्राणं दधात्युत्तर  
मेवास्मादेतत् प्राणं दधाति ॥ २ ॥

यदेव स्वयमात्मन्ना मुपदधाति । प्रजापतिं  
व्विस्वस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तान् व्युत्-  
क्रामन्तीषु प्रतिष्ठा सभिपद्योपाविशत् ॥ ३ ॥

स यः सु प्रजापतिर्व्यस्रसत । अय मेव सु यो-  
 ऽय मग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वय-  
 मात्मना तद्यदेता मत्रोपदधाति यदेवास्त्यैषात्मनः-  
 स्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता मत्रोपदधाति  
 ॥ ४ ॥

तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवै-  
 तत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्ये-  
 तद्यो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुण  
 मांस्तृता विश्वकर्म्मणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्म्मा  
 तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्दधीन् मा सुपर्ण  
 इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा  
 मोद्वधिष्ठा मित्येतद्व्यथमाना पृथिवीं दृष्ट्वेति यथैव  
 यजुस्तथा बन्धुः ॥ ५ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां  
 प्रथमां चिति मपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्नित्यपां  
 हीयं पृष्ठं समुद्रस्य हीय मेम व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं

मिति व्युत्पत्तौ च होयं प्रयुत्तौ च प्रयुत्त  
पृथिव्यसीति प्रयुत्त पृथिवी चासीत्येतत् \* ॥ ६ ॥

भूरसीति । भूर्हीयं भूमिरसीति भूमिर्हीय  
मदितिरसीतीयं वा ऽअदितिरियं हीदं सर्वं  
ददते विश्वधाया इत्यस्यां हीदं सर्वं हितं  
विश्वस्य भुवनस्य धर्तुंति सर्वस्य भुवनस्य धर्तु-  
त्येतत् पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृष्ट पृथिवीं मा-  
हिंसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृष्टात्मानं मा-  
हिंसीरित्येतत् ॥ ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायानाय । व्यानायोदानायेति  
प्राणो वै स्वयमात्मा सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै  
प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्वायेतीमे वै लोकाः स्वय-  
मात्मा इमं ऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्वा मग्निष्ठाभि-  
पात्वित्वाग्निष्ठाभिगोपायत्वित्येतन् मग्ना स्वस्थेति  
महत्या स्वस्थेत्येतच्छर्दिषा शन्तमेनेति यच्छर्दिः  
शन्तमं तेनेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति

तुस्योक्तो बभ्रुरथ साम गावति तुस्योपरि बभ्रुः  
॥ ८ ॥

तदाहुः । कथं नृप पुरुषः स्वयमाह्वयानभि-  
निहितो भवतीत्यन्नं वै स्वयमाह्वया प्राणः स्वय-  
माह्वयानभिनिहितो वै पुरुषोऽग्नेन च प्राणेन  
च ॥ ९ ॥

अथ दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । पशवो वै दूर्ध्वे-  
ष्टका पशुनेवैतदुपदधाति तद्यौरदोऽग्निरनन्तर्हितैः  
पशुभिरुपैत्तु ऽएते तानेवैतदुपदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमाह्वयाया उपदधातीयं वै स्वय-  
माह्वयानन्तर्हितांस्तदस्यै पशुन्दधात्युत्तरा मुत्तरां-  
स्तदस्यै पशुन् दधाति ॥ १० ॥

यदेव दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । प्रजापतेर्विस्वस्तस्य  
यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा शोषधयोऽभव-  
न्नुयास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्स्मिन्नुत्क्रान्ते-  
ऽपद्यत \* ॥ ११ ॥

\* \* 'ऽपद्यत'—इति ख , 'ऽपद्यत'—इति ग . घ ।



सोऽब्रवीत् । अयं व्याव माधूर्वीदिति यद्-  
ब्रवीदधूर्वीन् मेति तस्माद् धूर्वा धूर्वा ह वै तां  
दूर्वेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तदे-  
तत् क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो लोमान्यन्या ओषधय  
एता मुपदधत् सर्वा ओषधीरुपदधाति ॥ १२ ॥

तं यत् देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतं प्राणं  
रसं मध्यतोऽदुस्तैवास्मिन्नयं नेतुधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमातृणां उपदधातीयं वै स्वयमातृ-  
णानन्तर्हितास्तदस्या ओषधीर्दधात्युत्तरा मुत्तरा-  
स्तदस्या ओषधीर्दधाति सा स्यात् समूला साया  
कृत्स्नतायै यथा स्वयमातृणां उपहिता भूमिं  
प्राप्नुयादेव मुपदध्यादस्यां ह्येवैता जायन्त इमा  
मनु प्ररोहन्ति ॥ १३ ॥

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती । पुरुषः पुरुष-  
स्परीति काण्डात् काण्डाङ्गेषा पर्वणः पर्वणः  
प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन चेति  
यथैव यजुस्तथा बन्धुः ॥ १४ ॥

या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेण विरोहसीति

शतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते  
 देवीष्टके विधेम हविषा व्यय मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बभ्रुर्वाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुः  
 सादयित्वा सूददोहमाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः  
 ॥ १५ ॥

अथ द्वियजुष मुपदधाति । इन्द्राग्नी ऽअका-  
 मयेतां स्वर्गं लोकं मियावेति तावेता मिष्टका  
 मपश्यतां द्वियजुष मिमा मेव ता मुपादधातां ता  
 मुपधायास्यै प्रतिष्ठाबै स्वर्गं लोकं मैतां तथैवैत-  
 द्यजमानो यद् द्वियजुष मुपदधाति तेन रूपेण यत्  
 कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं मैतां तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकं मयानीति सा यद्  
 द्वियजुर्नाम द्वे ह्येतां देवते ऽअपश्यतां यद्वै द्वि-  
 यजुष मुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः ॥ १६ ॥

तदाहुः । यदसावैव यजमानो योऽसौ हिर-  
 ग्मयः पुरुषोऽथ कतमदस्तेदं रूपं मिति देवो  
 वा ऽअस्य स आत्मा मानुषोऽयं तद्यत् स हिर-  
 ग्मयो भवत्यमृतं वा ऽअस्य तद्रूपं देवरूपं ममृतं

हिरण्यं मथ यदियं मृदः कृता भवति मानुषं  
 द्यौर्देवं रूपं \* ॥ १७ ॥

स यदमू मेवोपदध्यात् † । नेमा मपशिष्यात्  
 क्षिप्रे हास्माहोकाद्यजमानः प्रेयादय यदिमा मपशि-  
 नष्टि यदेवास्येदं मानुषं रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि  
 तथो हानेनात्मना सर्वं मायुरेति ॥ १८ ॥

स यन्नानूपदध्यात् । न हैतं दैव मात्मान मनु-  
 प्रजानीयादथ यदनूपदधाति तथो हैतं दैव मा-  
 त्मान मनुप्रजानाति ता मनन्तर्हितां दूर्वेष्टकाया उप-  
 दधाति पशवो वै दूर्वेष्टका यजमानं तत् पशुषु  
 प्रतिष्ठापयति ॥ १९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैतावात्मानौ प्राणेन सन्त-  
 तावव्यवच्छिन्नौ भवत इति प्राणो वै स्वयमाह्मणा  
 प्राणो दूर्वेष्टका यजमानो द्वियजुः स यदनन्तर्हितां  
 स्वयमाह्मणायै दूर्वेष्टका उपदधाति प्राणेनैव तत्

\* 'रूपः'— इति ग, घ ।

† 'मेवोपदध्यात्'— इति ग, घ ।

प्राणः सन्तनोति सन्दधात्य यदनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्ट-  
कायै द्वियजुष मुपदधाति प्राणो वै दूर्ध्वेष्टका  
यजमानो द्वियजुरेव सु हास्यैतावात्मानौ प्राणेन  
सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः ॥ २० ॥

यास्ते ऽग्ने सूर्ये रुचोः \* । या वो देवाः सूर्ये  
रुचं० इति रुचः रुच मित्यमृतत्वं वै रुग्मृतत्वं  
मेवास्मिन्नेतदधाति द्वाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो  
बभ्रुरथो द्वयः छेवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । इमौ वै लोकौ  
रेतस्त्रिचाविमौ छेव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो  
वा ऽअयं मूर्ध्नि रेतः सिञ्चति धूमः सांमुत्र बृष्टि-  
र्भवति ता मसावमुतो बृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजा-  
यन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतस्त्रिचौ † ॥ २२ ॥

व्विराड्ज्योतिरधारयदिति । अयं वै लोकौ  
व्विराट् स इमं मग्निं ज्योतिर्धारयति खराड्-

\* 'रुचः'—इति क. ख ।

† 'रेतःत्रिचौ'—इति ख ।

ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः खराट् सो \* ऽमु-  
मादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड् वहेमौ † लोकौ  
खराट् च नानोपदधाति नाना हीमौ लोकौ सकृत्  
सादयति समानं तत् करोति तस्माद् हानयो-  
र्लोकयोरन्ताः समायन्ति ॥ २३ ॥

यद्वै रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । आण्डौ वै रेत-  
स्त्रिचौ यस्य आण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति ।  
विराड्ज्योतिरधारयत् खराड्ज्योतिरधारयदिति  
विराड् वहेमा ‡ आण्डौ खराट् च तावेतज्ज्योति-  
र्धारयतो रेत एव प्रजापति मेव नानोपदधाति  
नाना हीमावाण्डौ सकृत्सादयति समानं तत्  
करोति तस्मात् समानुसम्बन्धनौ तेऽचनन्तर्हिते  
द्वियजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुर्नन्तर्हितौ  
तद्यजमानादाण्डौ दधाति ॥ २४ ॥

\* 'खराड्भ्यां०'—इति ख ।

† 'विराड् व हेमौ'—इति सा०-सम्मत इत्याह डा० वेबरः ।

'विराट् च हेमौ'—इति च पाठो इष्टस्तेनैव ।

‡ 'विराट् च हीमा'—इति सा०-सम्मत इत्याह डा०-वेबरः ।

अथ विश्वज्योतिष मुपदधाति । अग्निर्वै  
 प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्ह्येवास्मिँल्लोके विश्वं ज्योति-  
 रग्नि मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेत-  
 स्त्रिगभ्या मुपदधातीमौ वै लोकौ रेतस्त्रिचावनन्त-  
 र्हितं तदाभ्यां लोकाभ्या मग्निं दधात्यन्तरेवोपद-  
 धात्यन्तरेव होमौ लोकावग्निः \* ॥ २५ ॥

यदेव विश्वज्योतिष मुपदधाति । प्रजा वै  
 विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजनन  
 मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेतस्त्रिगभ्या  
 मुपदधात्याण्डौ वै रेतस्त्रिचावनन्तर्हितां तदाण्डा-  
 भ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधान्यन्तरेव द्वाण्डौ  
 प्रजाः प्रजायन्ते ॥ २६ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां  
 प्रथमां चिति मुपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मती  
 मिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः † ॥ २७ ॥

\* 'लोकावग्निः'—इति ग, घ ।

† 'ज्योतिष्मानग्निः'—इति ग, घ ।

विविश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो  
 वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै प्राणो  
 विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेतदग्निष्टे-  
 ऽधिपतिरित्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति साद-  
 यित्वा सूददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २८ ॥

अथ ऽर्त्तव्ये ऽउपदधाति । ऋतव एते यद्वत्तव्ये  
 ऽऋतूनेवैतदुपधाति मधुश्च माधवश्च व्यासन्ति का-  
 वतू ऽङ्गति नामनी ऽएनयोरेते नामभ्या मेवेने  
 ऽएतदुपदधाति द्वे ऽङ्गुष्ठके भवतो द्वौ हि मासावृतुः  
 सकृत् सादयत्येकं तद्वत्तुं करोति ॥ २९ ॥

तद्यदेते ऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषी-  
 ऽग्निरिम ऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्याय मेव लोकः  
 प्रथमा चित्तिरय मस्य लोको वसन्त ऋतुस्तद्यदेते  
 ऽअत्रोपदधाति यदेवास्त्येते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्  
 प्रतिदधाति तस्मादेते ऽअत्रोपदधाति ॥ ३० ॥

यदेवैते ऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
 संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चित्तिः  
 प्रतिष्ठो ऽअस्य वसन्त ऋतुस्तद्यदेते ऽअत्रोपदधाति

यदेवास्वैते ऽप्तात्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मा-  
 देते ऽचोपदधाति ते ऽचनन्तर्हिते विश्वज्योतिष  
 उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्  
 प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात् प्रजा ऋतुनेवानु-  
 प्रजायन्त ऽऋतुभिर्ह्येव गर्भे सन्तः सम्प्रश्यन्त्यृतुभि-  
 र्जातिम् \* ॥ ३१ ॥

अथाषाढा मुपदधाति । इयं वा ऽअषाढेमा  
 मेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्द्धं ऽउपदधाति प्रथमा होय  
 मरुज्यत ॥ ३२ ॥

सा यदुषाढा नाम । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजा-  
 पत्या अस्यर्हन्त ते देवा एता मिष्टका मपश्यन्नाषाढा  
 मिमा मेव ता मुपादधत ता मुपधायासुरान्सपत्नान्  
 भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्माद-  
 षाढा तथैवैतद्यजमान एता मुपधाय द्विषन्त भ्रातृव्य  
 मस्मात् सर्वस्मात् सहते ॥ ३३ ॥

यदेवाषाढा मुपदधाति । व्याम्वा ऽअषाढा वा-

\* 'जातिम्'—इति ग, घ ।



चैव तद्देवा असुरान्सपत्नान् भातव्यानस्मात् सर्व-  
स्मादसहन्त तथैवेतद्यजमानो व्याचैव द्विषन्तं भात-  
व्य मस्मात्सर्वस्मात्सहते व्याच मेव तद्देवा उपादधत  
तथैवेतद्यजमानो व्याच मेवोपधत्ते \* ॥ ३४ ॥

सैयं व्वामभृत् । प्राणा वै व्वामं यद्वि किञ्च  
प्राणीयं तत् सर्वं विभर्त्ति तेनेयं व्वामभृद्वाग्न्न त्वेव  
व्वामभृत् प्राणा वै व्वामं व्याचि वै प्राणेभ्योऽन्नं  
धीयते तस्माद्वाव्वामभृत् † ॥ ३५ ॥

तु ऽएते सर्वे प्राणा यदुषाढा । तां पूर्व्वर्द्ध‡  
ऽउपदधाति पुरस्तात्तत् प्राणान्दधाति तस्मादि-  
मे पुरस्तात् प्राणास्तान्नान्यथा यजुषस्त्येष्टकया पुर-  
स्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चित्तौ नेत्प्राणानपि दधा-  
नीति § ॥ ३६ ॥

यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वा

\* 'मेवोपधत्ते'—इति ख , 'मेवोपधत्ते'—इति ग, घ ।

† '०मभृत्'—इति ग, घ ।

‡ 'पूर्व्वर्द्ध'—इति , ख ।

§ 'दधानीति'—इति क ।

ऽआपोऽनपिहिता वा ऽअग्नेन प्राणास्ता मनन्तर्हिता  
मृतव्याभ्या मुपदधात्पृतुषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं  
व्यागृतुषु प्रतिष्ठिता व्वदति ॥ ३७ ॥

तदाहुः । यत् प्रजा विश्वज्योतिर्वाग्गुषाढाथ  
कस्मादन्तरेण ऽर्त्तव्ये ऽउपदधातीति संवत्सरो वा ऽअ-  
र्त्तव्ये संवत्सरेण तत् प्रजाभ्यो व्वाच मन्तर्दधाति  
तस्मात् संवत्सरवेलायां प्रजा व्वाचं प्रवदन्ति ॥  
॥ ३८ ॥

अघाढासि सहमानेति । असहन्त ह्येतया  
देवा असुरान्सहस्रारातौः सहस्र पृतनायत इति  
यथैव यजुस्तथा बभूवुः सहस्रवीर्यासि सा मा  
जिन्वेति सर्व्वं वै सहस्रं सर्व्ववीर्यासिं सा मा  
जिन्वेत्येतत् सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कस्मादभिस्वयमाह्वस्य मन्या इष्टका  
उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै योनी ऽइति  
ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रज-  
नना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद-

देताः प्राचीरुपदधाति देवयोनेरेवैतद्युजमानं प्रज-  
नयति ॥ ४० ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

गते ब्राह्मणे रुक्माद्युपधानं विहितम् \* , अथास्मिन् ब्राह्मणे  
स्वयमाह्व्यादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते । कात्यायनः, —“स्वय-  
माह्व्यां पुरुषे शर्करां छिद्रा मिति † । पुरुषप्रयत्न मन्तरेण या  
स्वत एव छिद्रयुक्ता, शर्करा सुद्रपाषाणविशेषः , सा स्वयमाह्व्या,  
तां हिरण्यपुरुषे उपदध्यात् । तदेतद् विधत्ते— “स्वय-  
माह्व्या सुपदधातीति । स्वयमाह्व्याख्या मिष्टका सुपदध्या-  
दिति विधिरुन्नेयः ; यथा “औदुम्बरी यूपो भवतीति । तच्च  
हि भवतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि  
“जग्वै”—इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुन्नीयत इति निर्णीतम् ।

ननु “जग्वै उदुम्बर इत्यादेः यूपोदुम्बरस्य फलविधाय-  
कत्वात् कथं मर्थवादत्वं मिति चेत्, न ; अविहितस्य  
फलाभिधानायोगाद् विहितस्येति वक्तव्यम् ; विधिश्च तस्यार्थ-  
वादत्वं मन्तरेण न सम्भवतीति । अतोऽत्रापि “इयं वै”—  
इत्याद्यर्थवादस्य वर्त्तमानापदेशत्वादुन्नेतव्यो विधिः । एव मन्त्र-  
त्रापि वर्त्तमानापदेशेषु अयं मेव न्यायो द्रष्टव्यः ।

\* नास्त्येतद् वाक्यं ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १५ ।

तस्याः स्वयमादृशायाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितं भवतीत्याह— “इयं वा इति ।

यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति, तद् विधत्ते— “तां मनन्तर्हिता मिति । ‘ताम्’ इष्टकां ‘पुरुषात्’ ‘अनन्तर्हिताम्’ अव्यवहितां, तत्सम्बद्धा मुपदध्यादित्यर्थः ।

पुरुषसम्बद्धत्वेनोपधानं प्रशंसति— “अन्नं वा इति । पृथिव्यां व्रीह्यादीनां सर्वेषां मन्त्रानां पच्यमानत्वादन्नरूपा पृथिवी, स्वयमादृशा च पृथिवीत्युक्तम् ; अतश्च पुरुषसम्बन्धेनोपधानेन तस्मिन्नन्नं मेव निहितवात् भवति ।

अनन्तर्हितं मित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधानं मुपपद्यत इत्यत आह— “उत्तरा मिति । ‘उत्तरां’ पुरुषस्योपर्यवस्थिताम् । विधेयविशेषणं मेतत् । अत एव सूत्रे ‘पुरुषे’ इति सप्तम्या उपधानाधिकरणत्वं सुक्तम् ।

“उत्तरं मेवास्मादिति । ‘अस्मात्’ पुरुषात् ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितम् ‘अन्नं’ करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति \* भावः ॥ १ ॥

विहितां स्वयमादृशा मनूय प्राणात्मना स्तौति— “यदेवेति । “स्वयमादृशा मुपदधातीति यदस्ति, तत्कारणं मुच्यत इत्यर्थः । “प्राणो ह्येवैतत् स्वयं मात्मन आदृशते”—इति स्वयमादृशायाः प्राणत्वोपपादनम् । प्राणो नाम शरीरान्तर्वर्त्तमानो वायुः । स हि आत्मनोऽर्थे स्वयम् ‘आदृशते’ आतर्दनं कुरुते, शरीरान्तर्गतनाडीषु अवकाशं कृत्वा प्रवर्त्तते । अथ वा आत्मनः शरीरस्यान्तः आदृशते इति योजना । आदृशते इति “उदृदिर्

\* ‘निदधातीति’— इति च ।

हिंसानादरयोः \*”—इत्यस्माद्रीधादिकास्तटि रूपम् ; अतः स्वयमातर्द्दनसामान्यात् स्वयमादृश्यायाः प्राणात्मकत्वं मित्यर्थः ।

विहितव्यवधानं मनुवदन् न केवलं स्वयमातर्द्दनसामान्यादेव प्राणत्वम् , अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वसामान्याच्चापि † प्राणत्वं मस्या विद्यत इति दर्शयति — “ता मनन्तर्हिता मित्यादिना । यत् किञ्चिन्ननुष्यपशुपक्षिसरोरुपादिकं प्राणिजातं मस्ति , तत् सर्वं पृथिवी विभर्त्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वं सुपपादितम् । अष्ट मन्यत् ॥ २ ॥

अथ पुनरपि ता मेवेष्टकां विस्त्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति — “यदेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्त्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं ‘तं’ प्रजापतिम् अवयववृशः ‘आदाय’ , देवताः ‘व्युदक्रामन्’ , ततः ‘तासु’ ‘व्युत्क्रामतीषु’ ‡ , स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपं मङ्गं स्वयम् ‘अभिपद्य’ गृहीत्वा ‘उपाविशत्’ । तदेतत् प्राक् प्रपञ्चेनोक्तम् — “प्रजापतिः प्रजा असृजत , स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वं माजि मित्वाव्यस्रंसत , तस्माद्विस्त्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना § । प्रजापतेः प्रजासर्जनेन विस्त्रथावयवत्वं तैत्तिरीयकेऽप्यास्मात् — “प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसतेति ॥ ३ ॥

\* रु० उ० ६ धा० ।

† ‘पृथिवीत्वमाद्यापि’—इति च , ‘पृथिवीत्वप्रणाद्यापि’—इति छ ।

‡ ‘देवाः’ , ‘तेषु’ , ‘व्युत्क्रामन्त्यु’—इति त्रयः पाठास्तत्त्ववार्था वा सायणीयाः ।

§ पुरस्तादिहैव १. १. २ ( ४६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

॥ तै० ब्रा० २. ३. ६. १ ।

“स य इति । ‘सः’ प्रजानां स्त्रष्टा , यः प्रजापतिः विस्रस्तो-  
ऽभूत् , ‘सोऽय मेव’ ; य एष इष्टकासङ्घातरूपः ‘अग्निधीयते’ ।  
‘अथ’ ‘या च’ ‘सा’ प्रजापतिना प्राप्ता ‘प्रतिष्ठा’ , ‘सा एषा’ ;  
इदानीं सुपधीयमाना ‘प्रथमा स्वयमादृशा’ । प्रथममध्यमोत्तमासु  
तिष्ठन्वपि चितिषु तिस्रः स्वयमादृशा उपधीयन्ते , अतोऽत्र प्रथ-  
मेति विशेषणम् । “तद्यदिति । यतः ‘एताम्’ इष्टकाम् ‘अत्र’ पुरुषे  
‘उपदधाति’ , ‘तत्’ तेन ‘अस्य’ पुरुषरूपस्य प्रजापतेः ‘आत्मनः’  
स्वस्य ‘यदेतत्’ प्रतिष्ठालक्षणं मन्त्रम् । ‘एषेति लिङ्गव्यत्ययः \* ।  
‘तत्’ ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन निहितवान् † भवति ।  
तस्मादस्मिन् पुरुषे उपदध्यात् ॥ ४ ॥

विहिते उपधाने मन्त्रं विधत्ते— “तां वै प्रजापति-  
नोपदधातीत्यादिना । अत्र “ध्रुवासि धरुणास्तृता”—“प्रजापतिश्चा  
सादयतु”—“भूरसिभूमिरसि”—इति तिसृभिर्ऋग्भिः ‡ “विश्वस्मै  
प्राणाय”—इति § यजुषा च ।

यत एषा स्वयमादृशेष्टकोपधीयते , अतः प्रजापति-  
शब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा , तेन लक्षित-लक्षण्या ते  
सर्वे मन्त्रा लक्ष्यन्ते— “प्रजापतिर्ह्येवैतत् स्वय मात्मनः प्रत्य-  
धत्तेत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणमुच्यते ॥ यतः प्रजा-

\* ‘एष इति लिङ्गव्यत्ययः’—इति छ , ज ।

† प्रजापतौ च ते निहितवान्—इति छ-पाठः , डा० वेवरेण च  
इष्टः । ‘प्रजापतौ प्रति निहितवान्’—इति ज ।

‡ वा० ख० १३. १६, १७, १८ ।

§ वा० ख० १३. १६ ।

॥ ‘लक्षितलक्षणाकारणमुच्यते’—इति ज ।

पतिः स्वयमात्मनः 'एतत्' प्रतिष्ठापयन् मङ्गं 'प्रत्यधत्',  
अतस्तत्प्रतिष्ठापकस्वयमात्मस्योपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्धप्रतीतिर्यथा  
स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् ।

प्रथमा सृचं व्याचष्टे— "ध्रुवासीति \* । "स्थिरासीत्येतदिति  
ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम्, "अथो प्रतिष्ठासीत्येतदपि ध्रुवासीत्यस्यैव  
विवरणम् । 'धरुणेति'-प्रतीकमादाय व्याचष्टे— "प्रतिष्ठा वै  
धरुणमिति । सर्वस्याधारभूतेत्यर्थः । "आस्तृता विश्वकर्मणेत्यस्य  
व्याख्यानम्— "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति । विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य  
कर्म सृष्टिलक्षणमस्यासीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते ।  
तेन 'आस्तृता' आच्छादिता, उपहितेत्येतदुक्तं भवति ।

"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति । अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं  
निधाय, तत्र च हिरण्यपुरुषमवस्थाप्य, तस्योपरि स्वयमात्मस्यो-  
पधानं कर्त्तव्यम् । अतश्च "मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्ण इति †,  
अनेन आधारभूतौ रुक्मपुरुषौ तव हिंसां मा कार्षाम्, किन्तु  
आमुकुल्येनाङ्गीकुरुतामित्येतदुच्यते ।

"यथैव यजुस्तथा बभ्रुरिति । अनेन यथा मन्त्रस्यैव व्याख्या-  
नम्— "अव्यथमानां पृथिवीं दृष्ट्वेत्येष मन्त्रभागः ‡ स्पष्टार्थ  
इत्युच्यते ॥ ५ ॥

\* "ध्रुवास्मि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा"—इति वा० सं० १३. १६  
ऋचः प्रथमो भागः ।

† एव वा० सं० १३. १६ द्वितीयो भागः ।

‡ एष हि वा० सं० १३. १६ तृतीयो भागः ।

अथ द्वितीया मृचं व्याचष्टे— “प्रजापतिश्चेति \* । यतः  
 ‘प्रजापतिः’ ‘एतां प्रथमां चिति मपश्यत्’, अतः “प्रजापतिश्चा  
 सादयत्विति मन्त्र आह । अपा माच्छादकत्वात् ‘इयं’ पृथिवी अपां  
 पृष्ठे । तथा ‘समुद्रस्य’ अपि ‘एमन्’ । एमन्निति “इण् गतौ †”—  
 इत्यस्मात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति ‡ मर्निन् प्रत्ययः । “समुद्र-  
 स्येति, कद्योगे कर्मणि षष्ठी § । ‘समुद्रस्य एमा’ समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः ।  
 परितः समुद्रेण वलयितत्वात् । “एमन्निति सप्तम्येकवचनस्य  
 “सुपां सुलुगित्यादिना ॥ लुकि सति रूपम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘व्यच-  
 स्खती’ व्यञ्जनवतो, अभिव्यक्तियुक्ता, ‘प्रथस्वती’ विस्तारयुक्ता चेत्ये-  
 तत् प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वयमाढ्या च पृथिव्यात्मिका ; अतश्च व्यच-  
 स्खतीं प्रथस्वती मिति मन्त्र आह , “प्रथस्व पृथिवी चासीत्ये-  
 तदिति ¶ । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्वेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः ।  
 पृथिवीशब्दस्य प्रथनप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—  
 “तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्, यदप्रथयत्, तत् पृथिव्यै पृथिवीत्व  
 मिति \*\* ॥ ६ ॥

\* “प्रजापतिश्चा सादयत्वपाप्पृष्ठे समुद्रस्येमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं  
 प्रथस्व पृथिव्यसि”—इति वा० सं० १३. १७ ।

† अदा० प० ३४ घा० ।

‡ पा० ख० ३. २. ७५ ।

§ पा० ख० २. ३. ६५ ।

॥ पा० ख० ७. १. ३६ ।

¶ मन्त्रद्वयमिप्राय एव ब्राह्मणोक्तः, न तु मन्त्रपाठः ।

\*\* तै० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।



अथ तृतीया मृचं व्याचष्टे— “भूरसीतीति \* । “भूर्हीयं भूमिर्हीय मिति । ‘इयं’ पृथिवी , यतः सर्वेषां सुखानि भावय-  
तोति भूः ; अस्याः सकाशादिदं सर्वं मविज्ञात मभूदिति भूमिश्च ।  
अत एव श्रुतिः,—“अभूद्वा इदं मिति तद् भूम्यै भूमित्व मिति† ।  
तस्माद्भूरसि भूमिरभोत्वभिधत्ते । “इयं ह्रीदं सर्वं ददते”—इत्यनेना-  
दितित्वोपपादनम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘इदं सर्वं’ भोग्यवस्तुजातं ‘ददते’,  
तस्माद् अदितिः । “दद दाने ‡”—इत्यस्माददितिशब्दो निष्पन्नो  
द्रष्टव्यः । ‘विश्वं’ सर्वम् ‘अस्यां’ निहित मिति ‘विश्वं धायाः’ ।  
“विश्वस्य भुवनस्येति । भुवनशब्देनात्र भुवनवर्त्ति पदार्थजातं  
लक्ष्यते , ततश्च सर्वस्य भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्रीत्ये-  
तदुक्तं भवति । पृथिवीरूपत्वादात्मनः “पृथिवीं यच्छेत्त्वा-  
दिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियता मित्युच्यत इत्याह—  
“आत्मानं यच्छेत्त्वादिना ॥ ७ ॥

अथ यजुर्मन्त्रं व्याचष्टे— “विश्वस्मै प्राणयेति § । एक  
एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यानोदानशब्दैरभिधीयते ।  
“प्राणो ह्येवैतत् स्वय मात्मन आहन्दत इति स्वयमाहवायाः  
प्राणत्व मुक्तम् ॥ । “सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी ॥ । सर्वस्य स्वस्वेतस्य प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाशास्त्रो

\* वा० सं० १३. १८ ।

† तै० ब्रा० १. १. ३. ७. २ ।

‡ भा० आ० १७ घा० ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ इहैव द्वितीयकण्डिकायां ( २७८ पृ० ६ पै० ) द्रष्टव्यम् ।

॥ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

भवति , अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधान मिति यावत् ।

“इमे वै लोका इति । तिस्रः स्वयमादृष्टाः , पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिकाः । ‘इमे’ खलु ‘लोकाः’ ‘प्रतिष्ठा’ सर्वप्राणिना माधारः । “चरित्व मिति प्रत्येकविवक्षयैकवचनम् , नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । ततश्च प्रथमायाः स्वयमादृष्टायाः पृथिव्यात्मकत्वात् , सर्वेषा माधारभूताय संसारसाधनभूताय च अस्मै लोकाय तवोपधानम् । “गोपायत्वित्येतदिति । पृथिव्यभिमानिदेवतात्वात् “अग्निस्त्वा अभि गोपायत्वित्येतदुक्तम् । “वच्छेदिः शन्तमम् , तेनेत्येतदिति । ‘शन्तमम्’ अतिशयेन सुखंकरं यच्छेदिस्तेजोस्ति , तेनेति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— हे स्वयमादृष्टे ! स्थिरासि , सर्वेषां प्रतिष्ठासि , प्रजापतिनोपहितासि । तादृशीं त्वां रक्षो मोहधीत् । तथा हिरण्यपुरुषश्च त्वां मोहधीत् । तथा सति अभ्यथमाना त्वं पृथिवीं दृढीकुरु (१६) । किञ्च प्रजापतिः अपा माच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यचस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु । यतस्त्वं पृथिव्यसि , अतः ‘प्रथस्व’ विस्तारवती भव (१७) । किञ्च , त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्री असि , सर्वेषां चोत्पत्तिस्थान मसि , सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्री असि , कृत्स्नस्यापि भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्री असि । तादृशो त्वं पृथिवीरूप मात्मानं ‘नियच्छ’ दृढीकुरु , मा च हिंसीः (१८) । प्रयोजनमन्तरेण त्वां ‘नोपदधे’ किन्तु सर्वस्यापि प्राणिनः स्थैर्यार्थं त्वा मुपदधामि , त्वां चाग्निं मन्यामहे । टिलोपच्छान्दसः । ‘स्वस्था’ अविनाशिन

सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गोयायतु । तथा 'देवतया'  
'अङ्गिरस्वत्' अङ्गिरसा तुल्या, 'ध्रुवा' 'स्थिरा' 'सौद' उपविशेति'  
कृतस्त्रमन्त्रार्थः ॥

अथ "तया देवतयेत्यनेन मन्त्रेण सादयित्वा "ता अस्त्रेत्यने-  
नाधिवदेदित्याह— "सादयित्वेति । अत्र सूत्रम्— "सादन-  
सूददोहसौ सर्वत्र तथा देवतया ता अस्त्रेतीति \* । साद-  
नाधिवदनमन्त्रयोर्व्याख्यानं प्रागुक्तं मित्याह— "तस्योक्तो बन्धु-  
रिति । 'तत्र' तस्मिन् काण्डे "प्राणो वै सूददोहा इत्यादिना  
अधिवदनमन्त्रो व्याख्यातः † । षष्ठकाण्डे "स उपदधाति  
'तया' देवतयेति , "वाग्वै सा देवतेत्यादिना व्याख्यातः सादन-  
मन्त्रः ‡ ॥

अथ स्वयमाह्वयायां सामगानं विधाय, तत्प्रयोजनकथनलक्षणं  
व्याख्यानं उपरिष्ठाद् वक्ष्यत इति दर्शयति— "अथेत्यादिना ।  
अस्यां प्रथमायां स्वयमाह्वयायां भूरिति व्याहृत्यां साम गायेत् ।  
अत एव सूत्रम्— "भूरित्येतस्यां साम गायति"—इति § ।  
तद्वाख्यानन्तु "अथ स्वयमाह्वयासु सामानि गायतीत्यादिनो-  
त्तरत्र अष्टमकाण्डावसाने प्रपञ्चति ॥ ८ ॥

\* "नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तथा देवतया ता  
अस्त्रेति"—इति का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† पुरस्तादिहैव ८० पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ तत्र १. २. २८ ( ६ भा० २२ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १६ ।

॥ उपरिष्ठात् ८. ७. ४. १ द्रष्टव्यम् ।

( प्राणात्मकत्वात् तदुपधानेन पुरुषः कथं मनमिनिहितो भवतीति प्रश्नपूर्वकं स्वयमाहस्त्रायाः ) \* लोके हि पुरुषस्योपरि पाषाणे निहिते अस्य † महानुपरोधो जायते, अतोऽत्र स्वयमाह-स्त्रायाः पाषाणात्मकत्वात् ‡, तयोश्चोपरोधहेतुत्वाभावात्, प्रत्यु-  
तानुकूलत्वात्, तत्सन्निधानेऽपि पुरुषोऽर्नभिहित एव भव-  
तीत्याह — “तदाहुरित्यादिना ॥ ८ ॥

• स्वयमाहस्त्रेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—  
“अथेति । इष्टकाशब्दो मृन्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायान्तूपधान-  
• सामान्याङ्गीणः । पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणां मपि पशुत्वात्, तदु-  
पधानेन § पशूनां मेवोपधानं कृतं भवतीत्याह—“पशवो वा इति ।  
• यदुक्तं “पशून्वेतदुपदधातीति, तत् किं साधारणपशुविषयम् ?  
• नेत्याह—“तद्यैरद इति । ‘अदः’ पुरस्तात् ‘अग्निः’ ‘अनन्तर्हितैः’  
अव्यवहितैः । स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम् । तादृशैः ‘यैः’  
पञ्चभिः पशुभिः अन्यत्रोपजगाम, ‘ते’ पशवः ‘एते’ दूर्वेष्टकात्मका  
इत्यर्थः । अग्निः पशून् प्रविश्यान्यत्र जगामेत्येतत् “स एतान् पञ्च  
पशून् प्राविशदित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चेनोक्तम् ॥ । “उपदधातीति

\* बन्धनीचिह्नान्तःपाठो नास्ति क-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘निहितस्य’—इति छ ।

‡ ‘अन्तःप्राणात्मकत्वात्’—इति क । “लोके पुरुषस्योपरि पाषाणे  
निहिते तस्य महानुपरोधो जायते । स्वयमाहस्त्रायाः पाषाणा-  
त्मकत्वात्”—इति ज ।

§ ‘तदुपधाने’—इति छ, ज ।

॥ १ प्र० ४ ब्रा० २ क० ( ६ भा० ५३ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

सामान्येन विधानात् स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति— “ता मनन्तर्हिता मित्यादिना । “ता मनन्तर्हितां पुरुषादुपदधातीति स्वयमादृष्टेष्टकास्थापनविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत् \* ॥ १० ॥

विहित उपधानं मनूय ओषधीनां दूर्वायाश्चोत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैव ( चक्षत्र मन्वाः ) † सर्वाँषधीः प्राणं रसञ्चोपहितवान् भवतीति स्तौति— “यद्देवेत्यादिना । “अशी-यन्तेति अपतन्वित्यर्थः ॥ ११ ॥

“सोऽब्रवीदिति । ‘अयम्’ एव प्राणो माम् ‘अधूर्वीद्’ अहिंसीदिति ‘सः’ प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘यदब्रवीन्मा अधूर्वीत्’-इति, ‘तस्माद्’ एष प्राणो नाम्ना ‡ ‘धूर्वा’ अभूत् । ननु धूर्वा न दूर्वा भवितु मर्हति, तत् कथं दूर्वेत्युच्यत इत्यत आह—“धूर्वा ह वै ता मिति । धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः § । लोकेऽपि यत् किञ्चिन्नामधेय-विशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितेत्येवं परोक्षेण व्यपदिशन्ति, तद्वद् देवा अपीत्यर्थः । “तदेतदिति । यतः ‘एषः’ दूर्वा प्राणात्मको ‘रसः’ । प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—“प्राणो ह्यङ्गानां रस इति ॥ । ‘एषः’-इति पुल्लिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम् । अतः ‘तदेतद्’ ‘दूर्वा’ ‘क्षत्रं’ प्रधानम् । क्षत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते । ‘तदेतत्’-

\* पुरस्तादिहैव २७८ पृ० १० पं० द्रष्टव्यम् ।

† नास्थेत्तद् पदद्वयं क-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ नास्थेत्तत् पदं क-पुस्तके ।

§ पा० सू० ३. १. १३४ ।

॥ कृ० ब्रा० ३. ३. १० द्रष्टव्यम् ।

इत्यपि नपुंसकलिङ्गं चतुशब्दापेक्षम् । तथा सति लोमां प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिका मेतां दूर्वेष्टका उपदध्यात् । लोमात्मिकाः 'सर्वा अप्योषधीरुपदधाति' ॥ १२ ॥

किञ्च 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृत-  
वन्तः, तदा 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'मध्यतः' मध्ये । सप्तम्यर्थे तसिः \* ।  
'प्राणं' रसम् अदधुः † स्थापितवन्तः । तथैव 'अयम्' अध्वर्युः  
'एतत्' एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन 'प्राणं' रसं निहितवान् भवती-  
त्यर्थः । "ता मनन्तर्हिता मित्यादि । तस्यार्थस्तु व्यक्त एव ।

उपधातव्यायाः दूर्वेष्टकाया लक्षण माह— "सा स्वादिति ।  
'कृत्स्नतायै' सम्पूर्णत्वाय ; अच्छिन्नमूलाग्रं हि सम्पूर्णं मन्यूनं  
भवति । अतो मूलाग्रवतो कार्या । उपधाने विशेष माह—  
"यथेति । अत्र कात्यायनः— "मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद्  
भूमिप्राप्ता मिति ‡ । दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनो-  
पधाने इमां दूर्वां मनुलक्ष्येता ओषधयो भूमौ प्ररोहेयुरित्याह—  
"अस्यां ह्येवैता इति ॥ १३ ॥

"काण्डादिति, "या शतेनेति च हाभ्या मपीय मिष्टका उप-  
धीयते । तत्र प्रथममन्त्रे पूर्वार्धस्यार्थः प्रत्यक्षसिद्ध इति दर्श-  
यति— "काण्डात्-काण्डादिति § । द्वितीयार्धेन तु निगदव्याख्यात  
मित्याह— "एवा नो दूर्वे इत्यादिना । काण्डशब्दः स्तम्बवाची ,

\* पा० सू० ५. ३. ७, १४ ।

† 'निदधुः'—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. १८ क ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १८ ख ।

परुः-शब्दः पर्ववचनः । यावन्तः काण्डाः स्तम्बा विद्यन्ते , तत्रैकै-  
कस्मात् स्तम्बात् प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । एकस्मिन्नपि स्तम्बे  
यावन्ति 'परु'षि' पर्वणि विद्यन्ते , तेष्वेकैकस्मात् पर्वणः  
'परितः' प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । अथ वा , काण्डशब्देन पर्वणो-  
र्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते ; 'काण्डात्-काण्डात्' सर्वस्मात् काण्डा-  
दित्यर्थः । 'परुषः-परुषः' सर्वस्मात् पर्वणः । हे दूर्वे ! येषु  
काण्डेषु यानि पर्वणि सर्वाणि विद्यन्ते , तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि  
परतः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । 'एवा' एवं यथा त्वं भवसि ,  
एवं 'नः' अस्मान् 'शतेन सहस्रेण च' शतसहस्रसङ्ख्याकैः पुत्रा-  
दिभिः 'प्रतनु' विस्तारयेति प्रथमस्यार्थः \* ॥ १४ ॥

हे दूर्वे ! 'या' त्वम् काण्डानां 'शतेन' आत्मानं विस्तारयसि ,  
अङ्कुराणां 'सहस्रेण' विविधं प्रादुर्भवसि , हे 'देवि' द्योत-  
माने 'दृष्टके' ! 'तस्यास्ते' वयं 'हविषा' 'विधेम' परिचरेमेति  
द्वितीयस्यार्थः † ॥

उपधानमब्रगता मर्थसिद्धां द्वित्वसङ्ख्या मनुवदति— “द्वाभ्या  
मुपदधातीति । द्वित्वसङ्ख्याप्रशंसालक्षणं व्याख्यानम् “द्वाभ्या मभि-  
जुहोति , द्विपाद्यजमानः , यजमानोऽग्निरित्यादिना प्रागुक्त ः  
मित्याह— “तस्योक्तो बभ्रुरिति । “सादयित्वेत्यादिकन्तु  
व्याख्यातम् § ॥ १५ ॥

\* वा० सं० १३. २० ।

† वा० सं० १३. २१ ।

‡ इहैव पुरस्तात् १३५ पृ० ४ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ इहैव पुरस्तात् ३०० पृ० ५ पं० द्रष्टव्यम् ।

कात्यायनः— “यास्त इति द्वियजुष मिति \* । “यास्ते अग्ने  
सूर्ये रुचः”—इति , “या वो देवाः”—इति , हाभ्यां † द्वियजुर्ना-  
मिष्टका सुपदध्यादिति सूत्रार्थः । तदेतद् विधत्ते— “अथेति ।  
विहिता मिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—  
“इन्द्राग्नी इत्यादिना । स्पष्टमेतत् ।

“इमा मेवेति । ‘ताम्’ आत्मना दृष्टाम् ‘इमाम्’ अस्माभि-  
रधिष्ठायमाना मिष्टकाम् ‘एव’ उपादधाताम् । ‘ता सुपधाय’,  
‘अस्यै’ प्रतिष्ठायै । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । अस्याः प्रतिष्ठायाः  
सकांशात् सोपानवदिमा मारुह्य ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुता मित्यर्थः ।  
“तथैवेतदिति । “यजमानो द्वियजुष सुपदधातीति यत् एतत् ,  
‘तथैव’ इन्द्राग्निदेवतावदेव । तदेव दर्शयति— “येनेति । येन  
प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा’ इन्द्राग्नी ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुताम् ,  
तेनैव प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं मपि ‘स्वर्गं’ प्राप्तवानिति  
‘यजमानो द्वियजुष सुपदधाति’ । तस्मादेवा स्वर्गप्राप्तिसाधन  
मिति भावः ।

प्रकृताया एवेष्टकायाः द्वियजुरिति नामप्राप्तिं दर्शयति—  
“सा यदिति । यतः ‘एतां’ ‘हे देवते’ इन्द्राग्नी ‘अपश्यताम्’ ,  
तस्माद् द्वियजुर्नामेय मिष्टकेत्यर्थः ॥

ननु देवतादयदर्शनात् कथं द्वियजुरिति नाम स्यादिति  
चेत् , उच्यते— यतो ‘हे देवते एता मपश्यताम्’ , अत एव हाभ्यां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० । परं तत्रास्ति पाठभेदः ।

† वा० सं० १३. २२, २३ ।

‡ पा० ३. २. ६२ सू० १ वा० ।



यजुर्भ्यां सुपधीयते । तथा सति यजुर्हयेनोपधानस्यापि देवता-  
हयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताहयदर्शन  
मेव निमित्तं मित्त्वभिप्रायः ॥

ननु “वास्ते अग्ने”-“या वो देवाः”-इत्यनयोर्मन्त्रयोः ऋग्-  
व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधानं मिति ? एवं  
तर्हि अथ यजुःशब्देन मन्त्रमात्रं लक्ष्यते ।

“ऋक्सामयजुषां लक्षणं जैमिनिना दर्शितम्—

“तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या,  
शेषे यजुः शब्दः”—इति \* ।

एतदेवान्यत्र सङ्गृहीतं मभियुक्तैः—

“नर्कामयजुषां लक्षणं साङ्कर्यादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रस्निष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः”— इति † ।

अथवा मन्त्रे एव यजुःशब्दव्यवहारो दृश्यते ; यथा—  
“तस्यास्ते देवीष्टके विष्टेम हविषा वयं मिति ‡ “यथैव यजुस्तथा  
बभ्रुरित्येवमादौ § ॥

अथ तां मेवेष्टकां यजमानात्मनापि प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानं मेवास्मिंस्तोके  
अर्पितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वियजुषो यजमानत्वोक्त्या लब्धोदयां पाक्षिकानां जिज्ञासा  
मवतारयति— “तदाहुरित्यादिना । “अथ कतमदिति । ‘अथ’

\* मी० जै० सू० २ अ० १ पा० ३५, ३६, ३७ सू० ।

† जै० अग्नि० २. १. १०, ११, १२ ।

‡, § पुरस्तादिहैव पञ्चमकण्ठोपाख्यानं (३०४, २६६ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘इदं’ द्वियजुर्नामिष्टका कतमद् ‘रूपं’ स्वरूप  
मिति । रूपापेक्षया नपुंसकत्वम् । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “देवो  
वा इति । ‘सः’ हिरण्ययः पुरुषः ‘अस्य’ यजमानस्य देवत्वप्रयुक्तः  
‘आत्मा’ शरीरम् ; यद् \* द्वियजुरिष्टका मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मैत्यर्थः ।  
हिरण्ययत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मनुष्यत्वात् द्वियजुषो  
मानुषशरीरात्मत्वम् प्रतिपादयति— “तद्यदित्यादिना । “देव-  
रूपं मिति । यतो देवरूपम्, अतः ‘अस्य’ यजमानस्य तद्रूपम्  
‘अमृतं’ खलु ; विलापनेऽप्यविनश्यत्स्वाहिरण्यस्यामृतत्वम् । “मा-  
नुषं होति । ‘इदं’ द्वियजुर्लक्षणा स्वरूपम् । यतो मानुषम् अतः  
‘इयं मृदः कृता भवति’ पार्थिवो भवति, मानुषाणां पार्थि-  
वत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

द्वियजुष उपधानस्यान्वयव्यतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्य-  
कत्वमाह— “स यदित्यादिना । ‘अमृतं’ हिरण्ययपुरुषलक्षणा  
मिष्टकाम् एव ‘उपदध्यात्’ । “नेमा मिति । ‘इमां’ द्वियजु-  
र्लक्षणा मपि तदानीं मेव चेदुपदध्यात्, ‘नापशिञ्चयात्’ नाव-  
शेषयेत्, तर्हि मानुषशरीररूपद्वियजुरिष्टकाया अपरिशेषणात्  
क्षिप्रकाले एव ‘अस्माज्जोकात्’ ‘यजमानः प्रेषात्’, तस्यास्तदानीं  
मनुपधानेनावशेषणे तु ‘अनेन’ द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीर-  
वास्त्रिंजोके यजमानः कृत्स्नम् आयुरेतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथास्या इष्टकायाः हिरण्ययपुरुषसमीपे सर्वदाऽनुपधाने  
दोषप्रदर्शनपूर्वकम्, तत्रोपधाने गुणं दर्शयति— “स यदि-

त्वादिना । समीपेऽनुपधाने सति असम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूप मनुक्रमेण 'न प्रजानीयात्' ; उपधानेन तु प्रजानीयात् ।

अथ ता मेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेनोपदध्यादित्वाह— “ता मनन्तर्हिता मिति ॥ १९ ॥

यजमानस्य हिरण्यपुरुषो देवं शरीरम् ; द्वियजुषु मानुष मित्युक्तम् । तयोर्मध्ये स्वयमाह्वाणादूर्वेष्टकयोरुपधानेन व्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि प्राणेन कथं मव्यवच्छेद इति याज्ञिकानां प्रश्नं भवतारयति— “तदाहुरिति । ‘सन्तती’--इत्यस्यैव विवरणम्— “अव्यवच्छिन्नाविति । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “प्राणो वा इत्यादिना । ‘प्राणो वै स्वयमाह्वाणा’ “प्राणो ह्येवैतत् स्वय मात्मन आहन्ते”--इति स्वयमाह्वाणायाः प्राणत्वमुक्तम् : “अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्वादिना प्राणरस एव दूर्वाऽभूदित्यपि उक्तम् । सन्तनोतीत्येतदेव विवृणोति— “सन्दधातीति । ‘स्यष्ट मन्यत् ॥ २० ॥

द्वियजुष उपधाने मन्त्रौ विधत्ते— “यास्ते अग्ने इति \* । “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो”—“या वो देवाः सूर्ये रुचः”—इत्येताभ्यां † मन्त्राभ्यां द्वियजुष उपदध्यादित्यर्थः । मन्त्रयोः पुनःपुनः रुक्पदप्रयोगस्याभिप्राय माह— “रुचं रुच मिति । “अस्मिन्निति , यजमाने इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० ।

† वा० सं० १३. २२, २३ ।

मन्त्रयोस्त्वय मर्थः \*— “हे ‘अग्ने !’ ‘ते’ तव ‘सूर्ये’  
सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयो ‘रश्मिभिः’ रश्मिरूपेण  
‘दिवम्’ ‘आतन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्नुवन्ति । रात्रौ या  
अग्नेर्दीप्तयः , ता एव सूर्योदयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति ।  
एतच्च तैत्तिरीयके अग्निहोत्रब्राह्मणे समाम्नातम्— “उद्यन्तं  
वावादित्य मग्निरनुसमारोहतीति † । ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः  
‘नः’ अस्मत्सम्बन्धिने ‘जनाय’ यजमानलक्षणाय ‘रुचे’ ‘ऊधि’  
प्रकाशं कुरु । ‘रुचे’-इति विभक्त्यव्यत्ययः ‡ , रुच मित्यर्थः ।  
‘नस्त्वंधीति “अतः कृकमीत्यादिना § विसर्जनीयस्य सकारः ॥  
हे ‘देवाः !’ ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्तमानाः ‘याः’  
‘रुचुः’ दीप्तयः सन्ति , तथा ‘गोषु अश्वेषु च ‘याः’ दीप्तयः सन्ति ,  
‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः हे ‘इन्द्राग्नी !’ ‘हे बृहस्पते !’ तयोऽपि  
यूयं ‘नः’ अस्मत्सम्बन्धिने यजमानाय ‘रुचं धत्त’ प्रकाशं  
सम्पादयतु ॥

ननु चायं मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते , ततश्च “रुचन्नो  
धत्तेति लिङ्गेन मन्त्र मुञ्चारयितुरध्वर्युरिव तत् फलं युज्यते ;

\* तयोः पाठस्त्वैवम्,—

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव मातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाऽभि रुचे जनाय नस्त्वधि ॥ २२ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोव्यन्त्रेषु या रुचः ।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचे न धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

† तै० ब्रा० २० १० २० १० ।

‡ पा० ३० १० ८५ सू० द्रष्टव्यम् ।

§ पा० सू० ८० ३० ४६ ।

अतो न इति पदं किं मित्युपचरित मिति चेत्, न ;  
 ब्रजेतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रती-  
 यते ; न च परिकीर्तस्याध्वयोर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः ।  
 तस्मा श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तस्मिन् यजमानपरत्वेनोपचरणीयम् ।  
 तस्माद्यजमानेन पात्रेषु “आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहीत्यादिषु \*  
 क्रियमाणाशुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याज-  
 मानम्, तथैवाध्वर्युणा पात्रेषु करणमन्त्रेषु श्रुतं मपि फलं  
 याजमान मेव । “हाम्या मित्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । प्रका-  
 रान्तरेणापि द्वित्वं प्रशंसति — “अथो हय मिति । द्विविधं,  
 रूपं मस्तीति तदुपधानमन्त्रयोरपि द्वित्वं सुपपद्यत इत्यर्थः ।  
 व्याख्यातं मुत्तरं वाक्यम् ॥ २१ ॥

अथ रेतस्सिङ्गनामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते — “अथ  
 रेतस्सिञ्चा इति । “लोपः शाकल्यस्य”-इति † वकारलोपः ।  
 विहिते इष्टके पृथिवीद्युलोकात्मना प्रशंसति — “इमो वै लोका-  
 वित्यादिना । तत्रानयोर्लोकयोः रेतस्सेकृत्यप्रतिपिपादयिषयो-  
 क्तम् — “इमौ वै लोकाविति । तद्रेतस्सेचन मनयोः प्रत्यक्षसिद्ध  
 मित्याह — “इमौ ह्येवेति । “इतो वा अयं मित्यादिना । तदेव  
 प्रत्यक्षत्वं दर्शयति — “अयं” लोकः ‘इतः’ अस्मात् प्रदेशात् ।  
 धूमलक्षणं ‘रेतः सिञ्चति’, ‘सः’ धूमः ‘अमुत्र’ द्युलोके दृष्टि-  
 र्भवति । सेति स्त्रीलिङ्गं वृध्यपेक्षम् । धूमस्य मेघकारणत्वात्  
 तद्वारा दृष्टिकारणत्वाद् धूमो दृष्टिरिति कारणे कार्यत्वो-

\* वा० सं० ३. १७. २ ।

† पा० सू० ८. ३. १६ ।

पचारः । 'तां' वृष्टिम् 'असौ' ब्रुलोकः 'अमुतः' अमुष्मात् प्रदेशात् सिञ्चति । तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणताञ्जद्वारा प्रजाः 'प्रजायन्ते' । श्रूयते हि— "अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते"—इति \* । अन्यत्राप्युक्तम्— "वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति † । "तस्मादिमौ लोकौ रेतस्मिचौ ; रेतस्मिचोरनयोर्लोकयोः रूपैणानुसन्धानादिष्टके अपि रेतस्मिचावित्युच्येते ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विराड् ज्योति रिति ‡ । 'अयं लोकः' पृथिवी 'विराट्'-शब्देनाभिधीयते । 'सः' च 'इमम्' अस्मदादीनां प्रत्यक्ष मग्निरूपं 'ज्योतिर्धारयति' । प्रथमा रेतस्मिक् भूलोकात्मिकेत्युक्तम्, तस्मात् प्रथमरेतस्मि-गात्मको विराड्-शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति ॥ "स्वराड्-ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः § । सोऽप्येव मेव व्याख्येयः ।

'अनयोर्लोकयोर्विराट्-स्वराट्-शब्दाभिधेयत्व मेवोपपादयति — "विराड् च होमाविति । विविधं राजत इति विराट् । स्वयं मेव राजत इति स्वराट् । तयोः पृथक्-पृथक्-मन्त्रेणोपधानं माह— "नानोपदधातीति । यतः 'इमौ लोकौ' 'नाना' पृथग्भूतौ, तस्मात्तदात्मिकयोरिष्टकयोरुपधानं पृथक्-पृथक्-मन्त्रेण कर्तव्यं मित्यर्थः । उपधानमन्त्रवत्सादनमन्त्रस्यापि

\* तै० व्या० उप० ७. २. २ ।

† म० सं० ३. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. २२ ।

§ वा० सं० १३. २४ ।

पार्थक्येन प्राप्तावाह— “सक्तदिति । “तया देवतयाङ्गिरस्वद्  
ध्रुवा सोद”—इत्थं सादनमन्त्रः \* । त मेकवारं मुञ्चार्थं सादयेत् ।  
न तु प्रतीष्टक मित्यर्थः । तेन तदुपधानं समानं करोति ।  
‘तस्मादनयोर्लोकयोः’ अन्ताः’ प्रान्ताः ‘समायन्ति’ परस्परं सम्बद्धा  
भवन्ति । अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बध्यन्त इत्येतत्  
प्रत्यक्षसिद्धमेव ॥ २३ ॥

अथ तदेवेष्टकादय माण्डात्मकेनापि स्तौति— “यद्देवेति ।  
आण्डशब्दात् स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । आण्डाविति पुरुष-  
सम्बन्धिनी बीजे उच्येते । “यस्य ह्याण्डौ भवत इत्यादिना  
आण्डयोः रेतस्सिद्धं प्रतिपादितम् । “विराड् च ह्यौमाविति ।  
आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद्विराड् च प्रत्यक्षसिद्ध मित्यर्थः ।  
प्रजापतिशब्देन † प्रजोत्पादन मभिधीयते । रेतसः प्रजापतेश्च प्रजा-  
लक्ष्यन्त इति तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिश्च मित्यवगन्तव्यम् । “समान-  
सम्बन्धनाविति । एकरूपसम्बन्धनावित्यर्थः । प्रकृतयोरिष्टकयोः  
स्थानविशेष माह — “ते अनन्तर्हिते”—इति ‡ । द्वियजुषोः समीपे  
अथ्यवधानेनोपधानं किमर्थं मित्यत आह— “यजमानो वा  
इति ॥ २४ ॥

रेतस्सिचोरुपधानानन्तरं विश्वज्योतिराख्याया इष्टकाया  
उपधानं विधाय , ता मन्वात्मना स्तौति— “अथेति § । स्वय-

\* वा० सं० २७. ४५ ।

† ‘प्रजापतिशब्देन’—इति, ‘प्रजापतेश्च’—इति च ह-पुस्तकीयौ पाठौ ।

‡ का० श्रौ० १७. ४. २२ सू० वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. २३ ।

मादृशा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रो विद्यन्ते, अतोऽत्र \*  
 प्रथमेति विशेषणम् । अस्मिन् लोके 'भुवि' यत् किञ्चन  
 ज्योतिरस्ति, तत् सर्वं मग्निमयं मेवेति । अग्निर्विश्व-  
 ज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि 'विश्वज्योतिः' ;  
 अतस्तदुपधाने अग्निं मेवोपहितवान् भवन्ति । विधत्ते—  
 "ता मनन्तर्हिता मिति । 'तां' विश्वज्योतिषं 'रेतस्मिन्भ्याम्'  
 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात् । तथा सति  
 'रेतस्मिन्' पृथिवीद्युलोकामकत्वात् ताभ्यां मव्यवहितं मेव  
 'अग्निं' दधाति । क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधाने अव्यवधानं  
 सुपपद्यत इत्यत आह— "अन्तरेवेति । "अन्तरेव हीति ।  
 "अन्तरा इवेति पदविभागः । इवशब्द एवकारार्थः । "अन्त-  
 रान्तरेण युक्ते"—इत्यनेन † इमाविति द्वितीया । अनयोर्लोकयो-  
 र्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते ; तस्मात्  
 मध्यत उपधानम् ॥ २५ ॥

अथैता मिष्टकां प्रजात्मना प्रशंसति— "यद्देवेति । 'प्रजा  
 हि विश्वज्योतिः' यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान्  
 प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वज्योतिरित्येतदपरोक्षम् ; अतः  
 प्रजा विश्वज्योतिः । तथा सति एतदिष्टकोपधानेन प्रजननं  
 प्रजोत्पादनं मेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य  
 च कार्यकारणभावादभेदविवक्षयैव मुक्तम् । रेतस्मिन्चोराण्डत्वाद्,  
 विश्वज्योतिषश्च प्रजात्वात्, ताभ्यां मव्यवहितत्वेन मध्यत

\* 'अतोऽत्र'—इत्येतन्नास्ति ड-पुस्तके ।

† पा० सू० २. ३. ४ ।



उपधाने प्रजोत्पादन मेवाण्डयोर्निहितं भवतीति दर्शयति— “ता मनन्तर्हिता मिति । “अन्तरेव आण्डाविति । आण्डयोर्मध्यतः \* एव रेतोनिर्गमनद्वारत्वात् , तत एव ‘प्रजाः प्रजायन्ते’ ॥ २६ ॥

अथ तस्मिन्नुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “प्रजापति-  
द्वेत्यादिना † । यतः ‘प्रजापतिरेतां प्रथमां चिति मपश्यत्’ ,  
अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं “प्रजापतिद्वा सादयतु”—इति ‡ मन्त्रेण  
उपदध्यादित्यर्थः । “पृष्ठे ह्यय मिति । ‘पृथिव्यै’—इति , पृथिव्यै  
चतुर्थी § । यतश्च पृथिव्याः ‘पृष्ठे’ उपरि ‘अग्निज्योतिषान्’ विश्व-  
ज्योतिषाग्निरित्युक्तम्— “अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योति रिति ॥ ;  
अतः “पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिषतीम्”—इति ¶ मन्त्रवचनम् ॥ २६ ॥

“प्राणो वा इति । विद्यमाने एव प्राणे सर्वेषा मिन्द्रियाणां  
स्व-स्व-विषयप्रकाशकत्वात् प्राणस्य विश्वज्योतिषम् । “सर्वस्मा उ  
वा एतस्मै’—इति । सर्वस्य स्वत्वेतस्य लोकस्य । पूर्ववच्चतुर्थी \*\* ।  
प्राणः आशास्यो †† भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण  
एव वृत्तिभेदभिन्नः ; प्राणस्य विश्वज्योतिषात् । ‘विश्वस्मै’ सर्वस्य  
लोकस्य प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधान मिति मन्त्रभागं आह । “सर्वं  
ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । “अग्निष्टेऽधिपतिरिति”—

\* ‘आण्डयोर्मध्ये’—इति क ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. २३ ।

‡ , ¶ वा० सं० १३. २४. २ ।

§ , \*\* पा० सू० २. ३. ६२. वा० १ ।

॥ इहैव पुरस्तात् २५ कण्ठी ( २८७ पृ० ) द्रष्टव्या ।

†† ‘आश्रयो’—इति ज ।

एतन्मन्त्रभागकथनेन 'अग्नि मेव' 'अस्याः' विश्वज्योतिषः 'अधि-  
पतिं करोति' ।

हे विश्वज्योतिः ! पृथिव्याः पृष्ठे 'ज्योतिषती' ज्योतिषा  
युक्तां त्वां 'प्रजापतिः' 'सादयतु' स्थापयतु । किमर्थं मिति  
तत्राह— 'विश्वस्मै' विश्वस्य, सर्वस्य लोकस्य 'प्राणाय अपानाय  
व्यानाय' प्राणादिव्यापारार्थम् । किञ्च 'विश्वं' समस्तं 'ज्योतिः'  
तेजो 'यच्छ' नियच्छ, अस्मदायत्तं कुरु । 'ते' तव 'अग्निः अधि-  
पतिः', अतः स त्वां 'परिभ्यो गोपायत्विति कृत्स्नमन्त्रार्थः ॥ २८ ॥

अथ ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— "अथेति \* ।  
'ऋतव्ये'—इति "वाय्वृतुपितृषसो यत्"—इति † देवतार्थे यत्  
प्रत्ययः ‡ "यच्चि भम्"—इति § भ सञ्ज्ञायाम् "ओर्गुणः"—इति §  
गुणः, "वान्तो यिप्रत्यये"—इति ॥ अवादेशः । ऋतुदेवत्येष्टको  
पधानेन ऋतूना मेवोपधानं भवतीत्याह— "ऋतव एत इति ।

ऋतव्ययोरुपधाने मन्त्रं विधाय ॥ व्याचष्टे— "मधुधेति \*\* ।  
मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखावुच्येते । "वासन्तिकाविति, "वस-  
न्ताच्च"—इति †† ठञ्-प्रत्ययः । ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः, अत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३१ ।

‡ पा० सू० १. ४. १८ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४६ ।

॥ पा० सू० ६. १. ७६ ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

\*\* वा० सू० १३. २५ ।

†† पा० सू० ४. ३. ३० ।

तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्त्तते । मधुश्च माधवश्चेत्येतौ वसन्त-  
सम्बन्धिनौ 'ऋतू' मासौ ; अतश्च तदेवत्यत्वेन तदात्मिके वा  
मुपदधामि इत्यर्थः । "नामनी"—इत्यादिना मधुमाधवशब्दो-  
पयोगं दर्शयति । ननु स्वयमात्स्यादिवदेकैकस्या इष्टकाया  
उपधानं विहाय, किं मिति द्वयोरुपधानं मिति तत्राह— "हे  
इष्टके इति । इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृत्सादनेनैक मेव ऋतुं  
सम्पादयतीत्याह— "सकृदिति ॥ २८ ॥

प्रथमायां चितौ तदुपधानस्य कारणं माह— "तद्यदित्या-  
दिना । 'एते' ऋतव्ये 'अच' प्रथमायां चितौ 'उपदधाति'—इति  
यत्, तत्र कारणं मुच्यते— 'एषः' चीयमानः 'अग्निः' 'संवत्सरः'  
संवत्सररात्मकः । अग्नेः संवत्सररात्मकत्वं संवत्सरं मुखायां सञ्चृत्यो-  
त्पादनीयत्वाद् । चीयमानस्याग्नेः प्रजापतिरूपत्वं प्रागुक्तम्—  
"स यः प्रजापतिर्व्यसंसत, अयं मेव स योऽयं मग्निश्चीयत  
इति \* । 'सः' प्रजापतिः सर्वलोककारणत्वेन तदात्मकः । "संव-  
त्सर एषोऽग्निरिति । तस्य संवत्सररात्मकत्वोक्तेश्च संवत्सरः 'इमे  
लोकाः' खलु । "तस्येति । 'तस्य' संवत्सरराग्निः सर्वलोकात्मकस्य  
प्रजापतेः । 'अयं मेव लोकः' पृथिवी । प्रथमा चितिः, वसन्त  
ऋतुश्च, प्राथम्यसादृश्याद् 'अस्य' संवत्सररात्मकस्य 'प्रजापतेः' अव-  
यवभूतः 'अयं' लोकः ; अतश्चात्र प्रथमायां चितौ 'एते' ऋतव्ये  
वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मिके उपदधातीति यत्, तेन यदेव  
'अस्य' प्रजापतेः 'आत्मनः' स्वस्य 'एतद्' इष्टकाद्वयलक्षणं

यदङ्ग मस्ति , तद् 'अस्मिन्' अवयवे प्रथमचितिलक्षणे 'एतत्' एतेन पुनः 'प्रतिदधाति' \* ; तस्मादेते प्रथमायां चित्तावुप-  
दध्यात् ॥ ३० ॥

अथ पुनस्ते एव ऋतव्ये प्रजापतेः प्रतिष्ठात्मनापि स्तौति—  
“यदेवैते इति । “प्रतिष्ठो अस्व वसन्त ऋतुरिति । ‘प्रतिष्ठा  
उ’ इति पदविभागः । “आहुणः” † , उकारस्य “निपात एका-  
जनाङ्”—इति ‡ प्रगृह्यसञ्ज्ञायाम् “भुतः प्रगृह्या अचि”—इति §  
प्रकृतिभावात् “प्रतिष्ठो अस्त्येति । “एङः पदान्तादति”—इति ॥  
पररूपत्वं न भवति । वसन्तर्त्तौः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रति-  
ष्ठात्वम् । यत्रावयवे प्रतितिष्ठति , सा प्रतिष्ठा । यथा पुरुषः  
पदयोः प्रतितिष्ठति , तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्तर्त्तौ प्रतितिष्ठति ।  
प्रथमायाश्चित्तसु उत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्या-  
धारत्वात् प्रतिष्ठात्वम् ; अतश्च प्रथमायां चित्तौ प्रकृतयो-  
रिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्त्तुदेवत्यत्वेन तदात्मकै-  
तदिष्टकाद्वयलक्षणं यत् प्रतिष्ठारूप मङ्ग मस्ति , तदस्मिन्नेतेन  
प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथानयोरिष्टकयोरुपधानस्य स्थानविशेषं विधाय प्रशं-  
सति— “ते अनन्तर्हिते इति । “अनन्तर्हितास्तदिति । ‘तत्’

\* ‘प्रदधाति’—इति ज ।

† पा० सू० ६. १. ८७ ।

‡ पा० सू० १. १. १४ ।

§ पा० सू० ६. १. २५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।

तेन 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' 'अनन्तर्हिताः' अव्यवहिताः 'दधाति', ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति— "तस्मादिति । यत एवं तस्मात् 'प्रजाः' 'ऋतून्नेव' अभिलक्ष्य 'प्रजायन्ते' 'गर्भे सन्तं' गर्भेऽपि विद्यमानं 'जन्तुम्' ऋतुभिर्ह्येव 'सम्पश्यन्ति' । ऋतूनां कालात्मकत्वात्, कालस्य च सदातनत्वेन सर्वोत्पत्ति-मन्निमित्तत्वाद्, अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था च तत्रैव सम्बध्यन्त इति भावः ॥ ३१ ॥

विधत्ते— "अथेति \* । 'अथ' ऋतव्येष्टकोपधानानन्तरम्, अषाढाभिधा मिष्टका उपदध्यात् । अषाढायाः सृज्येष्टकात्वात् तदुपधाने पृथिव्युपधान मेव सम्पादितम् भवतीत्याह— "इयं वा इति । तस्या अषाढाया उपधानम् चयनस्थलस्य पूर्वभागे कर्त्तव्य मित्याह— "तां पूर्वाह्णं इति । ननु किमर्थं मस्याः पूर्वाह्णे उपधान मिति तत्राह— "प्रथमेति । 'इयम्' अषाढा, उखायाः 'प्रथमा' पूर्वा 'असृज्यत' खलु ॥ ३२ ॥

प्रकृताया इष्टकायाः अषाढेतिनामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकं उप-धानोपयोगं दर्शयति — "सा यदषाढा नामेत्यादिना । पुरा खलु 'देवाश्चासुराश्च' 'प्राजापत्याः' प्रजापतेरपत्यभूताः । पत्युत्तरपदत्वाद् "दित्यदित्येत्यादिना † अपत्यार्थे स्थ-प्रत्ययः । 'ते' एते उभये ऽपि स्रष्टा मकुर्वन् । ततः 'ते देवाः' केनोपायेनासुरान् जयेमेति विचार्य, 'एताम्' अषाढाभिधाम् 'इष्टकां' तदुपायत्वेन 'अप-श्यन्' । दृष्ट्वा च 'ता मिमाम्' इष्टका उपहितवन्तः । ततः 'ता

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

† पा० सू० ४. १. ८५ ।

मुपधाय 'असुरान्' 'सपत्नान्' वैरिणः , 'भ्रातृव्यान्'-इति सपत्न-  
 शब्दार्थविवरणम् । भ्रातृशब्दाद् "व्यन् सपत्ने"-इति \* सपत्नार्थे  
 व्यनो विधानात् । तानसुरान् 'अस्मात् सर्वस्मात्' स्थानाद् 'अस-  
 हन्त' निराकुर्वन् , यथैषु लोकेषु अवस्थानं न लभन्ते, तथा पर्यबी-  
 भवन्नित्यर्थः । यत एतया असुरानसहन्त ; 'तस्मादषाढा'-इति  
 नामधेयम् । अत्रासुराणां सहनकथनेन स्वेषा मसहनं मर्थतः  
 प्राप्तम् ; अतश्चेतस्या इष्टकायाः स्वेषा मसहनं प्रत्यपि कारण-  
 त्वादसहनसाधनत्वेनाषाढेत्युच्यते । "साढ्यै साढा साढेति निगमः"  
 -इति † 'साढा'-शब्दो निपातितः , ततो नञ्समासः , व्यत्ययेन  
 भूर्धन्यादेशः । "तथैवैतदिति । यथैव देवा अषाढा मुपधाय  
 असुरान्निराकुर्वन् , 'तथैव' 'यजमान एता मुपधाय' 'द्विषन्तम्'  
 द्वेषं कुर्वन्तम् , 'भ्रातृव्यम्' अस्मात् सर्वस्मात् 'प्रदेशान्निरा-  
 कुरुते' ॥ ३३ ॥

\* अथेता मेवेष्टकां वागात्मनापि प्रशंसति ‡—"यद्देवेति । "वा-  
 चैव तद्देवाः"-इत्यादिना अषाढाया वाग्रूपत्वं § प्रतिपाद्यते । यतो  
 देवा निर्भर्त्सनादिविशिष्टया 'वाचैव' 'असुरानसहन्त' , तस्मान्निरा-  
 करणसाधनत्वंसाधर्म्यादषाढा वाक् खल्वित्यर्थः । "तथैवेति ।  
 यतो देवाः वाचा असुरान् असहन्त , ततो देवदेव 'यज-  
 मानः' अपि 'वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्य मस्मात् सर्वस्मात् सहते' ।

\* पा० छ० ४. १. १४५ ।

† पा० सु० ६. ३. ११३ ।

‡ 'प्रशंसति'-इति छ ।

§ 'वाग्रुपाषाढयोक्तं'-इति छ ।

यतः अषाढा उक्तन्यायेन वागात्मिका , अत एतेन अषाढो-  
पधानेन 'वाच मेव उपादधत देवाः', 'तथैव' 'यजमानः'  
'वाच मेवोपधत्ते' ॥ ३४ ॥

यदुक्तं मियं वा अषाढेत्यषाढायाः पृथिव्यात्मकत्वम् \* ,  
तदुपजीव्यास्या अषाढाया इष्टकायाः 'वामभृत्'-सञ्ज्ञाप्राप्तिं  
दर्शयति— "सेय मिति । 'वामं' वननीयं वस्तु ; 'प्राणाः'  
सर्वैराशास्यमानत्वात् 'वामं' वस्तु । 'यत् किञ्च' 'प्राणीयं'  
प्राणवत् अर्थजातं मस्ति , 'तत् सर्वम्' 'इयं' पृथिवी 'बिभर्त्ति'  
खलु । अतश्च वामशब्देन प्राणानां मभिधानात् , प्राणानां तद्वतां  
चामेदविवक्षया 'इयं' पृथिवी 'वामभृत्'-सञ्ज्ञेति तदात्मिका-  
प्यषाढा वामभृत्-सञ्ज्ञेत्यर्थः । "वाग्वा अषाढेति यदुक्तं वागा-  
त्मकम् † , तदप्युपजीव्यैतत्सञ्ज्ञालाभं माह— "वाग्ं च  
त्वेवेति । "वाचि वा"—इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्थानं  
मुखं लक्ष्यते , प्राणानुविधायित्वात् प्राणशब्देन च श्रोत्रादीनी-  
न्द्रियाणि , प्राणभ्योऽर्थे वाचि मुखे अन्नं 'धीयते' निधीयते ।  
"तस्माद् वाग्वामभृदिति । तदात्मिकाषाढापि वामभृदित्य-  
भिधीयते ॥ ३५ ॥

सेय मित्यादिनोक्तप्रकारेण निष्पन्नं मर्थं माह— "त एत  
इति । सेय मित्यादिना अषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्व  
मुक्तम् , वाग्ं च त्वेवेत्यादिना तु आध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम् ।  
ततश्च अषाढेति यदेषा , 'ते सर्वे प्राणाः' आध्यात्मिकत्वा-

\* इहैव परस्तात् ३२ कण्ठी ( २८६ पृ० ) द्रष्टव्या ।

† पुरस्तात् ३४ कण्ठी ( २८६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

धिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः । 'त एते'  
-इति 'प्राणाः'-इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने । उक्त मषाढाया  
उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य, तस्याः पूर्वभागे उपधान  
मुपपादयति— "तां पूर्वाह्णं इति । 'तस्मादिति । 'पुरस्तात्'  
पूर्वभागे इत्यर्थः । "इमे"—इति अभिनयेन निर्देशः । 'तस्मात्'  
पूर्वाह्णं उपधानात् मुखे 'इमे प्राणाः' अवतिष्ठन्त इति शेषः ।  
अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति  
— "तां नान्ययेति । 'पुरस्तात्' 'ताम्' मषाढां 'प्रति' 'अन्यथा'  
मन्त्रवत्या इष्टकयोपधानं 'न' सम्पादयेत् । 'एतस्यां चित्ता-  
विति । तत्र हेतुरुच्यते— "नेदिति, निपातः परिभये  
वर्तते \* । अषाढायाः प्राणात्मकत्वाद् एतस्यां प्रथमायां चितौ  
तस्याः पुरस्तात् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तदव्यवधानात् 'प्राणान्'  
एव अपिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

• • ननु यदि समन्त्रकाणा मिष्टकाना मुपधाने प्राणापिधानम्,  
तर्हि अपस्यानां मन्त्रविशिष्टाना मिष्टकाना मुपधानेन तत्  
कस्मान्न भवतीत्यत आह— "यदपस्या इति । अपस्याना  
मन्त्रात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणेऽभिधास्यते † । आपस्यानात्मिकाः ;  
तत्कारणत्वात् । अन्नेन तु प्राणाना मपिधानं न सम्भवति ;  
अन्नोपजीवित्वात् प्राणानाम् । अतश्चास्मात्मकत्वादपस्यानां  
समन्त्रकाणा मप्युपधानं न विरुध्यत इति भावः । अथ तस्या  
उपधानं मृत्युयोः समीपे विधाय स्तौति— "ता मनन्तर्हिता

\* "नेति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये"—इति निरु० १. ३. ६ ।

† इहेवोपरिष्ठाद् पञ्चमे ब्राह्मणे १० कण्डिकायां द्रष्टव्यं भविष्यति ।



मिति । 'स्येयं वाग्यतुषु प्रतिष्ठिता वदतीति । ऋतुष्ववस्थितेषु प्राणिषु प्रतिष्ठिता वदतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

“प्रजा वै विश्वज्योतिरिति विश्वज्योतिषः प्रजात्व मुक्तम् , “वाग्वा अषाढेति अषाढाया वाक्त्वं प्रतिपादितम् , ततश्च विश्व-ज्योतिषः समीपे अषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता भवति ; तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थं ऋतव्ययोरुपधानं कृतमित्याशङ्क्य तत्कारणमाह— “तदाहु रिति । “संवत्सरो वा ऋतव्ये इति । “ऋतव एते यदृतव्ये इति ऋतव्ययोः ऋत्वात्मकत्वात् , सम्भूय सर्वेषा ऋतूनां संवत्सरात्मकत्वात् , ऋतव्ये संवत्सरः । ततश्च ऋतव्ययोरन्तरोपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं व्यवहितां करोति । ‘तस्मात्’ इदानीं मुत्पत्तेरुपरि ‘संवत्सरवेलायां’ संवत्सरे गते सति पश्चात् ‘प्रजाः वाचं प्रवदन्ति’ ॥ ३८ ॥

प्रकृताया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— अषाढासीत्यादिना \* । यतो ‘देवाः’ ‘एतया’ इष्टकया ‘असुरान्’ ‘असहन्त’ निराकुर्वन् ; अतः सहनसाधनत्वाद् “अषाढासीति मन्त्र आह । “सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसङ्ख्या विवक्षितेति दर्शयति— “सर्वं वै सहस्र मिति । हे इष्टके ! त्वं ‘सहमाना’ असुराणां निराकर्त्री ; अतो नाम्ना अषाढासि । तस्मात् ‘अरातीः’ अदानशीलान् (शत्रून् †) ‘सहस्र’ परिभावय । किञ्च ये पूर्वं विरोधिनो न भवन्ति , इतः परम् ‘पृतनां’ सङ्ग्राम मिच्छन्ति , ते ‘पृतनायतः’ । पृतनाशब्दा-

\* वा० सं० १३. २६ ।

† नास्थितत् पदं छ-पुस्तके ।

दाकारलोपाभावश्चान्दसः । तानपि परिभावय । किञ्च त्वं  
‘सहस्रवीर्यासि’ अपरिमितवीर्यविशिष्टा \* भवसि । अनेन शत्रु-  
निराकरणसामर्थ्यं सुपपादितम् भवति । तादृशीः ‘सा’ मां ‘जिन्व’  
ग्रीणीहीति मन्त्रार्थः ॥ ३८ ॥

अथ दूर्वेष्टकादीनां स्वयमाढ्यायाः प्राग्भागे उपधाने  
कारणं माह— “तदाहुरिति । ‘अभि स्वयमाढ्याम्’ अभिलक्ष्य ,  
स्वयमाढ्याया उपरि भागे इत्यर्थः । “लक्षणेनाभिप्रती अभिसुख्ये”  
-इत्यर्थयौभावसमासः † । ‘अन्या इष्टकाः’ उपरि वक्ष्यमाणाः  
‘उपधीयन्ते’ ‘एताः’ दूर्वेष्टकादयस्तु तस्याः ‘प्राच्य उपधीयन्ते’—  
इति यदस्ति , तत्रोत्तरं माह—“हे वै योनी”—इति । ‘देवयोनिः’  
‘अन्यः’ , ‘मनुष्ययोनिः अन्यः , इति यदुक्तं मन्यत्वम् , तदाह—  
“प्राचीनेति । ‘प्राचीने भागे’ पूर्वभागे ‘प्रजननम्’ उत्पत्तिः ,  
तत्कारणं वा येषां ते तथोक्ताः ; ‘मनुष्याः’ तु ‘प्रतीचीनप्रजननाः’  
ततश्च ‘एताः’ इष्टकाः स्वयमाढ्यायाः ‘प्राचीः’ प्रागपवर्गाः  
‘उपदधाति’—इति यत् , तेन ‘देवयोनिरेव’ ‘एतत्’ एनं ‘यज-  
मानम्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । दूर्वेष्टकादीनां मुत्तरोत्तर-  
पूर्वभावेन उपधानं कात्यायनेनोक्तम्— “पूर्वाम्-पूर्वां मुत्त-  
राम्”—इति ‡ ॥ ४० ॥ २ [४. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अपरिमितसङ्ख्याकवीर्यविशिष्टा’—इति ड ।

† पा०. सू० २. १. १४ ।

‡ का० औ० सू० १७. ४. १६ ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोमहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमौः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिदिपसंहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणोदिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुखः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्धौ रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अत्रत्याष्टीप्यन्त्यः पञ्चमकाण्डीयद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः

† अत्र १ ब्रा० ४५ क० , २ ब्रा० ४० क ; सङ्कलयनयात्र  
तृतीयप्रपाठकीयद्वयोर्ब्राह्मणयोः ८५ कण्डिकाः श्रुता इति ।

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

कूर्मं सुपदधाति । रसो वै कूर्मो रस मेवैतदु-  
पदधाति यो वै स एषां लोकानां मप्सु प्रविद्धानां  
पराङ्मसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तु मेवैतदुपधाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मा स एष इममेव लोकाः \*

तस्य यदुधरं कपालम् । अयं स लोकस्तत्  
प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ  
यदुत्तरं सा द्यौस्तद्वावगृहीतान्त मिव भवति  
व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौरथ यदन्तरा तदन्तरिक्षम् ।

सु एष इमऽएव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति  
॥ २ ॥

तु मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य  
लोकस्य रूपं घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन-  
मेतद्रूपेण समर्द्धयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो  
घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन मेतद्रसेन समर्द्ध-  
यति \* ॥ ३ ॥

मधु व्याता ऋतायत ऽङ्गति । यां वै देवता मृग-  
भ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सुऽक्सो देवता तद्य-  
जुस्तद्वैतन्मध्वेवैषु विचो रसो वै मधु रस मेवा-  
स्मिन्नैतद्वधाति गायत्रीभिस्त्रिभिस्तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ४ ॥

स यत् कूर्मी नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा-  
पतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तदयदकरोत्  
तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सुर्वाः  
प्रजाः काश्यप्य इति ॥ ५ ॥

स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः । अमु मेवै-  
 तदादित्य मुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधा-  
 त्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्च दधाति तस्माद-  
 सावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषा-  
 ढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणतो वै वृषा  
 योषाः मुपशेतेऽरन्निमात्रेऽरन्निमात्राच्च वृषा योषा  
 मुपशेते सैषा सर्वासा मिष्टकानां महिषी यदुषाढै-  
 तस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासा मिष्टकानां दक्षिणतो  
 भवति ॥ ६ ॥

यदेव कूर्म मुपदधाति । प्राणो वै कूर्मः प्राणो  
 ह्येमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राण मेवैतदुपदधाति  
 तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधाति पुरस्तात्तत् प्रत्यञ्चं  
 प्राणं दधति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते  
 पुरुष मभ्यावृत्तं यजमाने तत् प्राणं दधाति दक्षि-  
 णतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो वागुषाढा प्राणो वै  
 वाचो वृषा प्राणो मिथुनम् ॥ ७ ॥

अपां गन्धन्त्सीदेति । एतंजापां गन्धिष्ठं युत्रेष  
 एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माग्निर्वैश्वानर

इति मैव त्वा सूर्यो हिंसीन् मो ऽग्निर्वैश्वानर  
 इत्येतदुच्छिन्नपत्वाः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः  
 प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनु-  
 वीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचता मिति  
 यथैवेनं दिव्या वृष्टिरनुसचेतैव मेतदाह ॥ ८ ॥

अथैन मेजयति । चीन्समुद्रान्समस्पृत्  
 स्वर्गानिती मे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेषु  
 कूर्मी भूत्वानुसृससर्पापां पतिव्वृषभ इष्टकाना  
 मित्यपां ह्येष पतिव्वृषभ इष्टकानां पुरीषं  
 व्वसानः सुकृतस्य लोक ऽइति पशवो वै पुरीषं  
 पशून् व्वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तत्र गच्छ  
 यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे  
 कर्मणोयुरित्येतत् ॥ ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः  
 पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षता मित्तीमं  
 यज्ञं मवता मित्येतत्पिपृतां नो भरीमभिरिति  
 बिभृतां नो भरीमाभिरित्येतद् द्यावापृथिव्योत्तमयो-  
 पदधाति द्यावपृथिव्यो हि कूर्मः ॥ १० ॥

त्रिभिरुपदधाति । त्वय इमे लोका अथो विष्ट-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैबैन मेतदुप-  
 दधाति त्रिभिरभ्यनक्ति तत् षट् तस्योक्तो बभ्रु-  
 रवका अधस्ताङ्गवन्त्यवका उपरिष्ठादापो वा ऽवका  
 अपा मेवैन मेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सूद-  
 दोऽसांधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ११ ॥

अथोलूखलमुसले ऽउपदधाति । विष्णुरका-  
 मयतान्नादः स्या मिति सु एते ऽदृष्टके ऽअपश्यदुलू-  
 खलमुसले ते ऽउपाधत्त ते ऽउपधायान्नादो ऽभवत्तथै-  
 वैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले ऽउपदधाति येन  
 रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वान्नादोऽसानीति तदेतत्सर्वं मन्त्रं यदु-  
 लूखलमुसले ऽउलूखलमुसलाभ्यां ह्येवान्नं क्रियत  
 ऽउलूखलमुसलाभ्या मद्यते \* ॥ १२ ॥

ते रेतस्त्रिचोर्ब्वेलयोपदधाति । पृष्टयो वै रेतः-  
 सिचौ मध्य सु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधा-

\* 'मद्यते'—इति क, ख ।



त्युत्तरे ऽउत्तर मेवास्मादेतदुन्नं दधात्यरन्निमान्ने ऽरन्नि-  
मावाङ्मान्न मद्यते ॥ १३ ॥

प्रादेशमान्ने भवतः । प्रादेशमात्रो वै गर्भो  
व्यिशुरन्न मेतदात्मसम्मित मेवास्मिन्नेतदुन्नं दधाति  
यदु वा ऽआत्मसम्मित मन्नं तदवति तन्न हिनस्ति  
यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति ॥ १४ ॥

औदुम्बरे भवतः । जग्वै रस उदुम्बर ऊर्ज  
मेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्व्वं ऽएते व्यनस्पतयो  
यदुदुम्बर एते ऽउपदधत् सर्व्वान् व्यनस्पतीनुषद-  
धाति रेतस्त्रिचोर्ब्बलयेमे वै रेतस्त्रिचावनयोस्तद्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्ब्बनस्पतयश्चतुःस्रक्ति  
भवति चतस्रो वै दिशः सर्व्वामु तद्विद्बु व्यन-  
स्पतीन् दधाति तस्मात् सर्व्वामु दिद्बु व्यनस्पतयो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवत्यलूखलरूपतायै ॥ १५ ॥

यद्देवोलूखलमुसले ऽउपदधाति । प्रजापते-  
र्व्विस्तृतात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत्त मन्नेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राणो ऽग्नेन गृहीतो यो ह्येवान्न  
मत्ति स प्राणिति ॥ १६ ॥

प्राणे गृहीते ऽस्मादन्नमुदचिक्र मिषत्तत् प्राणेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति  
सोऽन्न मत्ति ॥ १७ ॥

एतयोरुभयोरुगृहीतयोः । अस्मादूर्गुदचिक्रमि-  
षत्ता मेताभ्या मुभाभ्या मगृह्णात् तस्मादेताभ्या  
मुभाभ्यामूर्गुगृहीता यो ह्येवान्न मत्ति स प्राणिति त  
मूर्ज्जयति ॥ १८ ॥

जर्जि गृहीतायाम् । अस्मादेते ऽउभे ऽउदचिक्र-  
मिषतां ते ऽजर्ज्जागृह्णात् तस्मादेते ऽउभे जर्ज्जा  
गृहीते यः ह्येवोर्ज्जयति स प्राणिति सोऽन्न मत्ति  
॥ १९ ॥

तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि । तान्यन्यो-  
ऽन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्य-  
मानः सर्वे देवा अनुप्रापयन्तान्नजीवनं हीदं  
सर्वम् ॥ २० ॥

तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । तद्वै स प्राणो ऽभव-  
दिति तद्वि स प्राणो ऽभवन् मह्यं भत्वा \* प्रजापति-

रिति महान् हि स तद् भवद्यदेन मेते देवाः  
 प्रापद्यन्त भुजो भुजिष्या वित्वेति प्राणा वै भुजो  
 ऽन्नं भुजिष्या एतत् सर्वं वित्वेत्येतद्यत् प्राणान्  
 प्राणयत् पुरीत्यात्मा वै पूर्यदै प्राणान् प्राणयत्  
 तस्मात् प्राणा देवा अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्  
 तस्माद् प्रजापतिः प्राणो यो वै सु प्राण एषा सा  
 गायत्यथ यत् तदन्न मेष स वित्णुर्देवताथ या सो  
 र्गेष सु उदुम्बरः \* ॥ २१ ॥

सो ऽब्रवीत् । अयं व्याव मा सर्वस्मात् पाप्मन  
 उदभाषीदिति यद्ब्रवीदुदभाषीन्मेति तस्मादुदुम्बर  
 उदुम्बरो ह वै त मुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्ष-  
 कामा हि देवा उरु मे करदिति तस्मादुरुकर  
 मुरुकरः ह वै तदुलूखल मित्याचक्षते परोऽक्षम्परो-  
 ऽक्षकामा हि देवाः सैषा सर्वेषां प्राणानां योनि-  
 र्यदुलूखलः शिरो वै प्राणानां योनिः ॥ २२ ॥

तत् प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रं मिव

हि शिरश्चतुःसक्ति भवति चतुःसक्तौव हि शिरो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवति मध्ये सङ्गृहीतं मिव हि  
शिरः ॥ २३ ॥

तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् तदस्मिन्नेतत् सर्वं  
मध्यतो ऽदधुः प्राण मन्त्र मूर्च्छं तथैवास्मिन्नय मेत-  
द्दधाति रेतस्मिचोर्व्वेलया पृष्ठयो वै रेतस्मिचौ  
मध्यं मु पृष्ठयो मध्यतु एवास्मिन्नेतत् सर्वं दधाति  
॥ २४ ॥

\* विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । व्वीर्यं वै कर्म  
विष्णोर्व्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पश्यश  
ऽङ्गैत्यन्नं वै व्रतं यतो ऽन्नं स्पाशयाञ्चक्र ऽद्वत्येत-  
दिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य क्षेप युज्यः सुखा  
द्विदेवत्ययोपदधाति \* द्वे ह्यलखलमुसले सक्तत्  
सादयति समानं तत् करोति समानं ह्येतदन्न  
मेव सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ २५ ॥

अथोखा मुपदधाति । योनिर्वा ऽउखा योनि  
मेवैतदुपदधाति ता मुलूखल ऽउपदधात्यन्तरिक्षं  
वा ऽउलूखलं यद्वै किञ्चास्या ऊर्ध्वं मन्तरिक्षं मेव  
तन्मध्यं वा ऽअन्तरिक्षं मध्यतस्तद्योनिं दधाति  
तस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्यतो योनिरपि व्यन-  
स्पतीनाम् ॥ २६ ॥

यद्वेवोखा मुपदधाति । यो वै स प्रजापति-  
र्व्यस्र॑सतैषा \* सोखे मे वै लोका उखे मे लोकाः  
प्रजापतिस्ता मुलूखल ऽउपदधाति तदेन मेतस्मि-  
न्सर्वास्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राणे ऽन्न ऽजर्ज्यथो ऽए-  
तस्मादेवेन मेतत् सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति ॥  
॥ २७ ॥

अथोपशयां पिष्ट्वा । लोकभाज मुखां कृत्वा  
पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तथो  
हास्यैषानन्तरिता भवति ॥ २८ ॥

तदाहुः । कथ मस्यैषा पक्वा शृतोपहिता भव-

तीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किञ्चैत मग्निं  
वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत्पक्वञ् शृत  
मुपहितं भवति ॥ २६ ॥

ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बभ्रुरितो जज्ञे  
प्रथमं मेभ्यो योनिभ्यो ऽग्निं जातवेदा इत्येतेभ्यो  
हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या  
विष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नि-  
त्येतैर्वा ऽएष छन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं वहति प्रजा-  
नन् ॥ ३० ॥

इषे राये रमस्व । सहसे युम्न ऽजर्जे ऽअप-  
त्यायेत्येतस्मै सर्वस्मै रमस्वेत्येतत् सखाडसि खरा-  
डसीति सखाट् च छेष खराट् च सारस्वतौ  
त्वोत्सौ प्रावता मिति मनो वै सरस्वान् वाक्सर-  
स्वत्येतौ सारस्वता ऽउत्सौ तौ त्वा प्रावता मित्ये-  
तद् द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुरथो इयञ्  
छेवैतद्रूपं मृच्चापञ्च सादयित्वा सूददोहसाधिवदति  
तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ३१ ॥

अथैना मभिजुहोति । एतद्वा ऽअस्या मेतत्

पूर्व७ रेतः सित्तुं भवति सिकतास्तुदेतदभिकरोति  
तस्माद्योनौ रेतः सित्तुं मभिक्रियत ऽग्नाज्येन जु-  
होति सुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्या मानेयीभ्यां गाय-  
त्रीभ्यां तस्योक्तो बभूवुः ॥ ३२ ॥

अग्ने युच्वा हि ये तुव । युच्वा हि देवहृत-  
मानिति युक्तवतीभ्या मिद मेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति  
तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते ॥ ३३ ॥

स यदि संवत्सरभृतः स्यात्\* । अथाभिजुहु-  
यात् सर्व्वं वै तद्यत् संवत्सरभृतः सर्व्वं तद्यदभि-  
जुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेता सर्व्वं  
वै तद्यदसंवत्सरभृतो ऽसर्व्वं तद्यदुपतिष्ठते ऽभि-  
त्वेव जुहुयात् ॥ ३४ ॥

पशुरेष यदग्निः† । सो ऽत्रैव सर्व्वः कृत्स्नः  
संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राणः स्वयमाहसा श्रोणी द्वियजुः  
पृष्ठयो रेतस्त्रिचौ कौकसा विष्वज्योतिः ककुद

\* 'स्यात्'—इति ग, घ ।

† 'यदग्निः'—इति ग, घ ।

मृतव्ये यीवा चषाढा शिरः कूर्मो ये कूर्मो प्राणा  
ये शीर्षन् प्राणास्ते \* ते ॥ ३५ ॥

तं वा ऽएतम् । इत् जङ्घं प्राञ्चं चिनोत्यसौ  
वा ऽआदित्य एषो ऽग्निरमुं तदादित्य मित जङ्घं  
प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत् जङ्घः प्राङ्  
धीयते † ॥ ३६ ॥

अथैनं प्रसलव्यावर्त्तयति । अमुं तदादित्यं प्रस-  
लव्यावर्त्तयति तस्मादसावादित्य इमांल्लोकान् प्रस-  
लव्यनुपयैति ॥ ३७ ॥

उदरमुखा ‡ । योनिरुलूखल मुत्तरोखा भवत्य-  
धर मूलखल मुत्तरध्र ह्युदर मधरा योनिः शिश्रं  
मुसलं तद् वृत्त मिव भवति वृत्त मिव हिं शिश्रं तद्  
दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै वृषा योषा  
मुपशेते यदु पशोः संस्कृतस्यान्नं तद् दूर्व्वेष्टका  
तस्य वा ऽएतस्योत्तरोऽर्ध्व उदाहिततरो भवति पशु-

\* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'धीयते'—इति क ।

‡ 'उदरमुखा'—इति ग, घ ।



रेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नत  
तरो भवति \* ॥ ३८ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे स्वयमादृष्टादीना सुपधान मभिहितम् ;  
अथास्मिन् ब्राह्मणे कूर्मादीना सुपधान मभिधास्यते । तत्रादी  
तावत् कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति— “कूर्म  
सुपदधातीति । उक्तमेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— “यो  
वै स इति । ‘एषां’ पृथिव्यादीनां ‘लोकानाम्’ ‘अप्सु’ ‘प्रविद्धानां’  
मग्नानां ‘सः’ प्रसिद्धो यः ‘रसः’ ‘पराङ्’ अनाहतः ‘अत्यक्षरत्’  
अस्रवत् । ‘सः’ रसः ‘एषः’ इदानीं मस्माभिरुच्यमानः ‘कूर्मः’ ।  
अतः ‘तमेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन कूर्मोपधानेनोपहितवान् भवति ।  
लोकरसत्वप्रनाद्या कूर्मस्य लोकात्मकत्वमेवाह— “यावान्  
वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः , ‘आत्मा’ देहोऽपि  
‘तावान्’ तत्परिमाणः ; रस एव देहस्यान्तर्भावात् । यथा  
विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्रूपे सूक्ष्माकारेण अवतिष्ठते ,  
तद्वत्लोकरसात्मके कूर्मे ‘लोकाः’ अपि सूक्ष्मरूपेण अवतिष्ठन्त  
इति ‘स एषः’ कूर्मः एतत् सर्वलोकात्मक इत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वम् , तदेव तच्छ-

रोरे विविच्य दर्शयति— “तस्येति । ‘तस्य’ कूर्मस्य यदधस्तनं  
 ‘कपालं’ कठिनत्वक्, ‘सः’ ‘अयं लोकः’ पृथिवी । अधरकपाल-  
 पृथिव्योः कस्यचित् साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तादृक्कायमुपपाद-  
 यति— “तत् प्रतिष्ठितमिवेति । ‘प्रतिष्ठितम्’ अधः सर्वत्र  
 पृष्ठतलम् । अधरकपाल-पृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्या-  
 क्तकत्वम् । “अथेति । ‘अथ’ ‘यत्’ ‘उत्तरं’ कपालम्, ‘तद्’ ‘द्यौः’  
 द्युलोकः । पूर्ववत् तदेवोपपादयति— “तद् व्यवगृहीतान्तमिति ।  
 विविधं भवगृहीतः अवनतः प्रान्तो यस्य, तत् तथोक्तम् ।  
 कूर्मस्योपरिकपालम् सर्वतो मण्डलाकारेणावनतप्रान्तम् ‘इव’  
 ‘भवति’, ‘द्यौः’ अपि तथाविधा ; अतस्तस्य तदात्मकत्वम् ।  
 ‘अथ’ ‘यत्’ अधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोः ‘अन्तरा’ मध्यमस्ति,  
 ‘तदन्तरिक्षम्’ । अतः ‘स एषः’ कूर्मः, ‘इमे’ पृथिव्यादयः ‘एव’  
 लोकाः । तस्मादेतेनोपधानेन ‘इमानेव लोकानुपद्रधाति’ ॥ २ ॥

‘विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुघृतैरभ्यञ्जनं’ विधत्ते— “तमभ्य-  
 नक्षीति \* । दधिमधुघृतानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वम् । घृतस्य,  
 दध्न उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम् ।  
 मधुनस्तु वृक्षाचलशिखरादिषूपरि भागेष्ववस्थितत्वात् द्युलोका-  
 त्मकत्वम् । अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात्,  
 सोमस्य च द्युलोकेऽवस्थानात्, ‘मधु’ द्युलोकरूपम् । प्रकारान्तरे-  
 णापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति— “अथो इति ॥ ३ ॥

अभ्यञ्जने मन्त्रं विधत्ते— “मधु वाता ऋतायत इति † ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २७

† य० वा० १३. २७, २८, २९

विहित मभ्यञ्जनमन्त्रं रसात्मना प्रशंसति—“यां वै देवता मिति ।  
 ‘यां देवताम्’ ‘अभि’-लक्ष्य , या ‘ऋक्’ ‘अनूक्ता’ उच्चारिता ,  
 तद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते , सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव  
 प्रतिपाद्या देवता । तथा यशुरपि । एवं च सत्यत्र तद्देवतास्वरू-  
 प मेतत् मधु ; “मधुवाता ऋतायते”—इत्यनया ऋचा प्रति-  
 पाद्यत्वात् । ततश्च ‘एष ढचः’ प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूत-  
 मध्वात्मकः । तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये , ए ढचः ।  
 “ऋचि त्रेवत्तरपदादिलोपञ्चन्दसि”—इति \* त्रिशब्दस्य सम्प्र-  
 सारणम् , ऋवर्णस्य च लोपः , “ऋक्पूरब्धूरिति समासान्तः † ।  
 मधु च सोमरसस्वरूपम् ; अतश्चेतेन ढचेनोपधाने सति रसा-  
 त्मके ‘अस्मिन्’ कूर्मे ‘रस मेव’ विहितवान् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसङ्गो विधत्ते— “गायत्रीभिस्त्रिष्टुभि-  
 रिति । तद्व्याख्यानम् प्रागुक्तं मित्याह— “तस्योक्तो वञ्चुरिति ।  
 तच्च “गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राण मेवास्मिन्नेतद्दधाति तिस्र-  
 भिः , त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानः , तानेवास्मिन्ने-  
 तद् दधाति”—इति षष्ठकाण्डेऽभिहितम् ‡ ।

मन्त्राणां मय मर्थः § ,— ‘ऋतायते’ ऋतं यच्च मात्मन

\* पा० ६० १. ३७ सू० १ वा० । † पा० सू० ५० ४. ७४ ।

‡ इका० ३ प्र० २ ब्रा० ५ क० ( ६ भा० २११ पृ० ) ।

§ तत्पाठास्त्वेवम्,—

“मधु वाता ऋतायते मधु चरन्ति सिन्धवः ।

माध्वीर्गः खन्वोवधीः । १ । मधु नक्त सुतोवसो मधुमत

पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । २ । मधुमान् नो

वन्धतिर्मधुमा अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । ३ ।”

इच्छतीति ऋतायन् यजमानः । व्यत्ययेनाकारः । तस्मै 'वाताः'  
वायवो 'मधु' मधुररसं 'क्षरन्ति' स्त्रावयन्ति । 'सिन्धवः' समु-  
द्राश्च नद्यश्च 'मधु क्षरन्ति' । 'ओषधीः' ओषधयोऽपि । "वा-  
च्छन्दसि"—इति \* पूर्वसवर्णदीर्घः । 'नः' अस्मद्व्यजमानार्थं  
'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'सन्तु' । "ऋचवासेव्यवास्थेत्यादिना †  
माध्वी-शब्दो निपातितः । किञ्च 'नक्तम्' रात्रिरपि 'मधु' मधुर-  
रसोपेतं भवतु । अपि च 'उषसः' मधुररसोपेता भवन्तु । तथा  
यत् 'पार्थिवं रजः', तत् सर्वं 'मधुमत्' अस्तु । 'नः' अस्माकं यज-  
मानस्य 'पिता' पित्रस्थानीया 'द्वीः' 'मध्वस्तु' मधुररसोपेता भवतु ।  
• 'वनस्पतिः' अश्वत्थादिर्यज्ञसाधनभूतः 'नः' अस्मद्व्यजमानार्थं  
'मधुमान् अस्तु' । 'सूर्यः' अपि 'मधुमान्' सन्तापराहित्यलक्षण-  
• माधुर्यरसोपेतः 'अस्तु' । तथा 'गावः' 'नः' अस्मद्व्यजमानार्थं  
'माध्वीः' मधुरक्षीरोपेताः 'भवन्तु' ॥ ४ ॥ .

• • अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति— "स  
यत् कूर्म इति । 'एतत्' कूर्मसम्बन्धि 'रूपम्' आत्मनः  
'कृत्वा' 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—  
"यदसृजताकरोदिति । 'असृजतेति यत्, तदकरोदित्यर्थः ।  
• 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्'—इति 'यत्', तस्माद् अकरोदिति  
'कूर्मः'—इति, कूर्मशब्दो नामधेय मित्यर्थः । करोतेरौणादिके मक्-  
प्रत्यये "बहुलं छन्दसि"—इत्युत्वे ‡, 'हलि च'—इति § दीर्घं च

\* पा० छ० ६. १. १०६ ।

† पा० छ० ६. ४. १७५ ।

‡ पा० छ० ७. १. १०३ ।

§ पा० छ० ८. २. ७७ ।

कृते, कूर्म इति रूपम् भवति । “कश्यपो ना”-इत्यादिक-  
स्थाय मर्थः, — कूर्मशब्दस्य करणे प्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, कश्य-  
पस्य च प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात्, ‘कश्यपः कूर्मः खलु’ ;  
अत एव ‘सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः’ इति ‘आहुः’ जनाः । अतश्च  
कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानम् प्रशस्त मिति ॥ ५ ॥

अथ त मेव कूर्म मादित्यात्मनापि स्तौति— “स य इति ।  
‘सः’ प्रकृतो ‘यः’ ‘कूर्मः’ अस्ति, ‘सः’ ‘असौ’ विप्रकृतः ‘आदित्यः’ ।  
आदित्यात्मकत्वम् मण्डलाकारसाम्यात्, यथा ‘आदित्यो यूयः’-  
इति । एतस्योपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतम् भवति । उक्तं  
मादित्यात्मकत्वं सुपजीव्य, तस्य चयनप्रदेशे एव पूर्वभागे प्रत्यङ्-  
मुखस्योपधानं माह— “तं पुरस्तादिति ।

ननु कूर्मस्यादित्यात्मकत्वेन पुरस्तात् \* प्रत्यगुपधानेनादि-  
त्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानं मित्यन्योन्याश्रयता-दोष इति  
चेत्, मैत्रम् † ; कारकज्ञापकयोर्हेतुहेतुमज्ञाववैपरीत्यं भूषणं  
मेव, न तु दूषणम् । यथा अग्निर्धूमस्य कारको हेतुः,  
धूमश्चान्नेर्ज्ञापक इति ; तथात्रापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्य-  
गुपधानं मादित्यस्य पुरस्तात् प्राङ्निधानं कारकम्,  
आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवस्थानं कूर्मस्यैवंविधोपधानं ज्ञाप-  
कम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानम्, अषाढायाः पुरस्तादुत्तरतो  
वापि स्यादित्यत आह— “दक्षिणत इति । ‘अषाढायै’-

\* “प्रत्यगुपधानम्, एतस्य च पुरस्तात्”—इत्यधिकः पाठोऽत्र छ-पुस्तके ।

† ‘मैत्रम्’—इत्यस्य स्थाने “नैष दोषः”—इति छ-पाठः ।

इति , षष्ठ्यर्थे चतुर्थी \* । उक्तेऽर्थे उपपत्ति माह— “वृषा वा इति । वृषशब्देन सेचनसमर्थत्वात् पुमानुच्यते ; अषाढा-  
शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु । “उत्तरतो हि स्त्री पुमांस मुपशेते”—इति श्रुतेः † पुमान् दक्षिणभागे योषा मुपशेते । उपशयनेन ईक्षिततमत्वात् योषा मिति द्वितीया ‡ ; अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढायाः दक्षिणभागे उपधान मुपपन्न मित्यर्थः ॥ दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं स्यादित्यत आह—  
“अरन्निमात्रे इति । उखाया अपि पुरस्ताद् अषाढायाः शिष्टत्वेन सर्वेष्टकानां मपि प्रशस्तत्वात् तद्दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानां मपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धम् भवतीति दर्शयति— “सेषेति ॥ ६ ॥

अथ त मेव कूर्मं प्राणात्मनापि स्तौति— “यद्देवेति । “प्राणो होमा इति । ‘प्राणः’ खलु ‘हमाः सर्वाः , प्रजाः करोति’ ; प्राणिभिरेव प्रजानां मुत्पादनात् । अतश्च कर्त्तव्यत्वसामा-  
न्यात् ‘प्राणः कूर्मः’ इति । तदुपधाने प्राणस्यैवोपधानं भवति । “तं पुरस्तादिनोक्तम् प्राणात्मकत्वं मुपजीव्य ‘पुरस्तात्’ प्रत्यक्षमुखत्वेनोपधानं मुपपाद्यते । “तस्मादिति । यत एवम् , ‘तस्मात्’ कारणात् ‘पुरस्तात्’ मुखे प्राणवायुः प्रत्यङ्मुख-  
त्वेन ‘धीयते’ ध्रियते ।

कूर्मस्य प्राणात्मकत्वादिरक्षयपुरुषाभिमुख्येन तस्योपधाने

\* पा० २. ३. ६२ सु० १ वा० ।

† पुरस्तात् १ का० १ प्र० १ ब्रा० २० क० ( १ भा० ६ पृ० ) दृश्यम् ।

‡ पा० छ० १. ४. ४६ ।

पुरुषस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवत्याह—  
 “पुरुष मभ्याहृत मिति । कूर्मस्य प्राणत्वादषाढायाः वाक्कात्  
 तस्य दक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति — “दक्षिणत इति ।  
 स्त्रीत्वसामान्यादषाढायाः वागात्मकत्वम् । ‘प्राणः’ ‘वाचः’ ‘हृषा’  
 पतिः खलु ; प्राणीपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः । अतः प्राणो  
 वागित्युभय मपि ‘मिथुनम्’ । एवञ्च वागात्मिकाया अषाढाया  
 दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्योपधानं सुपपन्न मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तदुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अपां गन्ध-  
 न्नित्यादिना \* । “यत्रेति । ‘यत्र’ स्थाने ‘एषः’ सूर्यः ‘एतत्’ तपनं  
 करोति, ‘एतत्’ खलु ‘अपां’ ‘गन्धिष्ठं’ गन्धीरतमम् , ऋद इत्यर्थः ।  
 सूर्यस्य दृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ऋदत्वं सुच्यते ।  
 ततश्च कूर्मस्यापा मन्तरेणावस्थानाद् ‘अपां गन्धन्’ सूर्यावस्थान-  
 समीपदेशलक्षणे .अपां ऋदे ‘सीद’ उपविशेति मन्त्र आह ।  
 “गन्धन्निति । गन्धीरशब्दस्य छान्दसो गन्धन्नादेशः † , तत्  
 उत्तरस्याः सप्तम्याः “सुपां सुलुक्”—इत्यादिना ‡ लुकि रूपम् ।  
 “गन्धिष्ठ मिति । गन्धन्-शब्दादतिशायने इहनि कृते § , “टिः”—  
 इति ॥ टिलोपे कृते , रूपम् । “मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्  
 माम्निर्वैश्वानरः”—इत्यत्राभिताप्सीदित्येतत्पदार्थं माह— “मैव

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २८ ।

† “समुद्र इव वासि गन्धना”—इति तै० ब्रा० ७. ७. ६ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ ।

§ पा० सू० ५. ३. ५५ ।

॥ पा० सू० ६. ४. १४३ ।

त्वेति । ‘अच्छिन्नपत्राः’-इति । पत्रशब्देनात्रावयवो लक्ष्यते ,  
तेनात्राच्छिन्नावयवा इत्ययं मर्थः स्यात् । ‘या इमाः’  
उपहिताः ‘इष्टकाः’, ‘ताः’ इमा एव ‘सर्वाः प्रजाः’ खलु ।  
इष्टकानां प्रजापत्यात्मकत्वेन , प्रजापतेश्च सर्वप्रजाकारणत्वेन ,  
तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्ट-शब्देनानिष्टं व्याधिप्रभृतिकमुच्यते ,  
तद्रहिता अरिष्टाः ; तस्यैव विवरणम्— ‘अनार्त्ताः’-इति ।  
तथा सति अच्छिन्नपत्राः प्रजाः ‘अनुवीक्षस्व’-इत्यनेन एत-  
द्रुपहितेष्टकारूपाः प्रजाः , यथा ‘अरिष्टा अनार्त्ताः’ भवन्ति ,  
तथा ताः ‘अनुवीक्षस्व’ अनुपालयेत्येतदुक्तम् भवतीत्यर्थः ।  
“यथैवैन मिति । ‘एनं’ कूर्मं मनुलक्ष्य , ‘यथैव’ ‘दिष्ट्या वृष्टिः’  
सम्बन्धीयात् , ‘एवम्’ अनेनाभिप्रायेण ‘एतत्’ अनुत्वेत्यादिकम्  
‘आह ॥

“अपाङ्गश्चान्”, ‘जीन्वसुद्रान्’, “मही द्यौः”-इति \* त्रिभिः  
मन्त्रैः अयं कूर्म उपधीयते । तत्र मध्यमेन तं चालयन्नुपदध्यात् ।  
अत एव कात्यायनः— “अपाङ्गश्चानिति तिसृभिर्घट्टयति मध्य-  
मया”-इति † ॥ ८ ॥

तदेतद्दर्शयन्नाचष्टे— “अथेति । ‘एजयति’ कम्पयति ।  
“एजृ कम्पने”-इति ‡ धातुः । “इमे इति । ये ‘इमे त्रयः’  
‘समुद्राः’ समुद्रवन्ति समुद्रच्छन्तीति समुद्रा लोकाः § ।

\* वा० ख० १३. ३०, ३१, ३२ ।

† का० श्री० सू० १७. ५. १, २ ।

‡ भा० प० २३४ घा० ।

§ बि० २. ३. १ दृष्टव्यम् ।



‘स्वर्गाः’ सुखहेतुभूताः । ‘तान्’ ‘एषः’ प्रजापतिः ‘कूर्मो’ भूत्वा अनुसंसर्ष<sup>\*</sup> ; प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात् \* । “स एष इमे एव लोका इत्यभिदिना † कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात् , प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंसर्षेति ।

अथ मन्त्राभिसन्धिः , — अपाम्प्रतित्वं कूर्मस्य ; तत्रैव सर्वदा-  
वस्थानात् । वृषभशब्देन श्रेष्ठं लक्ष्यते, तच्च लोकत्रयात्मकत्वादिना  
द्रष्टव्यम् । अथ वा इष्टकात्मनां स्त्रीणां ‘वृषभः’ पुमान् । पुरीष-  
शब्देन पशवोऽभिधीयन्ते , तान् ‘वसानः’ आच्छादयन् , यज-  
मानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः । अथ वा इष्टकारूपान् पशून्  
अच्छादयन्निति । पूर्वं सुपदिताः कूर्माः ‘एतेन’ उपधानलक्ष-  
णेन कर्मणा ‘यत्र’ ‘परेताः’ मृताः प्राप्नुवन् , तत्र गच्छेत्ये-  
तदुक्तं भवति ॥ ८ ॥

“मही द्योतिरिति ‡, अत्र महीपदस्य विवक्षितं मर्थं माह—  
“महतीवि । द्वितीयपादे ‘मिमिक्षताम्’-इत्यस्यावन मर्थ इति  
दर्शयति— “इमं यज्ञं भवता मित्येतदिति । अनेकार्थत्वाद्वा-  
तूनां मिमिक्षतिरत्रावने वर्त्तते । तृतीयपादे ‘पिष्टताम्’-इत्य-  
स्यार्थं माह— “विभृता मिति ॥

मन्त्रार्थस्तु , — हे कूर्म ! त्व मयां गम्भीरतरे देशे उप-  
विश , तत्र सोदन्तं त्वां सूर्यो मा अभितपतु , ‘वैश्वानरः’  
सर्वेषां मुदरस्थः सर्वात्मा च सर्वज्ञः अग्निरपि मा अभितपतु ।

\* वा० सं० १३. ३१ ।

† पुरस्तादिहेव द्वितीया कण्ठो द्रष्टव्या ।

‡ वा० सं० १३. ३२ ।

तथाविधस्त्व मनवस्त्रुष्टितावयवा इष्टकारूपाः प्रजाः अनु-  
वीक्षस्व । 'त्वा' त्वां 'दिव्या दृष्टिः' चानुसम्बन्धीयता मिति  
प्रथमस्यार्थः \*

हे कूर्म ! त्वं 'त्रीन्' सुखहेतुभूतान् लोकान् 'समसृपत्'  
संसृजोऽसि । व्यत्ययेन तिवादेशः, 'लृदित्वात्' चुरेडादेशः † ।  
युतः स त्वम् 'अपाम्यतिः', 'इष्टकानां' च 'वृषभः', अतस्त्वां  
ब्रवीमि— 'पुरीषम्' इष्टकारूपान् पशून् 'वसानः' आच्छादयन्,  
'सुकृतस्य' सुष्ठु सम्पादितस्याग्नेः 'लोके' स्थाने स्थित्वा, 'तत्र'  
गच्छ', एतेन कर्मणा 'पूर्वं' कूर्माः 'यत्र' 'परेताः' परागताः,  
सन्नतिं प्राप्नुवन्निति द्वितीयस्यार्थः ‡ ॥

"मही द्यौरिति मन्त्रस्तु प्रागेव व्याख्यातः § । अन्तिम-  
मन्त्रस्य व्यावापृथिव्यत्वं प्रशंसति— "व्यावापृथिव्य इति ।  
"तस्य यदधरं कपाल मयं स लोकः"—इत्यादिना ॥ कूर्मस्या-  
धस्तनोपरितनयोः कपालयोर्व्यावापृथिवीरूपत्वस्योक्तत्वात् 'कूर्मो

\* अस्य पाठस्त्वेवम्—

"अपाङ्गमनसौद मा त्वा सूर्योऽभितासीष्वाग्निर्वैश्वानरः । अच्छिन्न-  
पत्राः प्रजा अनुवीक्षन्तास्तु त्वा दिव्या दृष्टिः सचताम्"—इति ।

† पा० सु० ३. १. ५५ ।

‡ अस्य पाठस्त्वेवम्—

"त्रीन्समुद्राग्न्यमसृपत् स्वर्गानपाम्यतिर्वृषभ इष्टकानाम् । पुरीषं  
वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेताः"—इति ।

§ ३४६ पृ० १३ पङ्क्तितो दृश्यम् ।

॥ पुरस्कृदिहेव ३९५ पृ० २१ पं० दृश्यम् ।

द्यावापृथिव्यः’ ; अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो द्यावापृथिव्यत्वं प्रशस्त मिति यावत् । द्यावापृथिव्यशब्दसु “द्यावापृथिवीशुना-  
सीरेत्यादिसूत्रेण \* देवतार्थे यत्प्रत्ययान्तः ॥ १० ॥

उपधानमन्त्राणां त्रित्वसङ्ख्या मनूय प्रशंसति— “त्रिभि-  
रिति । ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः त्रयः’ ; कूर्मश्च लोकत्रया-  
त्मकः ; ततश्च तदुपधानं त्रिभिर्मन्त्रैः सम्पाद्यते । अपि च  
अग्निस्त्रिवृत्सोमात्मकः ; अग्नेस्त्रिवृत्त्वमेकस्यादेव सहोत्पत्तेः ।  
तथा च श्रूयते— “स सुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत , त मग्नि-  
देवतान्वसृज्यतेति † । आहवनीयादिभेदेन वा अग्नेस्त्रिवृत्त्वम् ।  
अथवा षष्ठकाण्डे रुद्रादिनवनामधेयाभिधेयत्वादग्नेस्त्रिवृत्त्वमु-  
क्तम् ‡ । तथा सति अत्रोपधानमन्त्राणां त्रित्वात् ‘अग्निः’ ‘यावान्’  
यत्परिमाणविशिष्टः , ‘अस्य’ च ‘मात्रा’ अवयवः ‘यावत्तौ’  
यत्परिमाणविशिष्टौ , ‘तावत्तौ’ तत्परिमाणविशिष्टेन रूपेण  
‘एतदुपधानं’ सम्पादितम् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां उपधानमन्त्राणां च सङ्ख्याः सम्भूय  
प्रशंसति— “त्रिभिरभ्यनक्तौति । ‘तत्’ तथा सति ‘षट्’ सङ्ख्या  
सम्पाद्यते । तत्सङ्ख्यासम्पादनस्य तु प्रशंसारूपं व्याख्यानम् “षड्  
वा ऋतवः”—इत्यादिना § प्रागुक्तमित्यर्थः ।

कूर्मस्याधस्तादुपरिष्ठाच्चावकाः स्थापयेदित्याह— “अवका

\* पा० सू० ४. २. ३२ ।

† तं सं० ७. १. १. ४ ।

‡ पूर्वस्मिन् काण्डे १. ३. १०—१८ ( १ भा० १७—२० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ पुरस्तादिहैव २. ३. ३५ द्रष्टव्यम् ।

इति \* । ‘अवका’ शैवालम् । अवकास्थापनं किमर्थं मित्यत आह— “आपो वा इति । ‘अवकाः’ अप्सु जायन्त इति कार्य-कारणमेदाविवक्षया आपोऽप्यवकाः । अतश्चेतेनावकास्थापनेन ‘अपा मेव मध्यतः’ ‘एनं’ कूर्मं निहितवान् भवति । “साद-यित्वेत्यादिकन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

कूर्मोपधानानन्तरम् उलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते— “अथेति । विहितं मुलूखलमुसलयोरुपधानं मन्नादनसाधनतया प्रशंसति— “विष्णुरित्यादिना । ‘येन’ ‘रूपेण’ प्रकारेण ‘यत् कर्म’ कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्’, ‘तेन’ प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं भविष्ये ‘अन्नादोऽसानोति’ अभिप्रायेण ‘यजमान उलूखलमुसले उपदधाति’ यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत्, ‘तथैव’ ‘एतत्’ एतेन यजमानोऽप्यन्नादो भवतीत्यर्थः ।

अन्नादनसाधनता कथं मनयोरिति तदुपपादयति— “तदे-तदिति । यतः ‘उलूखलमुसलाभ्यां मन्त्रं क्रियते’; ताभ्यां ब्रौह्मादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानां मेवान्नत्वात्, ‘अन्नं मप्युलूखलमुसलाभ्यां क्रियते’ । अतश्च ‘उलूखलमुसले’— इति यदेतत् कृत्वा मन्त्रम्; तथा सति अन्नादनसाधनतानयो-रुपपद्यत इति भावः ॥ १२ ॥

अनयोः स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ते इति । रेतस्त्रिधा-विति, इष्टकाविशेषी प्राग्विहितौ † । तयोः ‘वेलया’ प्रान्तेन । सप्तम्यर्थे तृतीया । अत एव कात्यायनः,— “रेतस्त्रिचोर्वेलायां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २७ ।

†. पुरक्षात् ३. २. २२ द्रष्टव्यम् ।

मरन्निमात्रश्रुतेरिति \* । तत्रैते उपदध्यात् । यतो 'रैत-  
स्मिचो' 'पृष्टयः' । पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्यास्थिविशेषावुच्येते ।  
अवयवापेक्षया न बहुत्वम् । रैतस्मैचनसाधनत्वसामान्यात्  
रैतस्मिचोः पृष्टिरूपता । शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्टयो मध्यं  
हि ; अतश्च तत्रान्ते अनयोरुपधानात् मध्यभागे एवास्मिन्  
प्रजापतौ चीयमानाग्निरूपे 'एतत् अन्नं' निहितवान् भवति ।

दिगन्तरेऽपि रैतस्मिचोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—  
“उत्तर इति । स्वयमादृशाया उत्तरप्रदेशेऽपि । प्रमाणविशेष  
माह— “अरन्निमात्रे इति । लोके हि अरन्निमात्रप्रदेशादन्न  
मादायाभ्यवक्रियते ; अतश्चान्नरूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे  
कर्त्तव्यम् । “उलूखलमुसले स्वयमादृशा मुत्तरेणारन्निमात्रे”—  
इति हि सूत्रम् † ॥ १२ ॥

प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्त्तव्ये इत्याह—  
“प्रादेशमात्रे भवत इति ‡ । परिमाणविशेषोपादाने कारणं  
माह— “प्रादेशमात्रो वा इति । ‘विष्णुः’ यज्ञः , चीयमानाग्नि-  
रूपः । इदानीं मनिष्यन्त्वेन गर्भः खलु ; अतोऽयं प्रादेशमात्रः ;  
लोके गर्भाणां तावत्-प्रमाणत्वात् । उलूखलमुसलं चान्नम् ;  
तदेतत् सर्वं मन्नं मित्युक्तत्वात् । ततश्च ‘अस्मिन्’ गर्भरूपे  
एतेनात्मसदृशप्रमाणं मेव ‘अन्नं दधाति’ ।

\* “उलूखलस्य रैतस्मिग्वेलाया मरन्निमात्रश्रुतेः”—इति सुद्रित-  
पाठः का० श्री० सू० १७. ४. २१ ।

† का० श्री० सू० १७. ५. ३६ ।

‡ का० श्री० सू० १७. ५. ३७ ।

अत्रस्यात्मानुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभः ? तदतिक्रमे वा कः ? इत्यत आह— “यदु वा इत्यादि । ‘आत्मसम्भित मन्त्रम्’ आत्मानं रक्षति , न तु हन्ति । यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा ‘तत्’ तथा न करोति । अल्पस्य बलाङ्गपोषानाधायकत्वाद् , अधिकस्य च दुर्ज-  
रत्वेन पोषाकरत्वादित्यर्थः । “हिनस्तीति ; ‘हिसि हिंसायाम्’  
—इत्यस्य \* रौधादिकस्य तिपि अस्मि “आन्नलोपः”—इति † नकार-  
लोपे रूपम् । अल्पशब्दादीयसुनि “युवाल्पयोः”—इत्यादिना कच्चा-  
देशे ‡ कनीय इति भवति ॥ १४ ॥

अनयोर्वक्ष्यविशेषं विधाय स्त्रीति— “औदुम्बरे भवत इति ।  
‘औदुम्बरे’ उदुम्बरविकारे , ततो निष्पन्ने भवतः । “बिष्वा-  
दित्वाङ्गिकारे § अण् प्रत्ययः । ‘उदुम्बर जर्ज्’, ‘बलकरो रसः’  
खलु । उदुम्बरस्य जर्ग्रूपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते— “देवा वा जर्ज्  
व्यभञ्जन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति ॥ । तस्या चैतेन ‘अस्मिन्’  
प्रजापतौ ‘जर्ज्’ मेव रसं निदधाति । सर्ववनस्पतीनां सुपधान-  
सिध्यर्थं उदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपता माह— “अथो सर्व  
एत इति । ‘एते’ उलूखलमुसले ‘उपदधद्’ उपदधानः ‘सर्वान्  
वनस्पतीन् उपहितवान् भवति ॥

रेतस्त्रिग्वेलाया सुपधानेन व्यावाष्टयिव्योर्वनस्पत्युपधानं प्रति-

\* रु० प० १८ घा० ।

† पा० सु० ६. ४. २३ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

§ पा० सु० ४. ३. १३६ ।

॥ त्रि० ब्रा० १. १. ३. १० ।

षादयति— “रैतस्मिचोर्वे” लयेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ चतुः  
 ‘रैतस्मिचो’ इष्टके । ‘तत्’ तेन ‘अनयोः’ द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतीन्’  
 उपहितवान् भवति । ‘तस्माद्’ हेतोर्द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतयः’  
 सन्तीति शेषः ॥

उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्यु-  
 पधान माह— “चतुःस्रक्तीति । चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य,  
 तदिदं चतुःस्रक्ति । यथा ‘मध्ये सङ्गृहीतम्’ मध्यप्रदेशे सङ्गु-  
 हितम् । किमर्थम् ? ‘उलूखलरूपतायै’ एवं रूपं हि लोके  
 प्रसिद्धं सुलूखलम् । एतस्मादेव च वाक्यशेषादुलूखलं मेव चतुः-  
 स्रक्ति मध्यसङ्गृहीतञ्च भवति, न सुसलम् । तथा च वक्ष्यते—  
 “तद् वृत्तं मिव भवतीति \* ॥ १५ ॥

अथ विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणं मन्त्रं मूर्जं मस्त्रिन्नग्नौ  
 प्रतिनिधातुं मितिहास माह— “यदेवेति । ‘मध्यतः’ मध्यप्रदेशात्  
 ‘प्राणः’ अशेषवृत्तिर्वायुः ‘उदचिक्रमिषत्’ उत्क्रमितुं मैच्छत् । ‘तं’  
 प्राणं सुत्क्रमितुं मिच्छन्तम् ‘अग्नेन’ अदनीयेन ‘अगृह्णात्’ गृहीत-  
 वान्, प्रजापतिरिति शेषः । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘प्राणोऽग्नेन’  
 गृहीतः । उक्तं मेवार्थं प्रसिद्धा दृढयति— “यो ह्येवेति ।  
 ‘यो हि’ अत्ता ‘अन्नम्’ अदनीयम् ‘अग्नि’ भक्षयति, ‘सः’  
 ‘प्राणिति’ ऐष्टते ॥ १६ ॥

सिद्धे प्राणग्रहणे अन्नस्योत्क्रमणेच्छा माह— “ग्राणे गृहीत  
 इति । ‘अस्मात्’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ कर्तुं उत्क्रमितुं मैच्छत् ।

‘तत्’ अन्नं ‘प्राणेन’ साधनेन ‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । तस्मादि-  
त्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

“एतयोरिति । ‘एतयोरुभयोः’ प्राणाद्ययोर्वशीकृतयोः ‘जर्क्’  
बलम् ‘उदचिक्रमिषत्’ । “जर्ज बलप्राणनयोरिति \* धातुः ।  
जर्जयति बलयतीत्यूर्क् बलम् ; यदा बलहेतुरन्नरसोऽपि जर्गि-  
त्यभिधीयते । ‘ताम्’ जर्जम् ‘एताभ्या मुभाभ्यां’ प्राणाद्वाभ्याम्  
‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । ‘तस्मात्’ अन्नप्राणाभ्यां सा ‘जर्क्’  
‘गृहीता’ वशीकृता । “यो ह्येत्यादि , पूर्ववद् व्याख्येयम् । “त  
भूर्जयतीति । ‘तम्’ अन्नारम् पुरुषम् ‘जर्जयति’ बलयति , भुक्त  
‘मन्नं कर्त्तुं’ इति शेषः ॥ १८ ॥

“जर्जीति । जर्क् ग्रहणानन्तरं मुचिक्रमिषन्तावन्नप्राणौ ‘जर्ज्वा’  
‘अगृह्णात्’ । “यं हीति । जर्क् बलं य मेव ‘जर्जयति’ बलयति  
‘सः’ ‘प्राणिति’ चेत्येते , ‘सोऽन्न मन्नि’ च ॥ १९ ॥

“तान्येतानोति । यतस्सावत् ‘तानि’ सर्वाणि अन्योऽन्येन ‘गृही-  
तानि’ , ततः ‘तान्यन्योऽन्येन’ ‘गृहीत्वा’ प्रजापतिः आत्मनि ‘प्रापा-  
दयन्त’ प्रापयत् । ‘आत्मन्’-इति , “सुपां सुलुगित्यादिना † सप्तम्या  
लुक् । यत् ‘इदं सर्वम्’ इन्द्रियजातम् ‘अन्नजीवनम्’ । अन्न मेव  
‘जीवनं’ यस्य तदन्नजीवनम् ; तदभावे सर्वेषां स्वस्वव्यापारा-  
समर्थत्वात् । अतोऽस्मिन् प्रजापतौ प्रपद्यमानं मन्नं ‘सर्वे देवाः’  
इन्द्रियाणि प्रपन्नान्यभूवन् ॥ २० ॥

\* पु० प० १६ धा० ।

† पा० सु० ३. १. ३६ ।



उक्तेऽर्थे कश्चिन् मन्त्रं संवादयति — “तदेव इति । ‘तत्’ तत्रार्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणः ‘ज्ञोक्तः’ मन्त्रोऽभ्युक्तः । मन्त्रः—

“तद्दे स प्राणोऽभवत्तद्दे स भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या विच्चा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि”—इति ॥

त मेतं मन्त्रं पादशो विभज्य व्याचष्टे— “तद् वा इति । ‘तत्’ तच्च तदा अन्नलाभाय \* ‘सः’ वै खलु ‘प्राणोऽभवत्’ । प्राणशब्देन इन्द्रियाण्युच्यन्ते, ततश्च सेन्द्रियोऽभूदित्यर्थः । “महान् भूत्वेति । यदा ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘एते देवाः’ इन्द्रियाणि ‘प्रापयन्त’, तदा ‘स महान् अभूत्’ खलु । “भुजो भुजिष्या विच्चेति । भोगसाधनत्वेन ‘भुजः’ प्राणा उच्यन्ते । ‘भुजिष्या’-शब्देन भोग्यत्वादन्नम् । तदेतत् सर्वं ‘विच्चा’ लब्ध्वेतदुक्तं भवति । “यत् प्राणानिति । ‘पुरि’ आत्मनि शरीरे ‘प्राणान्’ ‘प्राणयत्’ स्वस्वत्यापार-समर्थानकरोत् । यत एव प्राणयत्, ‘तस्मात्’ ‘देवाः’ इन्द्रियाणि प्रापयन्त इति † ( प्राणा इति ) व्युत्पत्त्या प्राणाः अभूवन् । अथ ‘प्रजापतिः’ तान् प्राणयदिति यत्, तस्मात् प्रजापतिरपि प्राणोऽभूत् । अत्र प्राणप्रयोजकत्वात् प्रजापतेः प्राणत्वमुक्तम् । एतावता तदेतदन्नं प्रपद्यमानं सर्वे देवा अनुप्रापयन्त अन्नजीवनं हीदं सर्वं मित्ययमर्थः संवादप्रदर्शनेनोप-पादितो भवति ॥

प्रजापतेर्विस्त्रस्तादित्याद्युपक्रमेण प्रकृते किं मायात मित्यत आह— “यो वा इत्यादि । ‘सः’ पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धो

\* ‘अन्नलाभावसरेषु’—इति ज-पाठः ।

† नैतत् प्रदृश्य मस्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

यः प्राणोऽस्ति, 'सेवा गायत्री' विष्णोः कर्माणीत्यत्र \* यद् गायत्र्यात्मकं कृन्दः, स प्राण एतदित्यर्थः । प्रकृतोपधानसम्बन्ध-  
सन्निहितत्वादेवेति परावृत्त्यते—“सेवेति । लिङ्गं विधेयावेक्षम् ।  
उत्तरत्राप्येवं द्रष्टव्यम् । प्राणो वृत्तिभेदेन विधा भिद्यते, गाय-  
त्र्यापि पादभेदेन ; अतः सादृश्यत्वात् † 'प्राणो गायत्री'-इत्युक्तम् ।  
'अथ' 'यत्' प्रजापतिसम्बन्धि 'अन्नम्' अस्ति, 'स एव विष्णु-  
देवता', विष्णुरिति यत्रोऽभिधीयते ; भोगसाधनत्वसामान्या-  
दन्नस्य विष्णुरूपत्वम् । 'अथ' 'या सा जर्क', 'स एव उदु-  
म्बरः' । उदुम्बरस्य बलकररसत्वादूर्गात्मकत्वम् ॥ २१ ॥

उदुम्बरीलूखलशब्दौ निर्वृत्ति—“सोऽब्रवीदिति । 'सर्वस्मात्'  
'पाप्मनः' कृच्छ्रात् 'मा' माम् 'अयं' हि 'उदभार्षीति' उद्भूतवान्  
'इति' 'सः' प्रजापतिः 'अब्रवीत्' । कृच्छ्रादुद्धरणस्यास्याऽप्रमाणयो-  
रवरोधकत्वात् ; अतश्चोदभार्षीति मिति यदब्रवीत्, 'तस्मात्'  
जर्क 'उदुम्बरः' अभूत् । अत एव मुक्तत्वादय मुदुम्बरः । त  
मेव देवाः 'उदुम्बर इति परोक्ष माचक्षते' । पारोक्ष्येणाभिधानं  
गौरवाय कल्पयत इति देवानां परोक्षकामत्वम् ।

तथा 'मे' 'उरु' अधिकम् 'अकरत्' अकार्षीदिति यद्-  
ब्रवीत्, 'तस्मात्' उरुकरम्, त मेव देवाः 'उलूखल मिति  
परोक्ष माचक्षते' । उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वात्, उलूखलस्य च  
औदुम्बरत्वात् उरुकरणं पाप्मन उदभार्षीदित्युक्तं च सम्पद्यते ।

\* 'कर्माणीत्यर्थः'—इति ज-पाठः ।

† 'एतत्सादृश्यात्'—इति ज-पाठः ।

उदुम्बरोलूखलशब्दौ पृषोदरादित्वाद् \* भवतेः करोतेष्व्युत्पादनीयौ । ‘अकरत्’-इति, “कसृष्टरुहिभ्यश्चन्द्रसीति च्चैरडादेशः†, “ऋट्शोऽङि गुणः” ‡ । प्रकृत मुलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति — “सैषेत्यादिना । शिरः ‘सर्वेषां’ ‘प्राणानाम्’ इन्द्रियाणां ‘योनिः’ खलु ; मुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणां मुत्पत्तिः, तथा सति उलूखल मिति यत्, सैषापि सर्वेषां ‘प्राणानां योनिः’ भवति ॥ २२ ॥

उलूखलस्य शिरस्साधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यत § इत्येतत् प्रदर्श्यते — “तदिति । ‘तत्’ उलूखलं ‘प्रादेशमात्रम्’ ‘चतुः-स्रक्ति’ ‘मध्ये’ च ‘सङ्गृहीतं’ तनूकुतं भवति, शिरोऽपि तथैवेति सर्वप्राणियोनित्वं मुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

उपसंहरति — “तं यत्र देवा इति । ‘यत्र’ यदा ‘देवाः’ ‘तं’ प्रजापतिं संस्मृतवन्तः, तदेतस्मिन् ‘प्राण मत्र मूर्जम्’-इत्येतत् सर्वं मध्यप्रदेशे निहितवन्तः ; तस्मात् ‘तथैव’ ‘मयं’ यजमानोऽपि अनेनोपधानेनैतत् सर्वं सम्पादयति । रेतस्त्रिचोः पृष्टिरूपेण मध्यत्वात् तस्मैोपदेशे उपधाने देवा यथा मध्यतोऽदधुः, तथैव ‘अस्मिन् मध्यत एव’ ‘सर्वं’ निदधाति ॥ २४ ॥

विहिते उलूखलमुसलयोरुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे — “विष्णोः कर्माणोति ॥ । कर्मशब्देन वीर्यं विवक्ष्यते । अतश्च हे

\* पा० ख० ६. ३. १०६ ।

† पा० सू० ३. १. ५६ ।

‡ पा० सू० ७. ४. १६ ।

§ ‘सम्पादनं तु उपपद्यत’-इति ज-पाठः ।

॥ वा० सं० १३. ३३ ।

जनाः । ‘विष्णोः’ यज्ञस्य ‘कर्माणि’ वीर्याणि ‘पश्यत’ इत्येतत्  
उक्तं भवति । “यत इति । ‘यतः’ वीर्यतः ‘व्रत’-शब्देनात्र  
मुच्यते । ‘व्रतानि’ अन्नानि ‘पश्यन्ते’ स्थाशयाच्चक्रे, स्पर्शयमानश्च  
स्वजनैर्लेभयामासेत्यर्थः । “स्यश बाधनस्पर्शनयोः”-इति \* धातुः ।  
“इन्द्रस्येति । ‘एषः’ यज्ञः ‘इन्द्रस्य’ ‘युज्य’ योग्यः ‘सखा हि’  
तस्य दक्षिहेतुत्वात् । अत इन्द्रस्य युज्यः सखेत्युक्तं मित्यर्थः ॥

उलूखलमुसलयोर्दित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्वत्वमुप-  
पन्न मिति दर्शयति — “द्विदेवत्वयेति । उलूखलमुसलयोः  
सादनं पृथगेव कर्त्तव्यं मित्यत आह — “सक्तदिति ।  
यतः ‘एतत्’ उलूखलं मुसलञ्च अन्नरूपेण ‘समानं मेव’, अतः  
सादनं मपि सक्तदेव कर्त्तव्यं मिति । अनेनैव लिङ्गेनोपधान-  
मन्त्रस्यावृत्तिर्ज्ञाप्यते ; यदि युगपदुपधानं स्यात्, सक्तत् सादन-  
ञ्चोच्येतेति । उत्तरवाक्यं व्याख्यातम् । अत्र कात्यायनः —  
“उलूखलमुसले स्वयमादृष्टा मुत्तरेणारत्रिमात्र औदुम्बरे प्रादेश-  
मात्रे चतुरस्रं मुलूखलं मध्यसङ्गृहीतं मूर्धं हृत्तं मुसलं दक्षिण  
मुलूखलादिष्णोः कर्माणीति † ॥ २५ ॥”

उलूखलमुसलोपधानानन्तरं मुखाया उपधानं विधत्ते —  
“अथेति ‡ । इष्टकाचितिषु विधास्यमानस्याग्नेरुखायां भृत्योत्पा-  
दनात् उखायाः योनित्वेन § तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवती-

\* भा० उ० ८८७ घा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

§ ‘उखायोनिर्वेन’-इति ज-पाठः ।

त्याह— “योनिर्वा इति । विहित मुपधानं मुलूखले कर्त्तव्यं  
 मित्याह— “ता मिति । तन्नोपधानं प्रशंसति— “अन्त-  
 रिचं वा इति । ‘यत्’ किं मपि वस्तु, ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘जर्द्धम्’  
 उपरि अवस्थितम्, तत् सर्वम् ‘अन्तरिच मेव’; ‘अन्तरिचं’ च  
 व्यावापृथिव्योः अन्तराले अवस्थानात् ‘मध्यं हि’; ततश्चो-  
 खलस्यापि पृथिव्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिचात्मक-  
 त्वात् तन्नोपधाने . मध्यभागे एव योनिरुपधानं भवति ।  
 ‘मध्यतः’—इति, सार्वविभक्तिकस्तासोति \* सप्तम्यर्थे तसिः ।  
 दृष्टानुसारेणोक्तं मर्थं प्रमाणयति— “तस्मादिति । ‘वनस्पतीना  
 मपि’ वीजानां मध्यभागं भित्तोपन्नत्वात् † ‘मध्यतो योनिः’  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथोखायाः प्रजापत्यात्मकत्वेनोल्खले उपधानं प्रशं-  
 सति— “यदेवोखा मिति । “स इति । प्रजासर्जनेनावयव-  
 विस्फेपदशापकः परावृण्यते—‘सः यः’ । ‘सः’ प्रजापतिः ‘व्यस्त्रंसतः’  
 विस्त्रस्तावयवोऽभूत् । ‘सा उखा’ । सेति स्त्रीलिङ्गं मुखापेक्षया ।  
 अतः प्रजापतेरेतल्लोकत्रयात्मकत्वात् ‘एषा’ ‘उखा’ अपि, ‘इमे’  
 पृथिव्यादयो ‘लोकाः’ । तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उखाया  
 उल्खले उपधानेन विस्त्रस्ताङ्गं प्रजापतिम् ‘एतस्मिन् सर्व-  
 स्मिन् प्रतिष्ठापयति’ । तदेव प्रदर्शयते— “प्राणेऽन्नं जर्ज्जीति ।  
 उल्खलस्य औदुम्बरत्वेन तस्य चान्नरसात्मकत्वादन्नरसेन च

\* “इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति पा० सू० ५. ३. १४ ।

† ‘मध्यभागत उत्पत्तेः’—इति ज-पाठः ।

प्राणानां धारणात् प्राणात्मकत्वं मनुसन्धेयम् । प्राणात्रोर्जां परस्परं ग्रहणं सुक्तम्, न केवलम् प्रतिष्ठापनमात्रम् ; अपि तु अश्ववधानेन तत्सम्बद्धं मेव कुर्यादित्याह— “अथो इति ॥ २७ ॥

उपशयानामोखामेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता मृत् । तां चूर्णीकृत्योखायाः पुरोभागे निदध्यादित्याह— “अथेति । ‘उखां लोक भाजं’ स्थानभाजं उलूखलभाजिनीं कृत्वेत्यर्थः । उखामेदप्रतिसन्धानार्थत्वादुपशयायास्तत्पुरोभागे अवकाशः, अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्याव्यवहिता भवतीत्याह— “एष हैतस्या इति ॥ २८ ॥

इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानां मेवोपधानात्, उपशयायाः सापक्कत्वात् कथं मत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञासां भवतारयति— “तदाहुरिति । “अथेति । उपधानप्रदेशावकाशस्येत्यर्थः । शृतं मिति, पाकविशेषाभिधानात् ‘पक्वा शृता’-इति न पुनरुक्तिः । अथवा पाकेन शृता सतीत्यर्थः । एतस्योत्तरं हेधा दर्शयति— “यदेवेत्यादिना । ‘एषा’ उपशया नाम ‘यजुःकृतेति यत्’, तेन असौ पक्वा शृता च भवति । मन्त्रेणाहृतैव मृदुपशया क्रियते, अतश्चास्याः मन्त्रेण निष्पादनादेव पाकसम्पत्तिरित्यर्थः । किञ्च ‘यत्’ किञ्चिदपि वस्तु ‘एनं वैश्वानरं मग्निम्’ इष्टकोपधानस्थलात्मकं प्राप्नोति, ‘तत्’ सर्वं ‘तत एव’ तत्प्राप्तेरेव ‘पक्वं शृतं’ सदेव ‘उपहितं भवति’ ॥ २९ ॥

उखोपधाने भ्रुवासोति, इषे राय इति च, द्वौ मन्त्री विद-

धानो व्याचष्टे — “ध्रुवासीत्यादिना \* । “ध्रुवासि धरुणेत्यस्य †  
व्याख्यानम् — “ध्रुवासोति स्थिरासि”-इत्यादिना प्रागुक्तम् ‡ ।  
“एभ्य इति । प्रथमतो यदुखायाः जनित्वा , पश्चात् ‘एतेभ्यो  
योनिभ्यः’ लोकेभ्यः ‘जातवेदा अजायत’ , अतश्चामु मर्थम् “इत  
इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते इत्यर्थः । ‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘छन्दो-  
भिः’ स ह्येषोऽग्निः स्वाधिकारं जानन् , ‘हव्यं वहति’ खलु ।  
छन्दसां हविर्वहनं तैत्तिरीयके श्रूयते — “छन्दांसि देवेभ्योऽपा-  
क्रामन् वो भागानि हव्यम् वक्ष्याम इति § ॥ ३० ॥

“इषे राय इत्यादिना ॥ इट्प्रभृतिभ्यः सर्वेभ्यो रमस्वेत्ये-  
तदुक्तं भवतीति व्याचष्टे — “एतस्मा इति । यत इय ‘मुखा  
सम्यग्राजते , स्वय मेव राजते , अतः “सम्नाडसि स्वरान्डीसीति  
मन्त्रभागो ब्रूते-इति व्याचष्टे — “सम्नाडसीति । “सारस्वताविति ।  
‘सरस्वान् मनः’ उच्यते , ‘सरस्वती च वाक्’ , ‘एतौ’ ‘सार-  
स्वतौ’-इति स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । ‘उत्सौ’ वारिप्रवाहौ , वाष्प-  
नसात्मकौ । मनसस्तावत् सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वात् ,  
वाचश्च तत्प्रतिपादनरसाधारत्वात् , उत्सस्व मनयोः । ‘तौ’  
‘त्वा’ ‘प्रावतां’ पालयतां अभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः ॥

हे उखे ! त्वं ‘ध्रुवा’ स्थिरा ‘असि’ , ‘धरुणा’ धारिणी

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

† वा० सं० १३. ३४ ।

‡ पुरस्तादिहेव २७६ पृ० ७ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ते० सं० ५. १. १. ४ ( ५ भा० १ पृ० ) ।

॥ वा० सं० १३. ३५ ।

च 'असि' । 'जातवेदाः' 'इतः' त्वतः सक्ताशात् 'प्रथमम्'  
 'अधिजज्ञे', प्रधात् 'इभ्यः' लोकेभ्यः अधिजातः । 'सः' तथा-  
 विधौ जातवेदाः गायत्र्यादिभिन्नुद्गोभिः सह स्वाधिकारं  
 'प्रजानन्' 'देवेभ्यः' हविः 'वहतु' धारयतु ॥ (१) किञ्च त्वम्  
 'इवे' अत्राय, 'राये' धनाय, 'उहसे' बलीय, 'द्युखे' द्युखं  
 यशः तस्मै, 'जज्जे' पयोदध्वाद्युपसेवनाय, 'अपत्नाय' पुत्रार्थञ्च  
 'रमस्व', तत् सर्वं सम्पादयितु मभिरतिं कुरु । त्वं सम्यग्  
 राजमानाऽसि, स्वेनैव राजमानासि त्वाञ्च वाङ्मनसरूपौ 'उत्तौ'  
 प्रकर्षेण पालयताम् ॥ (२) इति मन्त्रद्वयस्यार्थः \* ।

अत्र काव्यायनः— "उलूखले उखां कृत्वोपशयां पिष्ट्वा  
 न्युप्य पुरस्तात् ध्रुवासीत्युखा मिति † । अत्र "अथोपशयां  
 पिष्टेत्यादियुतिक्रमेणानुष्ठानम् ‡ । उपशयोपनिवापोत्तरकाण्डञ्च  
 मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्हित्वसङ्ख्याया व्याख्यानं प्राशुक्तं  
 'द्वित्याह— "हाभ्या मिति । किञ्च अङ्गिरेव स्मिन्तया नृदा  
 कृतत्वादुखायां मृच्छापथेति द्विविधं रूपं मस्ति, अतश्च  
 तदुपधानमन्त्रयोर्हित्वं सुपपद्यत इत्याह— "अथो इति । उत्तर-  
 वाक्यं तु व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

उपधानानन्तरं मुख्याया उपरि होमं विधत्ते— "अथेति § ।  
 अभिहोमस्योपयोगं माह— "एतदा इति । भिक्षं वाक्म

\* वा० सं० १३. ३४, ३५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

‡ पुरस्तादिहोवाष्टविंशौ कण्ठी (३३४ ए०) दृष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ५. ५ ।



‘मेतत्’ । ‘एतत्’ खलु समभूत् । तदेवाह— “अस्या मेतत् पूर्वं  
 रेतस्सिक्तं भवति सिकता इति । पूर्वं मस्या सुखाया मेतद्रेतः  
 सिक्तं भवति । सिकता इत्येतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम् । अग्न्युद्वाप-  
 समनन्तरं मेव सुखायाः सिकताभिः पूरितत्वात् तद्रेत एते-  
 नाभिहोमेन ‘अभिकरोति’ अभिवर्धयति । यत एवं ‘तस्मात्’  
 इदानीं ‘योनीं सिक्तं रेतः’ ‘अभिक्रियते’ अवयविरूपेण क्रियते  
 इत्यर्थः । विहितोऽभिहोमः ‘आज्येन’ , ‘सुवेण’ , ‘स्वाहा कारिण’  
 ‘द्वाभ्या मान्मेयीभ्यां गायत्रीभ्यां’ कर्तव्य इत्याह— “आज्ये-  
 नेत्यादिना । आज्यसुवादर्थवादसु प्रागुक्त इत्याह— “तस्योक्तो  
 बभुरिति । “द्वाभ्या मित्यादिना ॥ ३२ ॥

उक्ते ऋचौ प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रशंसति—  
 “अग्ने युक्षाहीति \* । ‘युक्तवतीभ्यां’ युजिधातुमतीभ्या मित्यर्थः ।  
 ‘एतत्’ एतेनोपधानमन्त्रयोर्युजिधातुसम्बन्धेन ‘योनीं’ सिक्तं  
 ‘रेतः’ ‘युनक्ति’ नियच्छति । ‘तस्मात्’ इदानीं ‘योनीं’  
 सिक्तं ‘रेतः’ अपत्योत्पादनार्हं ‘युक्तं’ सत् ‘न निष्पद्यते’ न निष्प-  
 तति , तत्रैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥

मन्त्रयोरर्थसु— हे ‘अग्ने !’ ‘देव’ दानादिगुणविशिष्ट !  
 ‘तव’ ‘ये’ ‘अश्वासः’ अश्वाः ‘साधवः’ जातिगुणसमन्विताः  
 सन्ति । ‘अश्वासः’—इति “आजसेरसुक्” † । तान् ‘युक्षा  
 हि’ युङ्क्ष्व । “बहुलं छन्दसि”—इति ‡ विकरणस्य लुक् ,

\* वा० ख० १३. ३६ , ३७ ।

† पा० छ० ७. १. ५० ।

‡ पा० छ० १. ३. ७३ ।

“ह्यचोऽतस्त्रिडः”-इति \* दीर्घः । एवं च सति ‘ते’ अग्नाः ‘मन्थवे’ यज्ञार्थम् ‘अरम्’ अलं ‘वहन्ति’ वक्षन्ति । वर्त्तमान-सामीप्ये भविष्यदर्थे लट् ॥ (१)

हे ‘अग्ने !’ ‘देवहृतमान्’ देवानाह्वयन्तीति देवहुवः । क्तिब-न्तस्य सम्प्रसारणे कृते रूपम् । अतिशयेन देवहुवः देवहृत-मास्तान्मान् ‘नियुङ्क्ष्व’ । क इव ? ‘रथीरिव’ रथिक इव । ईकारो मत्वर्थीयः । ‘हि’ यस्मादेकम्, अतः ‘सदः’ सदसि । विभक्तिव्यत्ययः । ‘पूर्व्यः’ अग्निः, यो होता सन्निष्ठी-देदिंति शेषः (२) ॥ ३३ ॥

• उखायां मग्नेः संवत्सरभरणम्, असंवत्सरभरणं वेति पञ्च-इयं मस्ति, तत्र प्रश्नोऽभिहोम इत्याह— “स यदीति । ‘सः’ अग्निः, ‘यदि’ उखायां व ‘संवत्सरभृतः’ स्यात्, ‘अथ’ एतस्मान् ‘अभिजुहुयात्’ । संवत्सरस्य सर्वावच्छेदकत्वात्, संवत्सरभृतोऽपि सर्वात्मकः, अभिहोमश्च सर्वः ; तेन कृत्वतायाः सम्पादनात् । अतः संवत्सरभरणपक्षेऽभिहोमो युज्यत इति दर्शयति । असं-वत्सरभरणपक्षे किं कर्त्तव्य मिति तत्राह— “अथ यदीति ॥ असंवत्सरभृतस्य पूर्वोक्तविपर्ययेणासर्वात्मकत्वादुपस्थानस्य चाहो-मान्मकत्वेनानुकल्पत्व मिति । असर्वात्मकत्वात् तस्मिन् पक्षे तदेतदेव युक्त मित्याह— “असर्वं वा इति । अस्मिन् पक्षे-ऽभिहोमं विकल्पेनाह— “अभि त्वेव जुहुयादिति । एवकारो-

\* पा० ख० ६. ३. १३५ ।

‡ पा० ख० ३. ३. १३१ ।

‡ का० श्रौ० १७. ५. ६ ।

इत्त विकल्पश्रोतकः । “उपस्थानं वाऽसंवत्सरभूतिम्”-इति \*  
हि सूत्रम् । संवत्सरभूतिनो होमवक्रियमेन तूपस्थानम् ; इतरस्य  
तु विकल्पः । उपस्थानं होमो वेति सिद्धोऽर्थः ॥ ३४ ॥

अथ वित्याग्नेः स्वयमादृशादिषु त्रयोदशस्त्रिष्टकासु कृत्स्न-  
पञ्चाकारत्वं सम्पादयितुम् ( अह — “पशुरेष यदग्निरिति ।  
“स ) † एतान् पञ्च पशून् प्राविशत् , स एते पञ्च पशवो-  
ऽभवत्”-इद्युक्त मग्नेः पञ्चात्मकत्वम् । ‘सः’ पञ्चाकारोऽग्निः  
‘अत्रैव’ उखान्ते स्वयमादृशादाविष्टकाकलापे ‘सर्वः कृत्स्नः संस्तु-  
तः’ । कथं मित्यपेक्षायां तं मिष्टकाकलापं महत्वेन सम्पादयति  
—‘तस्यावाङ् प्राणः’-इत्यादिना । ‘स्वयमादृशा’ इष्टका , तस्य  
पञ्चाकारस्याग्नेः ‘अवाङ् प्राणः’ अपानाख्यः ; पञ्चादृभागस्थिति-  
सामान्यात् । ‘द्वियजुः’ इष्टका , ‘त्र्योणो’ कटी ; तदानन्तर्यात् ।  
‘रेतस्त्रिचो’ इष्टके , ‘पृष्टयः’ महन्ति पार्श्वस्थीनि । ‘विश्वज्योतिः’  
इष्टका , ‘कोकसाः’ ऋक्षपार्श्वस्थीनि । ‘ऋतव्ये’ , ‘ककुदं’ , गल-  
प्रदेशतः पश्चात् पृष्ठदेशे अवस्थित उन्नतावयवः । ‘अषाढा’ ,  
‘शीवाः’ कक्षराः । ‘कूर्मः’ , ‘शिरः’ । ‘कूर्मे’ ये प्राणाः , ‘ते’  
‘शीर्षन्’ शीर्षिण्याः ‘प्राणाः’ ; ‘ते’ चक्षुरादय इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एव मग्नेः कृत्स्नरूपत्वं प्रतिपाद्य , आदित्यरूपत्वं मूर्ध्ववयनेन  
प्रतिपादयति— “तं वा एत मिति । ‘त मेतं’ चित्य मग्निम्  
‘इतः’ अवाचः प्राणादारभ्य आ-शिरसः ‘ऊर्ध्वं’ प्रागपवर्गं ‘चिनो-

\* का० ओ० ख० १७. ५. ६ ।

† एतावान् पाठः सर्वेज्वेव मद्दृष्टेषु पुस्तकेषु का०-वेबरदृष्ट-  
पुस्तकेषु च विनष्ट इव प्रतीयते ।

‘ति’ । किं मत इत्वेकेनाग्निनादित्यता माह— “असौ वा आदित्य  
 षषोऽग्निरिति । “असु” तदिति । इतो लोकाः भूराद्याः  
 ‘असु मादित्यम्’ ‘जङ्घं’ ‘प्राञ्चं’ प्रागञ्चत्वं ‘दधाति’ स्थापयति ।  
 ‘तस्माद्’ एव यन्नानुकरणाद् ‘असावादित्यः’ ‘इतः’ पृथिवीलोकात्  
 ‘जङ्घः’ प्राङ् ‘धीयते’ धार्यते , लोकैरिति शेषः ॥ ३६ ॥

अथ प्रदक्षिणावर्त्तनं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘अथ’ अग्न-  
 ‘न्तरम्’ ‘एनम्’ आदित्यभूतं स्वयमादित्याद्यात्मक मग्निं ‘प्रसलवि’  
 प्रदक्षिणं ‘मावर्त्तयति’ आवर्त्तते । अष्टादां पूर्वाह्ने उपधाय  
 . तस्याः दक्षिणतः कूर्मं सुपदधाति , ततः स्वयमादित्याया उत्त-  
 . रतः\* उलूखलमुसले , तत्रैवोखा सुपदधातीत्येव मावर्त्तयति ।  
 . ‘तत्’ तेन प्रदक्षिणावर्त्तनेन ‘अमुम्’ आदित्यं प्रदक्षिण मावर्त्त-  
 . यति । ‘तस्मात्’ यन्नानुकरणात् ‘असावादित्यः’ ‘इमान्  
 लोकान्’ तथैव सञ्चरति ॥ ३७ ॥

• • प्रकारान्तरेण उलूखलमुसलयोरौत्तरार्धयं प्रशंसति— “उदर  
 मुखेति । उखायाः सकाशात् \* अग्नेरुत्पत्तेः, ‘उखा’ ‘उद-  
 रम्’ , ‘उलूखल’ तु हविर्निष्पादनात् ‘योनिः’ । तथा च लोके ,  
 —उदरयोर्द्व्योरौत्तरार्ध्यादनयोरपि तदात्मकयोरौत्तरार्धयं सुप-  
 . पन्न मित्यर्थः । मुसलस्य उदुलूखलदक्षिणभागे उपधानं सोप-  
 . पत्तिक माह— “शिश्र मिति । शिश्रस्य वृत्ताकारतया  
 तदाकारत्वेन † मुसल मपि ‘शिश्रम्’ । तथाविधम् उलूखलस्य

\* ‘शक्तात्’—इति ज-पाठः ।

† ‘तदाकारवत्त्वेन’—इति ज-पाठः ।

दक्षिणभागे उपदध्यात् । लोके दक्षिणभागे 'हृषा' वर्षण-  
समर्थः पुरुषः 'योषा सुपशेते', अतश्चास्यापि \* वर्षणसमर्थत्वेन  
हृषत्वात्, उलूखलस्य योनिस्त्वेन स्त्रीत्वात्, दक्षिणभागेऽस्य  
उपधानं सुपपन्नम् † ॥

उक्तं मेवाग्नेः पशुरूपत्वं प्रकारान्तरेण द्रष्टव्यम् । “यद्  
पशोरिति । “अग्निरिति । ‘यत्’ यतः, एष पशुः खलु, तथैव  
प्रागुक्तत्वात्; अतश्च पशोः अग्निरूपस्य संस्कृतस्य पञ्चवयव-  
सम्पादनाय ‡ निष्पादितस्य ‘यदन्नम्’, ‘तद् दूर्वेष्टका’ । तस्मात्  
‘तस्य’ दूर्वेष्टकारूपेणाग्नेन सुहितस्यैतस्याग्निरूपस्य पशोरुत्तरभाग  
‘उदाहिततरः’ उन्नततरो भवति; उत्तरभागे एव उलूखल-  
मुसलाद्युपधानात् । उक्तं मर्थं प्रमाणयति — “तस्मादिति ।  
यतोऽग्निरूपस्य पशोः दूर्वेष्टकान्नत्वेन सुहिततरस्योत्तरभाग  
उन्नततरोऽभूत्, तस्मादिदानीं मपि लोके तृणाद्यभ्यवहारेण तस्य  
‘पशोरुत्तरः कुच्चिरुन्नततरो भवति’ ॥ ३८ ॥ १ [५. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अस्य’—इत्येकमेव पदं मिह ज-पुस्तके ।

† ‘स्त्रीत्वात्तदुपपन्नम्’—इत्येवैह ज-पाठः ।

‡ ‘सम्पादनाय’—इत्येव पाठो ज-पुस्तके ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशुवो वै पशुशीर्षाणि  
 पशुनेवैतदुपदधाति तान्युखाया मुपदधातीमे वै  
 लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून्  
 दधाति तस्मादिमु ऽएषु लोकेषु पशवः ॥ १ ॥

युद्देवोखायाम् \* । योनिर्वा ऽउखा पशवः पशु-  
 शीर्षाणि योनौ तत् पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मा-  
 दद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ  
 ह्येनान् प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

युद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय  
 एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ † यानि तानि कुसि-  
 न्धान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय इमे  
 ते लोकास्तद्ये त ऽइमे लोका एषा सोखा तद्य-  
 दुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्येतैरेव तच्छीर्षभिरेतानि  
 कुसिन्धानि सन्दधाति ॥ ३ ॥

\* 'युद्देवोखायाम्'—इति क ।

† 'पशुशीर्षाण्यथ'—इति ख ।

तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति । एतद्वै  
युचैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्तत त ऽचालिष्य-  
माना उदचिक्रमिषंस्तान् प्राणेषु समगृह्णात्तान्  
प्राणेषु सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ४ ॥

तदा ऽएतत् क्रियते । यदेवा अकुर्वन्निदं  
ज्वस्मात्ते पशवो नोच्चिक्रमिषन्ति युचैतत् करोति  
यदेवा अकुर्वंस्तत् करवाणीत्यथो \* प्राणेष्वेवैनानेतत्  
सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ५ ॥

यदेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । प्रजापतिर्वा  
ऽइदं मय ऽआसीदेक एव सोऽकामयतान्न ऽ सृजेय  
प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशुन्निरमिमीत  
मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राणाद्वा श्रोत्राद्विं  
व्याचोऽजं तद्यदेनान् प्राणेभ्योऽधि जिरमिमीत  
तस्मादाहुः प्राणाः पशव इति मनो वै प्राणानां  
प्रथमं तद्यन् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः  
पुरुषः प्रथमः पशूनां वीर्यवत्तम इति मनो वै

सुर्व्वे प्राणा मनसि हि सुर्व्वे प्राणाः प्रतिष्ठिता-  
स्तद्यन् मनसः पुरुषं निरुमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः  
सुर्व्वे पशुव इति पुरुषस्य ह्येवैते सुर्व्वे भवन्ति ॥  
॥ ६ ॥

तदेतदन्नं सृष्ट्वा । पुरस्तात् प्रत्यगात्मन्नधत्त  
तस्माद्यः कश्चान्नं सृजते पुरस्तादेवैनत् प्रत्यगात्मन्  
धत्ते तद्वा उखाया मुदरं वा उखोदरे तदन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति । प्राणो वै  
हिरण्य मथ वा ऽएतेभ्यः पशुभ्यः सञ्जप्यमानेभ्य एव  
प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यहिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति  
प्राणानेवैष्वेतद्दधाति ॥ ८ ॥

सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तान-  
स्मिन्नेतद्दधत्यथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्यञ्च वा ऽएतान् पशुनुपदधाति सप्त-  
सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सुर्व्वेषु  
प्राणान् दधाति ॥ ९ ॥

\* 'दधाति'—इति क ।



तद्वैकेऽपि । यद्येकः पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः  
 सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पञ्च वा ऽएतान् पशूनुपदधाति  
 सप्त-सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु  
 प्राणान् दध्म इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ  
 सर्वेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति  
 तदेवेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति \* ॥ १० ॥

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक् स्रवन्ति सरितो  
 न घेना इत्यन्नं वै घेनास्तदिदं सम्यङ्मुख भभि-  
 सृञ्चवत्यन्तर्हृदा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्ये  
 हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजुस्तस्य घृतस्य  
 धारा अभिचाकशीमीति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुती-  
 र्हीष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो ज्वेतसो  
 मध्ये ऽअग्नेरिति य एवैष हिरण्यमयः पुरुषस्त मेत-  
 दाह ॥ ११ ॥

ऋचे त्वेतीह । प्राणो वा ऽऋक् प्राणेन ह्यर्चति  
 रुचे त्वेतीह प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचतेऽयो

प्राणाय ह्रीदं सर्वं रोचते भासे त्वेतौह ज्यो-  
तिषे त्वेतौह भास्वती ह्रीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी  
ऽश्मभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य व्याजिनं मग्नेर्व्यश्वा-  
नरस्य चेतौहाम्निर्ज्योतिषां ज्योतिष्मान् रुक्मो  
व्वर्चसा व्वर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वं हि  
श्रोत्रम् ॥ १२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मुद्गच्छाति । मह्यत्वेनैतत्  
सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रं  
मूर्ध्न्यस्य दातासि सर्वस्मै त्वेत्येतत् \* ॥ १३ ॥

अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्  
त्रैर्व्येणाभ्या दधाति † मध्ये पुरुषं मभित दूतरान् पशून्  
पुरुषं तत् पशूनां मध्यतो उत्तरं दधाति तस्मात्  
पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽत्ता ‡ ॥ १४ ॥

अश्वं चाविं चोत्तरत § । एतस्यां तद्दिश्येतौ

\* 'त्वेत्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'त्रैर्व्येणाभ्या दधाति'—इति ख-पुस्तके, इह च डा०-वेबरमहोदयेनापि ।

‡ 'मध्यतोऽत्ता'—इति ग, घ ।

§ 'चोत्तरतः'—इति क, ख ।

पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूयिष्ठौ  
॥ १५ ॥

गां चार्जं च दक्षिणतु \* । एतस्यां तदिश्येतौ  
पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूयिष्ठौ  
॥ १६ ॥

पुयसि पुरुष सुपदधाति । पशवो वै पुयो  
यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयत्यादित्वां गर्भं पुयसा  
समङ्ग्धीत्यादित्यो वा ऽएष गर्भो यत् पुरुषस्तं  
पुयसा समङ्ग्धीत्येतत् सहस्रस्य प्रतिमां विवस्व-  
रूप मिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषस्य ह्येव  
सहस्रं भवति परिदृष्टिं हुरसा माभिमुस्था इति  
पर्येनं बृहद्ध्यर्चिषा मेनः हिंसीरित्येतच्छतायुषं  
कृणुहि चीयमान इति पुरुषं तत् पशूनां शतायुं  
करोति तस्मात् पुरुष एव पशूनां शतायुः ॥  
॥ १७ ॥

अथोत्तरतोऽश्वम् । व्यातस्य जूत मिति व्या-

तस्य वा ऽएष जूतिर्यदृश्वो व्वरुणस्य नाभि मिति  
 व्वारुणो ह्यश्वोऽश्वं जज्ञानुः सरिरस्य मध्य  
 ऽब्रह्मापो वै सरिर मप्सुजा उ वा ऽअश्वः शिशुं  
 नदीनां हरि मद्रिबुध्न मिति गिरिव्वा ऽअद्रिर्गिरि-  
 बुध्ना उ वा ऽआपोऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योम-  
 त्रितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा  
 हिंसीरित्येतत् \* ॥ १८ ॥

अथ दक्षिणतो गाम् † । अजस्र मिन्दु मरुष  
 सिति सोमो वा ऽइन्दुः स हैष सोमो ऽजस्रो  
 यद्गौर्भुरग्य मिति भर्तार मित्येतदग्निमीडे पूर्व-  
 जित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्ति मिति  
 प्राञ्चः ह्यग्नि मुञ्चरन्ति प्राञ्च मुपचरन्ति स पर्वभि-  
 र्क्तुशः कल्पमान इति यद्वा ऽएष चीयते तदेष  
 पर्वभिर्क्तुशः कल्पते गां मा हिंसीरदिति वि-  
 राज मिति विराड् वै गौरुन्नं वै विराडुन्न सु  
 गौः ‡ ॥ १९ ॥

\* 'रित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'गाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'गौः'—इति ग, घ ।

अथोत्तरतोऽविम् । व्वरूवीं त्वष्टुर्व्वरूणस्य  
 नाभि मिति व्वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविरुविं  
 जज्ञानां रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परं रजो  
 दिशो वै श्रोत्रं दिशः परं रजो महीं साहस्री  
 मसुरस्य माया मिति महतीं साहस्री मसुरस्य  
 माया मित्येतदग्ने मा हिंसीः परमे व्योमभ्रिती-  
 मे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेध्वेनं मा हिंसी-  
 रित्येतत् \* ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतोऽजम् † । यो अग्निरग्नेरध्य-  
 जायतेत्यग्निर्वा एषो अग्नेरध्यजायत शोकात्  
 पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यद्वै प्रजापतेः शोका-  
 दजायत तद्विवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत येन  
 प्रजा विश्वकर्मा जजानेति व्याग्वा अजो व्याचो  
 वै प्रजा विश्वकर्मा जजान त मग्ने हेडः पुरि ते  
 वृणक्ति यथैव यजुस्तथा बभूवुः ॥ २१ ॥

\* 'रित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'अजम्'—इति ग, घ ।

तु ऽएते पशवः । तान्नानीपदधाति नाना  
सादयति नाना सूददीहसाधिवदति नाना ह्येते  
पशवः \* ॥ २२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः  
पुरुषं तत् पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात् पुरुष  
एवं पशूनां यजते ॥ २३ ॥

यदेवैनदभिजुहोति । शीर्षंस्तुदीर्यं दधात्या-  
ज्येने जुहोति वृजो वा ऽआज्यं वीर्यं वै  
वृजो वीर्यं मेवास्मिन्नेतदधाति स्वाहाकारेण वृषा  
वै स्वाहाकारो वीर्यं वै वृषा वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्  
दधाति त्रिष्टुभा वृजो वै त्रिष्टुब् वीर्यं वै वृजो  
वीर्यं त्रिष्टुब् वीर्येणैवास्मिन्नेतद् वीर्यं दधाति ॥  
॥ २४ ॥

अथ वा ऽअर्धर्चं मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । अस्थि  
वा ऽऋगिदं तुच्छीर्षकपालं विहाप्य यदिद् मन्तरतः  
शीर्षो वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २५ ॥

अथोत्तर मर्हश्च मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । इदं  
तच्छीर्षकपालं सन्धाय यदिद् मुपरिष्ठाच्छीर्षी  
व्वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २६ ॥

चित्रं देवाना मुदगादनीक मिति । असौ वा  
ऽआदित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवाना मुदेत्यनीकं  
चक्षुर्मित्रस्य व्वरुणस्याग्नेरित्युभयेषां इतद्देवमनु-  
ष्याणां चक्षुराप्रा द्यावापृथिवी ऽचन्तरिक्ष मित्युद्यन्  
वा ऽएष इमाँल्लोकानांपूरयति सूर्य आत्मा जग-  
तस्तत्पुष्येष्टेषु ह्यस्य सर्वस्यात्मा यच्च जगद्यच्च  
तिष्ठति ॥ २७ ॥

अथोत्सर्गैरुपतिष्ठते \* । ऽएतद्वै यत्रैतान् प्रजापतिः  
पशूनालिप्सत त ऽआलिप्स्यमाना अशोचंस्तेषा  
मेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानं मुपाहंस्तथैवैषा मय मेतदेतै-  
रुत्सर्गैः शुचं पाप्मानं मुपहन्ति ॥ २८ ॥

तत्रैके । यं य मेव पशु मुपदधति तस्य  
तस्य शुच मुत्सृजन्ति नेष्टुचं पाप्मानं मभ्युपदधा-

महा ऽद्वुति ते ह ते शुचं पाप्मानं मभ्युपदधति  
यां हि पूर्वस्य शुचं मुत्सृजन्ति ता मुत्तरेण सहो-  
पदधति ॥ २६ ॥

व्यिपरिक्रामसु हैक ऽउपतिष्ठन्ते । जह्वां  
शुचं मुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानं मनूय-  
न्त्यह्वां ह्येतेन कर्मणैत्यह्वां मु शुचं मुत्सृजन्ति ॥  
॥ ३० ॥

बार्हन्निवाग्निं मुत्सृजत् । इमे वै लोका एषो  
ऽग्निरेभ्यस्तुल्लोकेभ्यो बहिर्द्वा शुचं दधाति बहि-  
र्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद् बहिर्द्वा शुचं दधात्युदङ्  
बिष्ठन्नेतस्यां ह दिश्येते पशवस्तद्यत्नैते पशव-  
स्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति \* ॥ ३१ ॥

पुरुषस्य प्रथमं मुत्सृजति । तं हि प्रथमं  
मुपदधातीमं मा हिंसीर्हिपादं पशुमिति द्विपादा  
ऽएष पशुर्यत् पुरुषस्तं मा हिंसीरित्येतत् सह-  
स्राक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशकलैर्व्वा

\* 'दधाति'—इति क ।



ऽएष सहस्राक्षो मेधायेत्यन्नायेत्येतन् मयुं पशुं मेध-  
मग्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुष-  
मग्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वोः निषीदेत्यात्मा  
वै तनूस्तेन चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतन्  
मयुं ते शुगच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगच्छत्विति तन्  
मयौ च शुचं दधाति यं च देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य । इमं मा हिंसोरेकशफं पशु-  
मित्येकशफो वा ऽएष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसी-  
रित्येतत् कनिक्रादं व्याजिनं व्याजिनेष्विति कनि-  
क्रदो वा ऽएष व्याज्यु व्याजिनेषु गौरं मारण्य  
मनु ते दिशामीति तदस्मै गौरं मारण्य मनुदिशति  
तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान् आ-  
त्मान् संस्करुष्वेत्येतद्गौरं ते शुगच्छतु यं द्विष्मस्तं  
ते शुगच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च  
देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३३ ॥

अथ गोः । इमं साहस्रं शतधार मुत्स-  
मिति साहस्रो वा ऽएष शतधार उत्सो यद् गौ-  
र्व्यच्यमानं सरिरस्य मध्य ऽद्वतीमे वै लोकाः

सरिरुपजीव्यमान मेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुहा-  
ना मदिति जनायेति घृतं वा ऽएषादितिर्ज्जनाय  
दुहेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः  
परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिंसीरित्येतद्गवयु-  
मारण्य मनु ते दिशामीति तदस्मै गवयुमारण्य  
मनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन  
चिन्वान आत्मानं संस्करुष्वेत्येतद्गवयुं ते शुगृ-  
च्छतु यं द्विषस्तं ते शुगृच्छत्विति तद् गवये च शुचं  
दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३४ ॥

अथावेः । इमं मूर्णायुं \* मित्यूर्णादल मित्येतद्  
व्यरुणस्य नाभि मिति व्यारुणो ह्यविस्त्वचं पशूनां  
द्विपदां चतुष्पदा मित्युभयेषां चैष पशूनां त्वग्  
द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्र  
मित्येतद् त्वष्टा प्रथमं रूपं विचकाराग्ने मा  
हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः परमं  
व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिंसीरित्येतद्गवयुमारण्य

मनु ते दिशामीति तदस्मा ऽउष्ट्र मारण्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तुन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आ-  
 त्मानं संस्कुरुष्वेत्येतदुष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विषस्तं  
 ते शुगृच्छत्विति तदुष्ट्रे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि  
 तस्मिंश्च ॥ ३५ ॥

अथाजस्य । अजो ह्यग्नेरुजनिष्ट शोकादिति  
 यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकाद-  
 जायत सो ऽअपश्यज्जनितार मय ऽद्विति प्रजा-  
 पतिर्वै जनिता सो ऽपश्यत् प्रजापति मय ऽद्वत्ये-  
 तत् तेन देवा देवता मय ऽआयन्निति \* व्याग्रां ऽअ-  
 जो व्याचो वै देवा देवता मय मायंस्तेन रोह  
 मायन्नप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन  
 स्वर्गं लोकं मायन्नप मेध्यास इत्येतच्छरभ मारण्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै शरभ मारण्य मनु-  
 दिशति तेन चिन्वानस्तुन्वो निषीदेति तेन चिन्वान  
 आत्मानं संस्कुरुष्वेत्येतच्छरभं ते शुगृच्छतु यं

दिष्मस्तुं ते शुगच्छत्विति तच्छरमे च शुचं दधाति  
यं च देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यां वै तत् प्रजापतिरेतेषां पशूनां  
शुचं पाप्मानं मपाहंस्तु ऽएते पृथु पशवो ऽभवन्तु  
ऽएत ऽउत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्म-  
णा नान्नीयास्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादे-  
तस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षुको यवैते भवन्ति \*  
॥ ३७ ॥

प्रथेत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुयथा-  
यथं करोति यदग्नौ सामिचिते बहिर्व्येद्येति तस्मा  
ऽएवैतन्निर्ऋते ऽहिंसाया ऽआग्नेय्यामयु ऽएवै-  
तन्निर्ऋते गायत्र्या गायत्र्योऽग्निर्यावानग्निर्याव-  
त्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएतन्निर्ऋतेऽनिरु-  
क्तयः सुर्व्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्व्वं गैवास्मा ऽएत-  
न्निर्ऋते यविष्ठवत्यैतद्वास्य † प्रियं धाम यद्यविष्ठ

\* 'भवन्ति'—इति क ।

† 'यविष्ठवत्यैतद्वास्य'—इति क, ख

कृति यद्वै जातु इदं सर्वं मयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥

॥ ३८ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुष कृति । यजमानो वै दा-  
श्वान् नूः पाहीति \* मनुष्या वै नरः शृणुधी गिर  
कृति शृणु न इमां स्तुति मित्येतद्रुचा तोक  
मुतत्मनेति प्रजा वै तोकं रक्ष प्रजां चात्मानं  
चेत्येतत् † ॥ ३९ ॥

आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमावृणां परीत्यापस्या  
उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽह-  
तेभ्यः पशुभ्यः आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या  
उपदधात्येवैतत्पशुष्वपो दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य  
उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च-पञ्चो-  
पदधाति पञ्च ह्येते पशवः सर्वत उपदधाति  
सर्वत एवैष्वेतदपो दधाति ॥ ४० ॥

तद्याः पञ्चदश पूर्वाः । ता अपस्या व्यञ्जी

\* 'दाश्वान् नूः पाहीति'—इति क, ख ; इदं च वेवरमहोदयेनापि ;

† 'चेत्येतत्'—इति क, ख ।

वा ऽद्यापो व्यञ्जः पञ्चदशस्तुम्भाद्येनापो यन्त्यपैव  
तत्र पाप्मानं घ्नन्ति व्यञ्जो हैव तस्यार्द्धस्य पाप्मानं  
मपहन्ति तस्माद्वर्षत्यप्राहतो व्यञ्जिदयं मे व्यञ्जः  
पाप्मानं मपहनदिति \* ॥ ४१ ॥

अथ याः पञ्चोत्तराः । ताश्छन्दस्याः पशवो  
वै छन्दाःस्युन्नं पशवोऽन्नं मु पशोर्मांसं मय वा  
ऽएतेभ्यः पशुभ्यो मांसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्य-  
च्छन्दस्यां उपदधात्येष्वेवैतत् पशुषु मांसानि दधा-  
त्यनन्तर्हिताः पशुभ्यः उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्  
पशुभ्यो मांसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति  
वाह्याश्छन्दस्या अन्तरा ह्यापो बाह्यानि मांसानि  
॥ ४२ ॥

तदाहुः । यदिमा आप एतानि मांसान्यु-  
क्त्वा त्वक् क्व लोमेत्युन्नं व्याप पशोस्त्वगुन्नं लोमं तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्त्वलोमाथो यान्य-  
मूत्युखाया मजलोमानि तानि लोमानि बाह्योखा

भुवत्यन्तराणि पशुशीर्षाणि वाङ्मानि हि लोमान्य-  
न्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति इ स्माह  
शाण्डिल्यः सर्वानेव व्ययं कृत्स्नान् पशूनसंस्कुर्म  
इति ॥ ४३ ॥

यदेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्व्यसस्ता-  
दाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यद्विशत्तस्माद्विंशतिस्ता  
अस्याङ्गुलिभ्यो ऽध्यस्ववन्नन्तो वा ऽअङ्गुलयो ऽन्तत  
एवास्मात्ता आप आयन् ॥ ४४ ॥

स यः सु प्रजापतिर्व्यसः सत । अय मेव स  
योऽय मग्निश्चीयतेऽय या अस्मात्ता आप आयन्ने-  
तास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्माच्चा  
आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता  
अत्रोपदधाति \* ॥ ४५ ॥

अपां † त्वेमन्सादयामीति । व्यायुर्वा ऽअपा  
मेम यदा ह्येवैष इतश्चेतश्च व्यात्यथापो यन्ति व्यायी  
ताः सादयति ॥ ४६ ॥

\* 'अत्रोपदधाति'—इति क , ख

† 'आपां'—इति ख ।

अपां त्वोद्गन्त्सादयामीति \* । ओषधयो वा  
ऽअपा मोक्षं यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो  
जायन्त ऽओषधिषु तां सादयति ॥ ४७ ॥

अपां त्वा भस्मन्त्सादयामीति † । अभं ‡ वा  
ऽअपां भस्माभे तां सादयति ॥ ४८ ॥

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वा  
ऽअपां ज्योतिर्विद्युति तां सादयति ॥ ४९ ॥

अपां त्वायने सादयामीति । इयं वा ऽअपा-  
मर्थन मस्यां ह्यापो यन्त्यस्यां तां सादयति  
तस्या अस्थैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्ने-  
तत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति  
॥ ५० ॥

अर्णवे त्वा सुदने सादयामीति । प्राणो वा  
ऽअर्णवः प्राणे तां सादयति ॥ ५१ ॥

समुद्रे त्वा सुदने सादयामीति । मनो वै

\* , † 'यामीति'—इति ग , घ ।

‡ 'अभं'—इति , 'यामीत्यभं'—इति च इष्टं वेबरमहोदयेन ।



समुद्रो मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्या देवास्त्रयीं  
 विद्यां निरखनंस्तदेष श्लोको ऽभ्युक्तो ये समुद्रान्नि-  
 रखनन्देवास्तीक्ष्णाभिरभिभिः सुदेवो ऽअद्य तद्विद्या-  
 द्यत्त निर्व्वपणं दधुरिति मनः समुद्रो व्याक् तीक्ष्णा-  
 भिस्त्रयीं विद्या निर्व्वपण मेतदेष श्लोको ऽभ्युक्तो  
 मनसि तां सादयति ॥ ५२ ॥

सरिरे त्वा सदने सादयामीति । व्याग्वै सरिरं  
 व्याचि तां सादयति ॥ ५३ ॥

अपां त्वा क्षये सादयामीति । चक्षुर्व्वा ऽअपां  
 क्षयस्तत्र हि सर्व्वदैवापः क्षियन्ति चक्षुषि तां  
 सादयति ॥ ५४ ॥

अपां त्वा सुधिषि सादयामीति । श्रोत्रं वा  
 ऽअपां सुधिः श्रोत्रे तां सादयति तद्या अस्यै-  
 तेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रति-  
 दधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ५५ ॥

अपां त्वा सदने सादयामीति । द्यौर्व्वा ऽअ-  
 पां सदनं दिवि ह्यापः सन्ना दिवि तां साद-  
 यति ॥ ५६ ॥

अपां त्वा सधुस्थे सादयामीति । अन्तरिक्षं  
वा अपां सधुस्थ मन्तरिक्षे तां सादयति ॥ ५७ ॥

अपां त्वा योनी सादयामीति । समुद्रो वा  
ऽअपां योनिः समुद्रे तां सादयति ॥ ५८ ॥

अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता  
वा ऽअपां पुरीषं सिकतासु तां सादयति ॥  
॥ ५९ ॥

अपां त्वा पाथसि सादयामीति \* । अन्नं वा  
ऽअपां पाथोऽन्ने तां सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो  
रूपेभ्य आप आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो  
ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ६० ॥

गायत्रेण त्वा कुन्दसा सादयामि । त्रैष्टुभेन  
त्वा कुन्दसा सादयामि जागतेन त्वा कुन्दसा  
सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा कुन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन  
त्वा कुन्दसा सादयामीति तद्या अस्यैतेभ्यश्चन्द्रोभ्य  
आप आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्ये-  
वास्मिन्नेतच्छुन्दांसि दधाति ॥ ६१ ॥

ता एता अङ्गुलयः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतो हीमा अङ्गुलयो ऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु हीमा  
 अङ्गुलयश्चतुर्धोपदधाति चतुर्धा हीमा अङ्गुलयः पञ्च-  
 पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च हीमा अङ्गुलयो नानोपद-  
 धाति नाना हीमा अङ्गुलयः सकृत्सकृत्सादयति  
 समानं तत् करोति तस्मात् समानसम्बन्धनाः ॥  
 ॥ ६२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५, २, ] ॥

अथ पशुशीर्षाणां सुपधानं विधाय प्रशंसति— “पशु-  
 शीर्षाणीति \* । पशुशीर्षाणां पञ्चवयवत्वेन पशुत्वम् ; अतश्च  
 तदुपधाने पशूना मेवोपधानं भवतीत्यर्थः । तेषां सुपधाभस्य  
 स्थानविशेषं विधत्ते— “तानीति । “यो वै स प्रजापतिर्व्यस्रष्ट-  
 सतेषां सोखेमे वै लोका उखेमे लोकाः प्रजापतिः”—इत्युखाया  
 लोकत्रयरूपत्वस्योक्तत्वात् † तस्या सुपधाने ‘लोकेषु’ ‘पशून्’  
 निहितवान् भवति । ‘तस्मात्’ इमे ‘पशवः’, ‘एषु’ लोकेषु  
 अवतिष्ठन्ते ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युखाया सुपधानं प्रशंसति— “यद्देवोखाया  
 मिति । उखायाः सकाशादग्न्युत्पत्तेः ‘यीनिः उखा’, अतस्त्वो-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १३ ।

† पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे १७ क० ( ३३४ पृ० ) दृश्यम्

‘पधाने योनावेव ‘पशून्’ निदधाति । ‘तस्मात्’ ‘अद्यमानाः’ उपभुज्यमानाः, ‘पच्यमानाः’ जीर्यमाणा अपि ‘पशवः’ ‘न क्षीयन्ते’ । उपभोगात्परिपाकाच्च विनश्ये सत्यपि ‘योनौ’ प्रतिष्ठितत्वात् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनस्तपद्यन्त इत्यर्थः । ‘पच्यमानाः’—इति कर्मकर्त्तरि युक् प्रत्ययः \* ॥ २ ॥

अथ तानि पशुशीर्षाणि श्रीरूपत्वेन प्रशंसति— “यद्देवेति । ‘याः’ खलु प्रागुक्ताः † ‘श्रियः’, ‘ताः’ एव ‘एतानि’ ‘पशुशीर्षाणि’; अत एतेषां सुपधाने श्रिया मेवोपधानं भवति । उखायाः परम्परया कबन्धात्मकत्वम् । तत्रोपधाने कबन्धशिरसां सम्भानं भवतीति दर्शयति— “अथ यानीति । ‘तानीति’ अन्नःसम्भरणावसरपरामर्शः । ‘यानि तानि’ ‘कुसिन्धानि’ कबन्धानि, तानि ‘एताः’ अत्र सम्पाद्यमानाः ‘पञ्च चितयः’ । चिन्त्यात्मकत्वन्तु कबन्धानां पञ्चत्वसङ्ख्यासामान्यात् । ततस्तथा-विधाः ‘याः पञ्च चितयः’, ‘ताः’ ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः’ । चित्तीनां प्रजापत्यवयवात्मकत्वात्, लोकानां मपि तथाभावादिति । तथा च ‘ये’ ‘ते’ एते ‘इमे लोकाः’, ते ‘एषा उखा’ ; तस्याः लोकत्रयात्मकत्वस्य प्रागुक्तत्वात् । अतश्च ‘उखायां’ पशुशीर्षाणां सुपधानेन ‡ ‘एतैः’ कबन्धानि संयोजयति § । ‘शीर्षभिः’—इति “शीर्षंश्छन्दसि”—इति ॥ शीर्षवादेशः ॥ ३ ॥

\* पा० सू० ३. १. ८७ ।

† इका० २७० १ ब्रा० ७ ख० ( ६ भा० ५४ पृ० ) द्रष्टव्याः ।

‡ ‘सुपधाने’—इति ज-पाठः ।

§ ‘संज्ञेययति’—इति ज-पाठः ।

॥ पा० सू० ६. १. ६० ।

उखाया सुपधानं पुरस्तादारभ्य प्रत्यगपवर्गं कर्त्तव्यं मित्याह—  
 “तानिति । पशुशीर्षाणा मपि पशुत्वात् ‘तान्’-इति पुल्लिङ्गवच-  
 नम् । विहितप्रकारे उपधाने कारणं वक्तुं प्रतिजानीते— “एतद्वा  
 इति । तत्रैतत् कारणं खल्वित्यर्थः । तदेव दर्शयति— “यत्रै-  
 तानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’ पशून्  
 ‘आलिप्त’ आलभ्य मैच्छत् । ततः ‘आलिप्त्यमानाः’ ते पशव  
 उत्क्रमितु मैच्छन् । ‘उच्चिक्रमिषूँश्च’ ‘तान्’ ‘प्राणेषु’ शीर्षगतेषु \*  
 ‘सर्वप्राणाधारत्वाच्छिरसां प्राणत्वम् । प्राणा इति इन्द्रियाण्यु-  
 च्यन्ते, ‘तान्’ प्राणेषु सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्माद्देशात् ‘प्रतीचः’  
 प्रत्यङ्मुखानाकृष्य, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अधत्त’ स्वाधीनीकृतवान् ।  
 पलायनेच्छूनां † पशूनां शिरांसि गृहीत्वा स्वाभिमुखं माकृष्य  
 वशीकृतवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

“तदेति । तथा सति ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’ एवेतस्मिन्नपि  
 काले ‘क्रियते’ खलु । अतश्च यजमानो ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’  
 ‘करवाणि’-‘इति’ अभिप्रायेण ‘एतत्’ उक्तप्रकारं सुपधानं ‘करोति’  
 -इति ‘यत्’, ‘इदम्’ ‘अस्मात्’ एव निमित्तात् ‘ते पशवः’ ‘अस्माद्’  
 यजमानात् ‘नोच्चिक्रमिषन्ति’ । न केवलं तेषां मुत्क्रमणेच्छा-  
 भावः, अपि तु ‘एतान्’ पशून् ‘प्राणेषु’ ‘सङ्गृह्य’, ‘पुरस्तात्’  
 ‘प्रतीचः’ आकृष्य, स्वस्मिन्निहितवान् भवन्ति ॥ ५ ॥

उखायां पशुशीर्षाणां सुपधाने प्रजापत्युदरे अन्नं दधातीति  
 दर्शयितुं माख्यायिका मवतारयति— “यदेवेति । ‘पशुशीर्षा-

\* ‘शीर्षे गतेषु’-इति ज-पाठः

† ‘पलायने’-इति ज-पाठः ।

‘शुपदधाति’-इति ‘यत्’, तत्कारणं मुख्यत इत्यर्थः । ‘अग्ने’ सृष्टेः पूर्वं ‘प्रजापतिः एक एवासीत्’ खलु, ‘सः’ प्रजापतिः ‘अन्नं सृज्य’, प्रजारूपेण जायेयेति ‘अकामयत्’ । ‘प्रजायेय’ इति अन्न-सृष्ट्युपायप्रदर्शनम् । ‘सः’ एवं जातेच्छुः प्रजापतिः ‘प्राणेभ्य एव पशून्विरमिमौत’ । तदेव विवृणोति— “मनसः पुरुष मिति । “प्राणादिति । प्राणसञ्चारणस्यानत्वाद् प्राणेन्द्रियं मुख्यते । यतः ‘एनान्’ पशून् ‘प्राणेभ्यो निर्मितवान्’, ‘तस्मात्’ लोके ‘प्राणाः पशव इत्याहुः’ जनाः । किञ्च । सर्वेषां मिन्द्रियाणां ‘मनः’ खलु ‘प्रथमं श्रेष्ठम्’ ; तदुपधानादेव सर्वेषां स्वस्वव्यापारक्षमत्वात् । अतश्च मनसः पुरुषस्य निर्माणात् लोके ‘पुरुषः पशूनां’ मध्ये श्रेष्ठः ‘वीर्यवत्तमः’-इति आहुः । अपि च ‘मनस्येव सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः’-इति, तदेव खलु ‘सर्वे प्राणाः’ ; अतश्च सर्वप्राणात्मकात् ‘मनसः पुरुषं निरमिमौत’-इति ‘यत्’, ‘तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशवः’-इति । यतः ‘पुरुषस्य’ ह्येवेति ‘सर्वे पशवः’ भवन्ति ; सर्वपशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषस्य ; अतः ‘पुरुषः सर्वे पशवः’-इति ‘आहुः’ । सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठारूपात् मनसः सकाशात् पुरुषस्य निर्माणेन तस्य पशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषः सर्वे पशवः इत्याहु-रित्यर्थः ॥ ६ ॥

“तदेतदिति । ‘एतत्’ पुरुषादिपशुलक्षणम् ‘अन्नं सृष्ट्वा’, स प्रजापतिः ‘पुरस्तात्’ प्रतीचीन मात्मनि ‘अधत्त’ । ‘तस्मात्’ लोकेऽपि कश्चनापि अन्नं सम्पादयति ; एतत् सम्पादनं ‘पुरस्तादेव’ प्रतीचीन मात्मनि धारयति ; मुखप्रदेशादेवान्नस्य प्रती-

चीन मभ्यवहारात् । अतश्च 'तत्' पुरस्तात् प्रतीचीनं तेषां पशुशीर्षाणां सुपधानं सुखायां क्रियत इति यत्, तेन प्रजापतेरुदररूपायाम् 'उखायां' पुरस्तात् प्रतीचीनं मन्त्रं निहितवान् भवति ॥ ७ ॥

अथ तेषु पशुशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—  
“अथैष्विति \* । प्राणसाधनत्वाद्द्विरण्यस्य प्राणात्मकत्वम् । “अथ वा इति । ‘अथ’ खलु ‘सञ्ज्ञाप्यमानेभ्यः’ एभ्यः ‘प्राणा उत्क्रामन्त्येव’ । अतश्च ‘द्विरण्यशकलान् प्रत्यस्य’-इति यत्, एतेन ‘प्राणानिव’ ‘एषु’ पशुषु नि-‘दधाति’ ॥ ८ ॥

सुवर्णशकलानां सञ्ज्ञाविशेषं विधत्ते—“सप्त प्रत्यस्यतीति† । शिरसि,— वागेका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाविवरे च द्वे, इति सप्त प्राणाः । तथा सप्तद्विरण्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतोत्वाह— “सप्त वा इति । पञ्चपशुपक्षः, एकपशुपक्षः, इति पक्षद्वयं मस्ति । तत्र पञ्चपशुपक्षे ‘पञ्चकत्वः’ ‘सप्त-सप्त’ द्विरण्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति ॥ ९ ॥

“तद्वैक इति । ‘यदि एकोऽपि पशुर्भवति’, तदापि ‘पञ्चकत्व एव’ ‘सप्त-सप्त’ सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति ‘एके’ शाखिन आहुः । तथा वदताश्च तेषां मय माश्रयः ।— पञ्चानां अपि पशूनां स्थाने एकस्योपधानादसावङ्ग्युः ‘पञ्च’ खल्वेतान् ‘पशून्’ ‘उपदधाति’ । तथा च ‘एकैकस्मिन् पशौ’ ‘सप्त-सप्त प्राणाः’ विद्यन्ते । तस्मात् तावतां द्विरण्यशकलानां प्रत्य-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ क ।

सनेन 'एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् दध्मः'—इति दूषयति— "न तथा कुर्यादिति ।

कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्घटनेति तत्राह— "एतस्मिन् वा इति । 'एतस्मिन्' उपधीयमाने 'पशौ एकस्मिन्' एव 'सर्वेषां पशूनां रूपम्' अस्ति ; तेषां सर्वेषां मपि कार्यं एतस्यैव सामर्थ्यावधारणात् । तस्मात् 'एतस्मिन्' सप्तसङ्ख्याविशिष्टहिरण्यकलप्रत्यसनेन 'सर्वेष्वपि' पशुषु प्राणप्रतिसन्धानं सम्पादितवान् भवति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमं मुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते— "मुखे प्रथममिति \* । तत्र मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "सम्यक् स्रवन्तीति † । 'धेना इति अन्नम्' उच्यते । 'तदिदम्' अन्नं 'मुखम्' 'अभि'—लक्ष्य 'सम्यक् स्रवति' । कथं मिव ? 'सरितो न' सरित इवेति । अयमर्थो मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्वितीयं पादं व्याचष्टे— "अन्तर्दृदेति । 'यः' 'ऋजुः' अकुटिलाङ्गः , 'तस्य' 'अन्तः' शरीरमध्ये 'हृदा' हृदयदेशेन 'मनसा' च 'सता' विद्यमानेन 'अन्नं' पूतं भवति , सारासारभेदेन विवेचितं भवति । हृदयदेशस्य त्वन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम् । 'यः' 'ऋजुः' अकुटिलः 'शोभनकर्मा' यजमानः , 'तस्य' मनसेति । तृतीयं पादं व्याचष्टे— "घृतस्य धाराः"—इत्यनेन । होथमाणाहुत्यभिधानमभिप्रेत मित्वाह— "घृतस्य धारा इति । चतुर्थपादे

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ घ ।



अग्निमध्यावस्थितहिरण्ययपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—  
“हिरण्यय इति ॥

तदयं मन्त्रस्यार्थः \* :— अकुटिलावयवस्य अन्तर्मध्ये शरीरे,  
हृदयेन विद्यमानेन, मनसा च शोध्यमाना, धेना अन्नानि,  
इदं मुखं मभिलक्ष्य स्तवन्ति; यथा नद्यः समुद्रम्, तद्वत् ।  
तथाविधे अग्निं मुखे शकलं निदधामि । निहितं शकल-  
च्छेदं ‘अग्नेर्मध्ये यो-हिरण्ययो वेतसः इति’ संस्तवन्ती, ‘वृत्तस्य  
धाराः’ ‘अभिचाकशीमि’ अभिपश्यति । चाकशीमीति पुरुष-  
व्यत्ययः, यङ्लुगन्तस्य रूपम् † । ‘हिरण्यय’-शब्दः “ऋत्व्य-  
वास्त्वेत्यादिना निपातितः ‡ ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणनासाविवरे समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—  
“ऋचे त्वेतीति § । ‘इय’-इति दक्षिणनासाविवरस्याभिनयेन  
निर्द्देशः । व्याचष्टे— “प्राणो वा इति । यतः ‘प्राणो वा’  
‘अर्चति’ प्राप्नोति; प्राणवतैव सर्वस्य प्राप्तेः । अनेकार्थत्वरत्  
धातूना मर्चतिरत्र प्राप्त्यर्थः । अतश्च ऋगिति प्राणः । तथा  
सति ‘ऋचे’ प्राणाय सञ्चरमाणाय प्रत्यस्यामीति मन्त्रार्थः ॥ ।  
सञ्चननासाविवर मध्यभिनयेन निर्द्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते—“ऋचे त्वेतीति ¶ । ‘इह’-इति सञ्चननासाविवरस्याभिनयेन

\* वा० सं० १३. ३८ ।

† पा० छ० ३. ४. ७४ ।

‡ पा० छ० ६. ४. १७ ।

§ का० श्रौ० १७. ५. ८, ९

॥ वा० सं० १३. ३६. १ ।

¶ वा० सं० १३. ३६. २ ।

निर्देशः । 'प्राणो वै' 'रक्' दीप्यमानः ; 'प्राणेन हि' शरीराः  
दिक् दीप्यते । प्राणार्थं मेव 'सर्वम्' 'इदं' जगत् प्रियं भवति ॥

दक्षिणनेत्र मभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते \* — "भावेत्वेतीति † । 'इह' दक्षिणनेत्रे । "ज्योतिषे  
त्वेति ‡ । 'इह' सव्ये नेत्रे प्रत्यस्यति । यतः 'इमे' चक्षुषौ  
'भास्यती' अर्थप्रकाशनलक्षणतेजोविशिष्टे, 'ज्योतिष्यती' स्वयञ्च  
'ज्योतिर्विशिष्टे', अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भावे' ज्योतिषे  
इति प्रयुक्तम् ।

श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते § — "अभूदिति ॥ ।  
'इदं' दक्षिणश्रोत्रं 'विश्वस्य भुवनस्य' समस्तस्य लोकस्य 'वाजिनं'  
'शब्दोपलब्धिसाधनम्' अभूत् । न केवलं मस्यैवाभूत्, अपि  
तु 'वैश्वानरस्य' अभूत् । अपि तु 'वैश्वानरस्य' सर्वजनानां  
जनकत्वेन सम्बन्धिनः । "तस्येदम्"—इत्यण् प्रत्ययः ¶, "नरे सञ्ज्ञा-  
याम्"—इति \*\* पूर्वपदस्य दीर्घः । तस्य 'अग्नेः' प्रजापतेरपि  
शब्दोपलब्धिसाधनमभूत् । तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्यामीत्यर्थः ।  
"अग्निर्ज्योतिषेति †† । 'ज्योतिषा ज्योतिषान्' प्रशस्त्यज्योति-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १० ।

† वा० सं० १३. ३६. ३ ।

‡ वा० सं० १३. ३६. ४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ५. ११ ।

॥ वा० सं० १३. ३६. ५ ।

¶ पा० सू० ४. ३. १२० ।

\*\* पा० सू० ३. ३. १२६ ।

†† वा० सं० १३. ३६. ६ ।

आन् , प्रशस्तज्योतिर्विशिष्टोऽग्निरिव । 'वर्चसा वर्चस्वान्' प्रशस्त-  
वर्चोविशिष्टोऽग्निरिव । 'इव'-शब्दोऽध्याहार्यः । 'इदं' यद्वक्षिणेतरं  
श्रोत्रं प्रकाशते , तथाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः ॥

मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्वाभिप्राय माह— “विश्ववतीभ्या  
मिति \* । यद्यप्यत्रैकस्या मेव विश्वपदप्रयोगः , तथापि प्राणभृ-  
त्रायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि विश्ववतीभ्या मित्यभिधानं सुप-  
पद्यते । यतः श्रोत्रं 'विश्वं' विश्वव्यापकाकाशात्मकत्वात् ; अत-  
स्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रे विश्वपदप्रयोगः ॥ १२ ॥

पशुशीर्षाणां सुपधानम् , तस्य स्थानविशेषम् , उपधाने  
प्रकारभेदम् , तदुत्पत्त्यादिकञ्च प्रदर्शयन्तरम् , उपधानार्थं  
पुरुषशिरस उद्ग्रहणं विधत्ते— “अथेति † । उद्ग्रहणस्योप-  
योग माह— “महयत्नेवैनदेतदिति । एतेनोद्ग्रहणेन 'एतत्'  
पुरुषशिरो 'महयति' , पूजयति सत्कृतवान् भवति ; अत  
एव यजमानदेवत्वत्वाज्जुहुत्तम्यते , अतश्चदेवत्वत्वादुपभृच्चि-  
यम्यते ।

विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय , व्याचष्टे— “सहस्रदा  
इति ‡ । “सर्वं वा इति । यतः 'सहस्रं सर्वं' ; तस्मिन्नेव शता-

\* तत्पाठस्त्वेवम्—

“अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिन मन्त्रेर्वैश्वानरस्य च”—

इत्येका ; अथापरा,—“अग्निर्व्योतिषा व्योतिष्मान् रुक्मो

वर्चसा वर्चस्वान्”—इति । वा० सं० १३. ३६. ५, ४०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १४ ।

‡ वा० सं० १३. ४०. २ ।

दीना मत्तर्भावात्, अतः 'सर्वस्य दातासीति' । तस्मात् 'सर्वस्यै-  
त्वा' उदगृह्णामि 'इत्येतत्' उक्तं भवतीत्यर्थः । "सहस्रदा इति,  
विच्-प्रत्ययान्तं पदम् । "सर्वस्य दातासीति, पुरुषविवक्षया  
पुष्पित्वम् ॥ १३ ॥

अथैतेषां पशूना सुपधानं मनूय, तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं  
विधत्ते — "अथेति \* । उपधाने पुरुषस्य प्राथम्यात् वीर्येण  
पुरुष मतिशयितं करोतीत्याह — "पुरुषं" तदिति । उखाया  
सुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानं तत्पा-  
र्श्वयोरितरपशूना सुपधानं कुर्यादित्यर्थः । "मध्ये पुरुषम्"—  
इति विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजनं माह — "पुरुषं" तदिति ।  
'तत्र' तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां 'मध्ये' 'पुरुषम्' 'अत्तारं'  
भोक्तां करोति ; भोक्तुः पार्श्वं भोग्यस्मावस्थानात् । 'तस्मात्'  
सम्यगपि 'पशूनां' मध्ये 'पुरुष एव' 'अत्ता' भोक्ता भवति ॥ १४ ॥  
'सामान्येनाभित इतरान् पशूनि'† विधानात् कस्य कुत्र  
पार्श्वं उपधानं मिति विशेषजिज्ञासाया माह — "अथैतेषां  
विधेति ‡ ॥ १५ ॥

"गाञ्जाजच्चेति § ॥ १६ ॥

"मध्ये पुरुष मिति, पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम् ॥ ,

\* का० औ० ख० १७. ५. ११—१७ ।

† इतः पूर्वस्या मेव कङ्ठिकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।

‡ का० औ० ख० १७. ५. १५ ।

§ का० औ० ख० १७. ५. १६ ।

॥ इहैव चतुर्दशकङ्ठिकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।

तत्रैव विशेषं विधत्ते — “पयसीति \* । उल्लामध्ये पयःपूरितं पुरुषं सुपदध्यात् । एवञ्च सति यजमानस्य पुरुषत्वात् पयसः पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र ‘यजमानं’ प्रतिष्ठापयति ।

विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पदशो विभज्य व्याचष्टे — “आदित्यं गर्भं मिति † । पुरुष इति यत्, ‘एष आदित्यो गर्भः’ खलु, अदितेः सकाशाद्विवस्वदास्य आदित्योऽजायत । तथा च श्रूयते — “ततो विवस्वानादित्योऽजायतेति ‡ । विवस्वत्सम्बन्धिनश्च सर्वे पुरुषा इति पुरुषस्याप्यादित्यगर्भस्त्वम् । तथा सति ‘पुरुषम्’ एव ‘पपसा समङ्ग्धीत्येतत्’ उक्तं भवति । द्वितीयपादेऽपि ‘सहस्रस्य प्रतिमा’-इत्यनेन पुरुष एव विवक्षित इति दर्शयति — “सहस्रस्येति । यतः पुरुषस्यैव पशूनां ‘सहस्रं’ भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सदृशः । अत एव तैत्तिरीयके श्रूयते — “सहस्रं वै प्रति पुरुषः पशूनां यच्छतीति § । , तृतीयपादे ‘हरः’-शब्देनार्चिक्रियते । ‘माभिसंस्था इति’ अनेन हिंसन मिति दर्शयति — “परिवृङ्ग्धीति । चतुर्थपादे ‘शतायुषं कण्वहि’-इत्येतदुच्चारणेन पुरुषस्य शतायुषं सम्पादयतोत्याह — “शतायुष मिति ॥

हे अग्ने ! ‘चीयमानः’ त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणादित्यगर्भरूपं ‘सहस्रस्य’ ‘प्रतिमां’ सदृशम् ; अत एव ‘विस्वरूपम्’ पुरुषं ‘पपसा’

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १७ ।

† वा० सं० १३ ४१—४५ ।

+ ते० सं० ६. ५. ६. २ । इहापि ३. १. ३. ४ द्रष्टव्यम्

§ ते० सं० ५. २. ६. ५ ( ५भा० ५१८० ) ।

आर्क्षीकुरु । किञ्च 'एनं' परितो वर्ज्य , 'अर्चिषा मा हिंसीः' ,  
'यतायुषश्च कृणुहि' इति मन्त्रार्थः \* ॥ १७ ॥

उत्तरतोऽश्वस्योपधान मनुष्य , तत्र मन्त्रं त्रिदधानो व्याचष्टे  
— "अथेति † । 'अश्व इति यत् , एष वा तस्य जूतिः' खलु ।  
'जूति'-शब्देन वेग उच्यते , तद्रूपत्वात् अश्वोऽपि तच्छब्देन ,  
वायुवेग इत्यर्थः । अपा मधिपतेः 'वरुणस्य' सम्बन्धित्वात्  
'अश्वः' , 'वरुणस्य नाभिः' । अत एव श्रूयते— "प्रजापतिर्वरु-  
णायाश्व मनयदिति ‡ । 'सरिरम्'-इति § आप उच्यन्ते , 'अश्व-  
स्यासुजः' खलु ; समुद्रमध्ये वडवारूपेणोत्पन्नत्वात् । अत एव  
"अभुयोनिर्वा अश्वः"—इत्यन्यत्र श्रुतम् ॥ । "अद्रिबुध्र मितितीति ।  
'अद्रिः' इति , 'गिरिः' उच्यते ; 'आपः' 'बुध्राः' गिरिमूलाः खलु ;  
तत्रोत्पद्यमानत्वात् । तथा च तथाविधजलसमुद्भूतत्वात् अश्वो-  
ऽपि गिरिबुध्र इत्यर्थः । "इमे वै लोकाः परमं व्योम"  
—इत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपद मितरलोकयोरप्युपलक्ष्य मिति  
तद्वर्णितम् ।

हे 'अग्ने !' वायुवेगविशिष्टम् , 'वरुणस्य' 'नाभिं' नाभिस्थानी-  
यम् , 'सरिरस्य मध्ये' उत्पन्नम् , अत एव 'नदीनां शिशुम्' ,

\* वा० सं १३. ४१ ।

† का० औ० सू० १७. ५. १५ । 'पूर्वं मन्त्रस्यापर मवेः ।

उल्लाया मेवोत्तरभागे शिरसी उपधेये ।

‡ तै० सं० २. ३. १२. १ ( २भा ४५५८० )

§ 'शरीरम्—इति'—इति छ-च-पुस्तकयोः ।

॥ उपरिष्ठात् १३का० १५० ११ब्रा० १६क० दृश्यम् ।

‘अद्विबुधं’ गिरिमूलोत्पत्तिस्थानम्, ‘हरिम्’ आरोढुर्हर्तारम् ;  
 ‘अश्वम्’ परमे व्योमन्\* उत्कृष्टेषु पृथिव्यादिषु ‘लोकेषु’ ‘मा  
 हिंसोः’-इति मत्त्वार्थः ‡ ॥ १८ ॥

दक्षिणदेशे गोरुपधान मनुष्य, सुतिवत् मन्व्यं विधत्ते—  
 “अथेति † । “इन्दुरिति । ‘सोमो हि इन्दुः’-इति, यतः ‘स एषः’  
 ‘अजस्रः’ सोमो हि ; सर्वदा पयोऽलक्षणाभ्यामृतस्य स्यन्दनात्,  
 इन्दोस्तु कदाचिदुपजयो विद्यत इति तदभिप्रायेणाजस्रमित्यु-  
 क्तम् । ‘भुरण्यु मिति’ दोहनादिभिः ‘भर्तार मित्येतत्’ उक्तं  
 भवति, गोजातीयस्य घृतत्वात् । अथ वा ‘गौः’ पुङ्गवः,  
 ‘अजस्रः’ सोमः, सर्वदा आह्नादकत्वात् ; कृषिंसाधनत्वेन  
 भर्तृत्वाद् ‘भुरण्यु मिति’ ।

“अग्नि मीड इति । यतो ‘गौः आग्नेयः’, ततोऽसावग्निः ।  
 यतः ‘अग्निं प्राञ्च मुहरन्ति’, ‘प्राञ्चम्’ एव होमादिना ‘उप-  
 चरन्ति’, अतः अग्निः ‘पूर्वचित्तिः’ पूर्वस्मिन् प्रदेशे ‘चित्तिः’  
 अनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य, स तथोक्तः । “यद्वा इति । ‘एषः’  
 अग्निः चोद्यत इति यत्, तेनेषः ‘पर्वभिः’ इष्टकाचितिलक्षणेः  
 ‘ऋतुशः’ तेन तेन ऋतुना ‘कल्पते’ ; चितिलक्षणानां पर्वणा  
 ऋतुरूपत्वादित्यर्थः ।

“विराड् वा इति । अन्नसाधनत्वाद् विराजोऽन्नत्वम् ‡ ।

\* वा० ख० १३ ४२ ।

† का० श्री० ख० १७. ५. १६ । ‘पूर्वं गोरपर मजस्य । उखाग  
 दक्षिणे भागे’ ।

‡ ‘तस्ये ऋतं तस्ये शरः’-इति ( ३भा० १६५२० ) दृश्यवीर्याभिप्रायम् ।

गौरपि तथैवान्नस्व मिति , 'विराड्'-इति 'गौः' एवेत्यर्थः ।  
 सर्वदाज्ञादं कत्वेन 'अजस्र मिन्दुम्' , 'अरुणम्' आरोचमानम् ,  
 कृष्णादिसाधनत्वेन भर्तारम् , 'पूर्वचित्तिम्' पूर्वत्रानुष्ठेयप्रतीति-  
 विशिष्टम् , 'अग्निं' तदीयस्त्वेन तदात्मकं , 'गाम्' अत्रोपधानाय  
 'नमोभिः' नमस्कारैर्युक्तम् , 'अग्निम्' 'ईडे' । 'हे अग्ने ! 'पर्वभिः'  
 चितित्तत्त्वैः 'ऋतुशः कल्पमानः' तथाविधस्त्वं 'अदितिम्'  
 अखण्डवीर्यं 'विराजम्' , 'अन्नम्' अन्नसाधनम् , 'गां' 'मा हिंसीः'  
 इत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

अथोत्तरप्रदेशे अवेरुपधान मनुय मन्त्रं विधत्ते—  
 "अथेति । "वरुणो च ह्येति । यतोऽविः 'वरुणस्य' अनिष्ट-  
 निवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीया ; रूपाणां निर्माता यः त्वष्टा ,  
 तस्मानुग्रहणाय रूपयुक्ता ; अतोऽविः 'त्वष्टुर्वरुणी' , 'वरुणस्य'  
 नाभिः' च ॥

"ओन्नं वा इति । 'ओन्नं' खलु 'परं रजः' उत्कृष्टो  
 लोकः । तदेवोपपादयति— "दिशो वा इति । ओन्नं च  
 दिशः खलु ; तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्य-  
 खावय उत्पद्यन्ते ; दिशां सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणात् । 'महीं'  
 'साहस्रीम्'-इत्यत्र , महोपदस्य महतीत्यर्थ इति दर्शितम्—  
 "महती मिति ।

मन्त्रार्थसु † ,— हे 'अग्ने ! ' 'त्वष्टुः' वरुणीयरूपयुक्तां ,  
 'वरुणस्य' नाभिस्थानीयां , 'परस्माद्भजसः' दिग्भ्यो जातां ,

\* वा० सं० १३ ३३ ।

† वा० सं० १३. ४४ ।



‘महती’ ; सहस्रमूर्त्याहाम् , ‘असुरस्य मायां’ सुवर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीयके — ‘सुवर्भानुर्व असुरः सूर्यं तमसाविध्यत् , तस्मै देवाः प्रायश्चित्ति मैच्छन्नस्य यत् प्रथमं तमोऽपन्नन् सा कृष्णाविरभवदिति \* श्रूयते । तादृशीम् , ‘अविं’ पृथिव्यादिष्वेतेषु लोकेषु ‘मा हिंसीः’ ॥ २० ॥

अथ दक्षिणदेशे अजस्योपधान मनूय , मन्त्रं विदधानो व्यावष्टे — “अयेति । “अग्निर्मी इति । ‘एषोऽग्निः’ अजः , ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्याग्नित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्श्यते — “शोकादिति । ‘यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत’ , ‘तद् दिवः’ , ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याश्च ‘शोकादजायत’ ; प्रजापतेस्तदात्मकत्वात् । अग्निरिति प्रजापतिरेवोच्यते , ‘यत्’ येनेत्यर्थः । ‘विश्वकर्मा’ प्रजापतिः ‘वाचः’ सकाशात् ‘प्रजाः’ ‘जजान’ । जनिरन्तर्भावित्वर्थः , उत्पादितवान् । अजश्च वागात्मकः , ततश्च ‘येन’ ‘विश्वकर्मा’ प्रधा. ‘जजान’ । ‘यद्वैव यजुः तच्चा बभूव’-इति मन्त्रो यथैव , तथैव व्याख्यानं स्पष्टार्थ इत्यर्थः ।

हे ‘अग्ने !’ उपधीयमानो ‘यः’ अग्न्यात्मकोऽजः ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ । तत् कथम् ? यतः ‘पृथिव्याः शोकात्’ , अपि च ‘दिवः’ शोकाद् , अध्यजायत । किञ्च , ‘विश्वकर्मा जजान’ , ‘येन’ ‘प्रजाः’ उत्पादयामास । तम् अजं ते ‘हेडः’ कोपः ‘परिवृणक्तु’ अपवर्जयतु † ॥ २१ ॥

\* ते० सं० २. १. २. ४ ( २भा० २६४८० ) ।

† वा० सं० १३ ४५ ।

प्रकृतानां पशूनां नानात्वात् पृथगेवोपधानसादनानि,  
कर्त्तव्यानीत्याह— “त एते पशव इति ॥ २२ ॥

उपधूनानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते— “अथेति ।  
अभिहोमस्योपयोग माह— “आहुतिरिति । यत् एषा खलु  
आहुतिः, तदात्मको ‘यज्ञः’ स्वात्, तथा सत्यमभिहोमेन  
‘पशूनां’ मध्ये ‘पुरुषं’ ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हं ‘करोति’ । ‘तस्मात्’  
‘पुरुष एव पशूनां’ मध्ये ‘यजते’ ॥ २३ ॥”

न केवलं मभिहोमस्य यज्ञियत्वं मेव प्रयोजनम्, अपि तु तस्य  
वीर्यत्वं मपीत्याह— “यद्देवेति । ‘एतत्’ पुरुषशीर्षम् ‘अभि’-  
लस्य ‘लुहोति’ इति ‘यत्’, तेन ‘शीर्षम्’ शीर्षि ‘वीर्यं दधाति’ ।  
“शीर्षंश्च दसीति \* शिरःशब्दस्य शीर्षनादेशः । तत उत्तरस्याः  
सप्तम्याः “सुपां सुलुगित्वादिना † लुक् ॥

एतदेव वीर्यनिधानं मभिहोमसाधनभूताज्यसुवादीनां मध्ये  
प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति— “आज्येनेत्यादिना । आज्यस्य  
वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “घृतं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा  
सोमं मज्जन्ति ‡ । वज्रस्य ग्रहणरूपत्वाद्दीर्यत्वम् । “वृषा वै  
सुवः”—इति § वृषा पुरुषः । सुवस्य पुत्तिङ्गत्वाद् वषत्वम् ।  
वृषो वीर्यत्वाद्दीर्याधानहेतुत्वं मिति स्नाहाकारस्याप्येव

\* पा० सू० ६. १. ६० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ (६भा० ३६८०)

§ “योषा वै सुक्, वृषा सुवः”—इतीहैव १. ३. २. ६ (१ भा०

१७६, ८०) द्रष्टव्यम् ।

मेव वीर्यत्वम् । “वज्रो वै त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभो ह्यननसाध-  
नत्वसादृश्याद् वज्रता । तथा च वज्रस्य वीर्यरूपत्वात्  
त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया त्रिष्टुबात्मकेन ‘वीर्येणैव’ हेतुना ‘अस्मिन्’  
पुरुषशिरसि ‘वीर्यं दधाति’ ॥ २४ ॥

चित्रं देवानां ‘मुदगादित्यस्याभिहोममन्त्रस्य पूर्वणाईनेका-  
हुतिः क्रियते, अपरेण चान्या ; अत एव कात्यायनः,—  
“चित्रं देवाना मित्यईर्ध्वेन सुवाहुतिरिति \* । तच्च पूर्वाईर्ध्व-  
साध्या माहुतिं दर्शयति— “स वा अईर्ध्वं मिति । ‘सः’ खल्वहुयुः  
‘अईर्ध्वं मनुद्रुत्य’, स्वाहाकारेणैका माहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः ।  
ननु किमर्थं मईर्ध्वं स्वाहाकरण मित्यत आह— “अस्मि  
वा ऋगिति । ऋचोऽस्यात्मकत्वं पादबन्धेन दार्ढ्ययोगात् ।  
ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयकेऽधीयते— “यदृचा तद् दृढं मिनि † ।  
तथाच सति ऋचो विभागेन तद् ‘इदं’ पुरुषसम्बन्धि ‘शीर्ष-  
कपालम्’ ‘विहाप्य’ विभिय । “ओ हाक् त्यागे” ‡, एतत्सं-  
ख्यपि रूपम् । ‘शीर्णः’ शिरसोऽन्तरे ‘यदिदम्’ अत्र विद्यमानं  
‘वीर्यम्’ ‘तदस्मिन्निदधाति’ ; आञ्जस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथोत्तराईर्ध्वसाध्या माहुतिं दर्शयन् तत्राप्युपयोगं भाह—  
“अथेति । “इदं तदिति । पूर्वम्, अन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपाल-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १८

† ते० सं० ६. ५. १०. १२ ।

‡ जु० प० ८ धा० ।

‘मेदनात् , पुनः ‘तत्’ ‘कपालं’ ‘सन्धाय’ शिरस उपरितनः,  
‘वीर्यम्’ अत्र निहितवान् , “स वा अर्द्धं मनुहुत्येत्यादिना #  
सूचितम्॥ ॥ २६ ॥

मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे — “चित्रं देवाना मिति † । ‘एषः’  
उपधीयमानः ‘पुरुषः’, ‘असौ’ परिदृश्यमानः ‘आदित्यः’  
खलु ; आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात् । आदित्यमण्डलञ्च ‘देवानां’  
रश्मीनां ‘चित्रं मनोकं’ समुदायः । तथा सति ‘अस्य’ पुरु-  
षस्योपधाने ‘तदेतत् चित्रं देवानां मनोकम्’ ‘उदेति’ ; अत  
उच्यते — “चित्रं देवाना मुदगादनीकम्” — ‘इति’, मन्त्रेषेत्यर्थः ‡ ।  
“चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः” — ‘इति’, एवमित्रादि देवताग्रहण  
मन्त्रेषा मय्युपलक्षणम् । उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वं साधा-  
रणादिति दर्शितम् — “उभयेषा मिति । “उद्यन् वा इति ।  
उद्गममानः सन् ‘एषः’ आदित्यः ‘इमान्’ पृथिव्यादीन् लोकान्  
“आपूरयति” प्राणैः समर्थयति , चेष्टयतीत्यर्थः । एतच्च तैत्ति-  
रीयके श्रूयते — “असौ य आपूरयति , स सर्वेषां भूतानां प्राणै-  
रापूरयति” — इति § । अत उक्तम् — ‘आप्राः’ — इति, “प्रा पूरणे” ॥,  
लिटि रूपम् । “सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च” — ‘इति’, अनेन  
स्यावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकत्वेन अन्तर  
आत्मेति विवक्षित मित्याह — “एष हीति । ‘जगत्’ गच्छत् , जङ्ग-

\* एतत्पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७५ पृ० ) दृश्यम् ।

†, ‡ वा० सं० १३. ४६ ।

§ तै० आर० १. १४. १. ३ ।

॥ अद्वा० प० ७७ धा० ।

मात्मकं जगत् ; तिष्ठत् , स्वावरात्मकम् । “अन्धेभ्योऽपि दृश्यते”<sup>\*</sup>  
इत्यत्र \* “स्युतिगमिजुहोतीनां द्विर्वचनम्”—इत्यनुशासनात्<sup>†</sup>  
किपि द्विर्वचने जगदिति भवति ॥ २७ ॥

अभिहोमानन्तरं सुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशु-  
शिरसा मुत्सर्गनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते— “अथेति ‡ । कि-  
हितमन्त्रसाध्यस्योपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—  
“एतद्वा इति । ‘एतत्’ खलु प्रयोजनं मित्यर्थः । तदेव दर्शयति  
— “यत्रैतानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’  
पुरुषमुस्थान् ‘पशून्’ आलभ्य मैच्छत् , तदा ‘आलिप्स्यमा-  
नास्ते अशोचन्’ ; आलभ्यस्य शोकहेतुत्वात् । ततः ‘तेषां’ ‘शुचं’  
शोकरूपं पापम् ‘एतैः’ वक्ष्यमाणैः उत्सर्गमन्त्रैः अपहतवान् ‘तथैव’  
‘अयम्’ अपि यजमानः एतेनोपस्थानेन ‘एषां’ शोकरूपं पापम्  
‘अपहन्ति’ । “मयु मारण्य मनुते दिशामीत्यादिना § आरण्य-  
पशूत्सर्गप्रतिपादनेन तेषां मुत्सर्गत्वम् ; शोकोत्सर्गहेतुत्वाद्वा ॥ २८ ॥”

अथ पञ्चानां मपि शीर्षाणां सुपधानानन्तरम् उत्सर्गमन्त्रैरुप-  
स्थानं मिति स्वकीयं मतम् ; तथैवोक्तत्वात् । अपरे पुनरत्रानु-  
ष्ठानकमे किञ्चिद्विषयं माचक्षते । तस्मात् दूषयितुं मनुवदति  
— “तद्वैक इति । तथा कुर्वताश्च तेषां माशय माह—  
“नेदिति । पूर्वं सुपहितस्य पशोः शोक मुत्सारितं मभिलक्ष्यैवो-

\* पा० सू० ३. २. १७८ ।

† पा० ८. १. १४ सू० वा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

§ तै० सं० ४. २. १०. १ ।

शिरपशोरुपधानं स्यात्, अतस्तन्माभूदिति तथा कुर्वन्ती-  
त्यर्थः । तन्मतम् दूषयति — “ते हेति । तथाविधाभिप्राय-  
वन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शीकरूपं पापं मभिलक्ष्यैव ‘उप-  
दधति’ । यतः ‘पूर्वस्य’ पूर्वपशोः, ‘यां’ शुचिमुत्सृजन्ति’, ‘ताम्’  
एव ‘उत्तरेण सह उपदधति’ ; निवृत्तभेजातीयानुवृत्तिभावा-  
दित्यर्थः ॥ २८ ॥

• अथैतेषां मेवोपस्थाने केषाञ्चिच्छास्त्रिणां प्रकारविशेषं  
दूषयितुं मनुवदति — “विपरिक्राम मिति । पशूनां ‘शुचि-  
मुत्सृजाम’ इति’, केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपति-  
ष्ठन्ते’; उत्क्रमणपूर्वकत्वादिपरिक्रमणस्येति । तथोपस्थाने शोकः  
‘जहुं’ एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भावः । तदपि  
दूषयति — “ते ह ते इति । तथाविधाभिप्रायवन्तः ‘ते’  
शीकरूपं पापम् ‘अनूद्यन्ति’ विपरिक्रमणार्थं मुहमने कते  
‘शीकं’ प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति । अतो न तथा कुर्यात् । कथं  
तर्हि शोक जहुं मुत्सृष्टो भवतीति तत्राह — “जहुं हीति ।  
‘एतेन’ उपधानलक्षणेन ‘कर्माणां’ ‘जहुं’ अहुर्युरिति ; उत्तरोत्तरं  
मेतेषां शिरसा उपधानात् । अतस्तेनैवम् ‘जहुं’ उत्सृजन्ति’ ।  
व्यत्ययेन बहुवचनम्, प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा ॥ ३० ॥

अग्नेर्बहिर्देशे शोक मुत्सृजेदित्याह — “बाह्येनेति । अग्ने-  
र्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुचिमुत्सृजेदित्यर्थः । ‘अग्नि मिति,  
षष्ठ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययो द्रष्टव्यः । “इमे वै लोकाः” इत्य-  
स्याय मर्थः — अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन ‘तत्’ पृथिव्यादिलोका-  
त्मनोत्पत्त्यात् तस्य ‘बहिर्देशे’ शोकोत्सर्जनेन ‘लोकेभ्यः’ एव

शोको 'बहिर्द्वा' भवतीति । बाह्येनेवाग्नि मित्यनेनाग्नि-  
प्रदेशव्यतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्यादित्यत आह—  
“बहिर्वेदीति । वेद्या बहिः । “अपपरिवहिरश्चवः पञ्चम्या”—  
इति \* अव्ययीभावसमासः । बहिर्वेदि शोकोक्त्यै वेद्याः कृत्स्न-  
पृथिव्यात्मकत्वात् तस्या बहिरेव शोक उत्सृष्टो भवतीति  
दर्शितम्— “इयं वा इत्यादिना । ‘उदङ्’ उत्तरस्यां दिशि  
वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पञ्चवोऽवतिष्ठन्त इति तत्र शोकनिधा-  
नाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्नुत्सृज्यदित्याह— “उदङ् तिष्ठन्निति ॥ ३१ ॥

उत्सर्गमन्त्ररूपस्थानम् , तत्र स्वाभिमतप्रकारं , देशविशेषम् ,  
अर्द्धर्चैरिवस्थानविशेषश्च प्रदर्श्य , उपधानक्रमेणैव पुरुषस्य  
शोकं पूर्वं सुसृजदित्याह— “पुरुषस्येति † । तत्र मन्त्रविशेषं  
प्रदर्शयन् , पदशो विभज्य व्याचष्टे— “इमं मा हिंसीरिति ‡ ।  
‘द्विपादिति । “सङ्ख्यासुपूर्वस्येति § पादशब्दान्तरस्य लोपः ।  
‘हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः’ इति , सहस्रशब्दो बहुत्व-  
स्योपलक्षणार्थः ; हिरण्यशकलाना मत्र सहस्रसङ्ख्याना मभा-  
वात् । अथवा उत्तरत्र सहस्रसङ्ख्याकैर्हिरण्यशकलैः प्रोक्ष-  
माणत्वात् , तदभिप्रायेण सहस्रसङ्ख्या । हिरण्यशकलानां प्रका-  
शकत्वेनाक्षिप्तोपचारः— “आत्मा वै तनूरिति । तेनाधिष्ठित-  
त्वादित्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥

\* पा० छ० २. १. १२ ।

† का० श्री० छ० १७. ५. १६ ।

‡ वा० सं० १३. ४७ ।

§ पा० छ० ५. ४. १४० ।

मन्त्रस्थाय मर्थः— हे 'अग्ने !' 'हिरण्यशकलैः' 'सह-  
स्राक्षः' 'मिधाय' 'वीयमानः' त्वं पशूनां मध्ये 'दिपादम्' 'इमं'  
पुरुषं 'मा हिंसीः' । यदि तव भक्ष्यापिद्यास्ति, तर्हि 'आरण्यम्'  
'किम्पुरुषम्' उत्सृजामि, 'तेन' किम्पुरुषेण 'आत्मानं' 'पोषयत्'  
'संस्क्रुष्व' । 'ते' सम्बन्धिनी, 'शुक्' 'मयु' प्राप्नोतु ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन्, पूर्ववद् व्याचष्टे—  
“अथेति \* । “कनिक्रदो वा एष इति । 'एषः' अश्वः 'कनिक्रदः'  
अर्थात् क्रन्दिता 'वाजिनेषु' वेगवत्सु 'वाजी' अर्थात् वेगयुक्तः,  
अतो युक्तं कनिक्रद मितौत्यर्थः ॥

‘गौरः’ सिंहः । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ३३ ॥

अथ गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— “अथ गो-  
रिति † । “साहस्रो वा इति । गौरिति यत् 'एषः' 'साहस्रः'  
सहस्राक्षः, सजातीयधेनुद्वारा शतसङ्ख्याकक्षीरधारासम्पन्नः ।  
अत एव 'उत्सः' । कुतः ? तस्यानेकजलधारावाहित्वादस्य चानेक-  
क्षीरधारावाहित्वात् उत्स इवोपचारः । “घृतं वा एषेति ।  
'अदितिः' अखण्डनीया, अदीना वा 'एषा' गौः, 'जनाय' 'घृतं'  
दुहे' क्षीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात् । अत्रापि सजातीय-  
धेनुद्वारा घृतदोहनम् । तदपेक्षं वाच स्त्रीलिङ्गम् । 'दुह इति'  
“लोपस्तु आत्मनेपदेष्विति § तकारलोपः । स्पष्टं मन्यत् ॥ ३४ ॥

\* , † का० श्री० ख० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ४८ ।

§ पा० ख० ७. १. ४१ ।

॥ वा० सं० १३. ४६ ।



“अथावेरिति । शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे — “उभयेषां द्वेव इति \* । ‘द्वेवः’ अविरूपः पशुः ‘उभयेषां पशूनां’ ‘द्विपदं’ मनुष्याणाम्, ‘चतुष्पदाम्’ अश्वादीनाञ्च त्वग्रूपम् भवति ; स्वकीयत्वचा तेषां माच्छादनात् । मनुष्यास्तावच्छीतनिवारणयाविजेन कम्बलेन शरीरं माच्छादयन्ति । चतुष्पादोऽश्वा बलीवर्दाश्च स्वभारवहने मार्दवाय घृष्टे कम्बलेनाच्छादिता भवन्ति । “एतदेति । ‘त्वष्टा’ प्रजानां निर्माणा-  
देव प्रजानां मध्ये ‘एतद्रूपम्’ अविरूपम् पशुं ‘प्रथमं’ ‘विचकार’ उत्पादितवान् । अत उक्तं “त्वष्टुरिति । विशदार्थं मन्यत् † ॥ ३५ ॥

अथाजस्य मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे — “अथेति । “यद्वं प्रजापतेः शोक्नादजायतेति । ‘यत्’ तेनाग्नेरेव शोकादजायत ; तस्य तदात्मकत्वात् ; अत एव प्रागुक्तम् — “अग्निर्वा एषोऽग्नेरध्यजायतेति । “प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात् ‘प्रजापतिर्जनिता’ खलु । स जातो अजः प्राक् प्रजापति मपश्यत्, अत उक्तं “सोऽपश्यदिति ‡ । “प्रकृत्वान्तःपाद मव्यपरे”-इति § प्रकृतिभावात्, “द्वेवः पदान्तादतीति ॥ पूर्वरूपत्वं न भवति । “तेन देवा इति । अजस्य वागात्मक-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ५० ।

‡ मूले तु ‘सोऽपश्यत्’ इत्येव महृदसर्वपुस्तकेषु ।

§ पा० सू० ६. १. ११५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।

त्यम् ; तज्जन्यत्वात् । तत् पुनः प्राशुक्तम्— “वाचोऽज मिति ।  
 ‘देवाः’ खलु ‘अग्ने’ वाच मिमा माश्रित्य देवत्व प्राप्नुवन् ।  
 ‘वाचः’ इति खल्वोपे पञ्चमी \* । स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा  
 यज्ञनिष्पत्तेः , यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाच माश्रित्य  
 देवत्वं प्राप्नुवन्नित्यर्थः † । . . .

“उपमेध्यास इतीति । मेधाह्वाः यज्ञार्हाः इत्यर्थः ।  
 “अजस्रेरसुगिति ‡ असुगागमः । शरभो नाम सिंहघातकः  
 दक्षिमृगविशेषः § । स्पष्ट मन्यत् ॥ ३६ ॥

अथानुद्देशानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिम् ,  
 ब्राह्मणस्य तदभक्ष्यताश्च दर्शयन् , दिग्विशेषे तेषां निधान माह  
 —“तदाहु रिति ॥ । ‘तत्’ तदा , पञ्चालम्भानन्तरम् , ‘प्रजा-  
 पतिः’ , ‘एतेषां’ पुरुषादीनां ‘पशूनां’ ‘यां श्वं’ पशुपापरूपा  
 मपहतवात् , ‘ते’ एव ‘एते’ मयुप्रभृतयः ‘पञ्च पशवो’ भवन्ति ।  
 ‘तत्’ तत्र पशुविषये वेदविदः ‘आहुः’ , अतः ‘ते’ पशवः  
 ‘उक्रान्तमेधाः’ , तस्यैवार्थप्रदर्शनम् ‘अमेध्या इति , एतस्यैव विव-  
 रणम् ‘अयन्निया इत्यपि । अतश्च ‘तेषां’ मध्ये क मपि पशुं  
 ‘ब्राह्मणो नाश्नीयात्’ । तथाविधाननाद्यान् पशून् ‘एतस्यां  
 दिशि’ , एतस्या मिति अभिनयेनोत्तरदिशो निर्देशः । तत्र

\* पा० १. ४. ३१ सू० १, २ वा० ।

† वा० सं० ३. ५१. ।

‡ पा० सू० ७. १. ५० ।

§ “शरभोऽष्टापदमृगविशेषः सिंहघातकः”—इति वा० म० भा० मञ्जीवरः ।

॥ का० श्रौ० १७. ५. २० ।

निदधाति । 'तस्मात्' 'एतस्याम्' उत्तरस्यां 'दिशि' 'पर्जन्यः' 'न वर्षुकः' न वर्षति , 'यत्र' 'एते' पशवोऽवतिष्ठन्त इति कृत्वेत्यर्थः । उत्तरस्यां दिशि कचिन्, मरुभूमौ पर्जन्यो न वर्षतीति प्रकृता सृगा अपि तत्रैव प्रचुरा इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

उपस्थानानन्तरम्, पुनरग्निसमीपं मागत्योपतिष्ठत इत्याह — “प्रत्येत्येति \* । तत्र कारणम् प्रतिजानीते— “एतद्वा इति । “एतदयश्चेति । 'अग्नी' 'सामिचिते' अर्धचिते, 'बहिर्वेद्येति 'यत्', 'तत् कर्म' यथायथम्, यथास्वम् ; 'अयस्यायथम्' यथायथं न भवतीत्यर्थः, तथा ज्ञतवान् भवति । अत उपस्थानेनाहिसार्थं 'तस्मै' 'अग्नये' 'एतत्' निष्कवनं करोति । निष्कवनं मपनयः †, बहिर्वेदिगमननिबन्धनं 'मपराधं' परिमार्ष्टीत्यर्थः ॥

उपस्थानमन्त्र आग्नेयो गायत्रोऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह — “आग्नेयेत्यादिना । अग्नेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे प्रदर्शितम् ‡ । “अनिरुक्तयेति । अविस्पष्टदेवतया । यत्र देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति, तदनिरुक्तम् । 'यविष्ठ'-शब्दस्य गुणवचनः, न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्याग्नेयत्वम् । अनिरुक्तो मन्त्र आग्नेयः प्राजापत्यो वा भवतीति अनिरुक्तस्य सर्वत्वम्, साधारण्यात् ; तत् पुनर्देवताविशेषाप्रतिपादकत्वात् ।

\* का० श्रौ० सू० १७ ६. १ ।

† अत्र नानापुस्तकेषु नानाविधाशुद्धपाठा दृश्यन्ते ।

‡ “तस्मादग्निर्गायत्र इति”—इति ६ का० १. १. १५ ।

“एतच्चेति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘यविष्ठ इति यत् एतत्’ पदम् ,  
 तत् ‘प्रियं’ ‘धाम’ नामधेयम् । अद्याग्नी यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं  
 दर्शयति— “यद्वा इति । यतोऽय मग्निर्विराड् रूपत्वात् ‘इदं सर्वं’  
 कृत्वा मपि जगत् ‘अयुवत’ मिश्रितवान्, व्याप्तवानित्यर्थः ।  
 ‘तस्माद्’ असौ अग्निः ‘यविष्ठः’ । ‘अयुवतेति “यु मिश्रणामिश्र-  
 णयोः”—इत्येतस्य \* लङि व्यत्ययेन शत्विकरणे रूपम् । ‘यविष्ठ  
 इति, “यु मिश्रणे” †, तस्य पचाद्यचि ‡, युवशब्दादिष्ठन्प्रत्यये §  
 रूपम् । इष्ठन्प्रत्ययस्य तद्धितत्वात्, तद्धितानाञ्च प्रातिपदिका-  
 दित्यधिकारात्, प्रातिपदिकात् स्वाद्युत्पत्तेः । इदं सर्वं मयुवत,  
 तस्माद् यविष्ठ इत्यर्थः । प्रदर्शनमात्रे तात्पर्यम्, यु-धातोरिष्ठनि  
 ‘यविष्ठ’-शब्द इति ॥ प्रतिपाद्यते ॥ ३८ ॥

मुन्नं व्याचष्टे—“त्वं यविष्ठेति ॥ । हविरादेर्दाढत्वाद्यजमानो  
 ‘दाखान्’ । “दाखान् साह्वानित्यादिना \*\* ‘दाशु दाने’-इत्य-  
 खाद् †† दाखान् शब्दो निपातितः । ‘वृणः पाहीति “वृन्  
 पे”-इति ‡‡ नकारस्य कः, “अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा”-

\*, † अदा० प० २३ धा० ।

† पा० सू० ३. १. ११४ ।

§ पा० सू० ४. ६. १५६ ।

॥ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

† वा० सं १३. ५२ ।

\*\* पा० सू० ६. १. १२ ।

†† भ्वा० उ० १८२ धा० ।

‡‡ पा० सू० ८. ३. १० ।

इत्यनुनासिकादेशः \* । ‘शृणुधीति , “शुशृणुपुनर्वच्यम्बुदसि”  
-इति † हेर्द्विरादेशः । “रक्षा तोक मिति । ‘रक्षेति “इयचो-  
ऽतस्तिष्ठः”-इति ‡ दीर्घः । ‘त्मनेति “मन्त्रेष्वध्यादेरात्मनः”-  
इत्यादिलोपः § । हे ‘यविष्ठ !’ अग्ने ! त्वं ‘दाशुषे’ यजमानस्य ।  
षष्ठ्यर्थं चतुर्थी ॥ । ‘नृक्’ मनुष्यान् ‘पाहि’ , ‘नः’ अस्माकं ‘गिरः’  
सुतिरूपा वाचः ‘शृणु’ । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं  
त्वया कार्यम् , अपि तु आत्मना सहितं ‘तोकं’ प्रजासन्ततिं  
‘रक्ष’ ‘इति’ मन्त्रार्थः ॥ ३८ ॥

उपस्थानानन्तर मग्निं पश्चाद्भागेनारुह्य , स्वयमाढ्यां  
प्रदक्षिणोक्त्य , गत्वा , अपस्याख्या इष्टका उपदध्यादित्याह  
— “आरुह्याग्नि मिति ¶ । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुं  
तावदेतासा मवात्मकत्वं माह — “आप एता इति ।  
तप्रयोजनं माह — “अथ वा इति । ‘अथ’ खलु आलम्भ-  
समये ‘एतेभ्यः’ पुरुषादिभ्यः ‘पशुभ्यः’ ‘आप उत्क्रान्ता  
भवन्ति’ , अतश्चापस्थाना उपधाने तासां मवात्मकत्वात् एतेषु  
‘पशुष्वेव’ ‘अपः’ निहितवान् भवति । तासां पशुशिरःसु अव्यवधा-  
नेनोपधानं माह — “अनन्तर्हिता इति । एकैकस्मिन् प्रदेशे

\* पा० सू० ८. ३. २ ।

† पा० सू० ६. ४. १०२ ।

‡ पा० सू० ६. ३. १३५ ।

§ पा० सू० ६. ४. १३१ ।

॥ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. ६. २ ।

'पञ्च-पञ्चोपदध्यादित्याह — “पञ्च-पञ्चेति । पञ्च-पञ्च सर्वाश्च  
दिक्षूपधेया इत्याह — “सर्वत इति ॥ ४० ॥

प्रतिदिशं पञ्चानां सुपधानि विंशतिः सम्पद्यन्ते, तत्र  
याः पञ्चदश पूर्वा इष्टकाः, ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह  
— “तथा इति । पञ्चदशसङ्ख्यानां मैवापस्यात्व सुपपाद-  
यति — “वज्रो वा इत्यादिना । अपां वज्रत्वं नैशित्याद्यर्थं  
तस्मैचनात् \* । तदेव श्रूयते — “तस्मादिन्द्रोऽविमेक्ष प्रजापति  
'सुपाधावच्छत्रुर्मेऽजनीति, तस्मै वज्रं सिक्ता प्रायच्छदेतेन  
जुहीति † । पञ्चदशस्य वज्रात्मकत्वं वीर्यवच्चात् । तत् पुनः  
प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते — “उरसो  
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमौतेत्यारभ्य, ‘तस्मात्ते वीर्यवन्तो  
(भवन्ति ‡ ) वीर्याङ्गसृज्यन्तेति § । यत एवम्, तस्माद्येन मार्गेण  
आपो यन्ति, तत्र पाप्मानं घ्नन्त्येव ; अपां वज्रत्वात् ।  
वज्र एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानं मपहन्ति । ‘तस्मात्’  
पापहननादेव ‘वर्षति’ पज्जन्यः । ‘वज्रः पाप्मानम्’ ‘अपहनत्’  
मपहन्तु इति ‘अपावृतः’ एव ‘व्रजेत्’ ॥ ४१ ॥

अपस्याभ्यः पञ्चदशभ्य उत्तराः पञ्चेष्टका विद्यन्ते, ताः कन्दस्या  
इत्याह — “अयेति । कन्दस्यानां सुपधानेन पशून्तान्तामांस-  
प्रतिनिधानं भवतीत्याह — “पशवो वा इत्यादिना । पशूनां

\* अत्र हि सर्वेष्वेव मट्टदृष्टेषु पुस्तकेषु अशुद्धः पाठः ।

† ते० सं० २. ५. २. ३ ।

‡ तत्र संहितायां मेतत् पदं नाधीयत इति ध्येयम् ।

§ ते० सं० ७. १. १. ७ ।

‘हृन्दस्व’ यज्ञसाधनत्वात् ; अथवा जगत्त्वानीतत्वात् । एतत्सैत्ति-  
 रोयके श्रूयते— “जगती मुदपतश्चतुर्दशाक्षरा संती , साप्राप्य  
 न्यवर्त्तत , तस्यै द्वे अक्षरे ऽमीशेताः , सा पशुभिश्च दीक्षया चा-  
 नच्छदिति \* । “एवमु पशोर्मांस मित्यनेनाहं पशव इत्ये-  
 तदुपपादितम् । एवञ्च सति हृन्दस्यानां पञ्चालकत्वेन मांस-  
 रूपत्वात् आलम्भावसरे उक्कान्तानि मांसानि पुनरेतेषु  
 प्रतिनिहितवान् भवति । तासां मय्यपस्यावदव्यधानेनोपधान  
 माह— “अनन्तर्हित मिति । अपा मुदरमध्यवर्त्तित्वेन अन्तर-  
 त्वात् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैवापस्या अन्तराः , हृन्दस्या  
 बाह्या भवेयुरित्याह— “अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण  
 पशुश्चापो मांसानि च सम्पादितानि ॥ ४२ ॥

नैतावता तेषां कारणं सम्पद्यते ; किन्मुनस्ततोऽपि ब्राह्मणो-  
 स्वग्लोम्नोरपि कारणत्वेनाहत्वात् । हृन्दस्यानां चान्नात्मकत्व-  
 स्सोक्तत्वात् उपधानेनैव तयोरप्युपधानं सम्पादित मिति ,  
 तदाह— “तदाहुर्दित्यादि । ततोत्तरं दर्शितम्— “अन्नं वाव  
 पशोरिति । प्रकारान्तरेण पशूनां लोमसम्पत्ति माह— “अथो  
 इति । कृष्णाजिनलोमानुवक्षया मृदा उखाया निर्माणात् ,  
 उखायाञ्चाजालोमानि † सन्तीति , तान्येव पशूनां लोमानि  
 भवन्ति । लोमाधारत्वेनोखाया अभिधानात् उखालोमानीत्यभि-  
 प्रेत्य “बाह्योखा भवतीत्यादिनोक्तस्त्वैवार्थस्योपपादनम् ॥

\* ते० ख० ६. १. ६. ४ ।

† ‘उखायां यावि लोमानि’—इति ख-पाठः

‘त्वन्मोमसम्पादने’ उक्तं पञ्चदश मपि अभिमत मित्याह—“य-  
 दीति । ‘यदि’ ‘इतरेण’ अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि  
 तथैवासु । अथ वा ‘इतरेण’ प्रकारान्तरेण यदि भवति, तर्हि तथै-  
 वास्त्विति, अन्योन्यापेक्षया उभयोरप्यपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानेना-  
 कादिसम्पादनं केन विवक्षितं मिति , तत्राह— “इति ह आह  
 शाण्डिल्य इति । केनापि तेनाभिप्रायेणैव सुक्त मित्यत आह—  
 ‘सर्वान्वेति । ‘सर्वान्वे पशून्’ ‘कृत्स्नान्’ कात्स्न्येन ‘संस्तुर्मः’  
 ‘सर्वावयवसम्पादनेन समृद्धान्’ ‘कुम्भः’ ‘इति’ अभिप्रायेण , तथोक्त  
 मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यपस्याना सुपधानं प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
 त्रिस्रस्तावयवात् ‘प्रजापतेः’ ‘आपः’ ‘आयन्’ निर्गताः । ततः  
 ‘तासु’ निर्गतासु ‘अविशत्’ अपविष्टवान् \* । अपां निर्गमनेन  
 दीर्घत्वाद् गन्तु मक्षमः †, तथैवापविष्टवानित्यर्थः । ततश्चाप-  
 वैश्वनसाधनत्वात् अपस्या ‘विंशतिः’ सम्पन्नाः ‡ । यद्यपि  
 “तथाः पञ्चदश पूर्वास्ता अपस्याः”—इत्युक्तम् §, तथापि छन्द-  
 स्यासाहित्येनात्र विंशतिरित्युक्तम् । सर्वासां वापस्याशब्दे-  
 नाभिधानं भूयोलिङ्गात् “छष्टीरुपदधातीतिवत् § । अथ वा  
 “तद्यी अस्थेतेभ्यश्छन्दोभ्य आप आयन्निति ॥ वक्ष्यमाणत्वात् , सर्वा

\* ‘अपविष्टवान्’—इति छ-पाठः ।

† ‘मक्षमो भूत्वा’—इति ज-पाठः ।

‡ इहैव पुरस्तात् ४१-कण्डिकारम्भे ( ३८२ पृ० ) दृश्यम् ।

§ “छष्टीरुपदधाति यथाष्ट मेव अवसन्वे”—इति तै० सं० ५. ३. ४. १६ ।

॥ इहैवोपरिष्ठात् ६१-कण्ड्यां ( ३६७ पृ० ) दृश्यम् ।



अप्यपस्या भवन्तीति । आपो निर्गमनावसरे 'अस्य अङ्गुलिभ्योऽध्यस्त्रवन्' । निर्गच्छन्तीना मपा मस्य प्रजापतेः अन्ततो निर्गमनाद् , अङ्गुलीनां चान्तत्वादिति ॥ ४४ ॥

एवं सति "स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसतेति । 'सोऽय मेव', 'सः' इदानीम् 'अग्निधीयते' । 'अथ' प्रजापतेः सकाशाद् 'याः' आपः निर्गताः , 'ता अपस्याः' । ततश्चैतासा मत्रोपधाने ततो निर्गता अप एव 'प्रतिदधाति' ॥ ४५ ॥

अथ क्रमेण तासा सुपधाने मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—  
"अपां त्वेमन्नित्यादिना \* । यदा हि एष वायुरित्येतस्य वाति . तदा 'आपः' 'यन्ति' चलन्ति ; अतश्च वायुरनेन यन्त्याप इति व्युत्पत्त्या 'एम' † । "इण् गतौ"—इत्यस्मात् ‡ "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"—इति § मनिन् प्रत्ययः । स च व्यत्ययेन करणे द्रष्टव्यः । "एमन्नादिषु छन्दसि पररूपम् वक्तव्यम्"—इति ॥ पररूप-  
त्वम् ॥ ४६ ॥

"अपां त्वोद्गन्नेति ¶ । "यत्र हीति । आपो यत्र प्रदेशे उद-  
त्यस्तिष्ठन्ति , तत्र ओषधयो जायन्त इति , अधिकरणव्युत्पत्त्या  
'अपा मोद्गन्नेषधयः' । "उन्दो लोदने"—इत्यस्मात् \*\* पूर्ववत्

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. २ ।

† वा० सं० १३. ५३. १ ।

‡ अदा० प० ३५ घा० ।

§ पा० सू० ३. २. ७५ ।

॥ पा० ६. १. ७० सू० वा० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. २ ।

\*\* सू० प० १० घा० ।









